प्रकाशकीय

श्रीसूत्रागमप्रकाशकसमितिकी ओर से अब तक अपने ३२ सूत्र (मूलपाठ)सुत्तागमे के रूपमें छपकर प्रकाशित होनेके पश्चात् इनका प्रचार ६० से अधिक आन्तरराष्ट्रों में भले प्रकारसे हुआ है। वहांके क्षीर नीर विवेकी कोविदों और प्राध्यापकोंने स्वाध्याय, चिन्तन, मनन करके बडा सन्तोष प्रगट किया है और बड़े उच्चस्तरीय प्रमाणपत्र भेजकर समाजका गौरव वढ़ाया हैं।

हर्षका विषय है कि सुत्तागमेके पश्चात् अव अर्थागमका आरंभ किया जा रहा है। आचारांगके प्रकाशित करते समय वहुतसे स्वाध्यायप्रेमिओं-की इच्छानुसार श्रीसन्तवालका अनुवाद पसंद किया गया और इसविषयमें उनकी तथा महावीर प्रकाशन साहित्यमंदिर(अहमदावाद)के कार्यकर्ताओं-की सम्मतिसे हमारी समिति द्वारा प्रकाशित होकर आपके करकमलोंतक पहुँचा रहे हैं। आशा है जिज्ञासु पाठकोंको यह प्रकाशन आत्माकी खुराकका काम देगा, क्योंकि आत्माकी खुराक सुश्रुत-सम्यक्ज्ञान ही तो है। इसलिये आपको पसंद आना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त श्रीसन्तवालकी मंजी हुई लेखनीने इसमें आगम और निगम की वड़ी वड़ी पतेकी वातें प्रस्तुत करके इसे चार चांद लगा दिए हैं। वहुत से आचारांग प्रकाशित हुए हैं,परन्तु यह अपनी नाम नामी एक ही वस्तु है।

आचारांगसूत्रका यह पहला श्रुतस्कन्ध श्रुत या अध्यात्मज्ञानका महा-भंडार कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। और योग्य अनुवादकने स्वसमयके साथ परसमयको मानो सोनेके साथ चिरमठी(गुंजा)को तोल-कर स्वसमय को स्वाभाविकता-व्यापकता-सत्यता-उपादेयता और 'षड्-दर्शनजिन अंग भणीजे', की मौलिकता सिद्ध कर दिखाई है। इसके अतिरिक्त इसे लोकभाषाके सांचेमें ढाल कर आध्यात्मिक प्रेमी और

हिंदी पाठकोंकेलिए वड़ा सुगम सुनहरी द्वार खोल दिया है। आशा है पाठक वर्ग इसकी क़दर करेंगे और श्रीमहावीर भगवान्‌के प्रतिपादित मौलिक एवं अकाट्य सिद्धान्तोंको आन्तरमें उतार कर कृतकृत्य होनेका महालाभ लेने का प्रयत्न करेगा।

इसके पढ़ने और चिन्तनके अनन्तर आप इस परिणाम पर पहुंचोगे कि हमारा गार्हस्थ्य जीवन कैसा है या कैसा होना चाहिए और सम्पूर्ण त्यागीवर्गको उनके अपने जीवनका मार्गदर्शन कराते हुए उन्हें यह लगेगा कि सम्पूर्ण त्यागी जीवन कैसा होता है या हमारा संपूर्ण निवृत्तिपरायणताप्राप्त महाव्रती समाज श्रीज्ञातपुत्रमहावीरभगवानके आदेशोंका कितना पालन कर रहा है। हाथ कंगनको आरसी क्या ? आप इसका सही उत्तर इस ग्रन्थरत्नके अगले पृष्ठपटोंमें पा सकोगे,और फिर पा सकोगे। असलमें यह आचार शास्त्र अपनी और परकी खूब अच्छे ढंगसे परख करा देगा। मात्र इसके सतत स्वाध्यायसे आपका तीसरा नेत्र अवश्य उघड़ेगा और आपका आत्मा अपने आत्मीय ज्ञानसे अच्छी तरह समृद्ध होकर चमक उठेगा। तथा फिर परवादी समूह और कुदेव,कुगुरु और कुधर्म रूपी तमस्तोम इस परमज्ञानरूपी सूर्यके सामने पलायन होता नजर आयगा। इसीलिए आपको अपने 'घर पुस्तकालयमें' इसे स्थान देना चाहिए और नित्यस्वाध्याय करना न चूकियेगा। क्योंकि चरित्र संगठन और मनोवलका विकास आचारशास्त्रके स्वाध्यायसे ही होना संभव है।

कुछ अव्यवस्था-बाजारोंमें आजकल कागजकी अत्यन्त महंगाईके कारण यथा समय एक प्रकारका कागज न मिलने से आपको इसमें त्रिगुणीमायाका घाट सा मालूम देगा। इसका हमारे आन्तरमें वड़ा क्षोभ और पश्चात्ताप है।

इसके अतिरिक्त कॅम्पोजीटर उच्चकोटीके लघुलाघवी कलापूर्ण छापकाम कलाकोविदके न मिलनेसे उनके दृष्टिदोप भी हमें खटक रहे हैं, सतर्कता रखते हुए भी कुछ छद्मावस्थासे अप्रासंगिकता का आना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसलिये 'जव तीर छुटगया हाथसे थामे तो

फिर धँसे थमे' की कहावतके अनुसार राजहंसके साथी विवेकी पाठकोंकी सूचना आने पर आनेवाले संस्करणमें उन्हें ठीक करनेका प्रयत्न किया जासकेगा।

एक प्रेसके कार्यमें स्खलना, विलंब तथा शैथिल्य देखकर दूसरे प्रेसमें काम देनेकी आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक है। वरन् यह भागीरथी काम द्रुतगतिसे पूरा नहीं हो सकता था। इसलिए इस ग्रन्थरत्नको दो अंशोंमें विभक्त करना पड़ा।

आगम एक महान और असीम समुद्र है। इसमें तत्वरत्न वड़े दुर्लभ्य और अमूल्य हैं। इसका स्वाध्याय साधक को अन्तसे अनन्तमें ले जानेका काम कर सकता है। इसमें यही विलक्षण आकर्षण है। साधक वर्ग यदि अनुभव, श्रद्धा, भक्ति और सोपयोगिता गुणग्राहकता द्वारा योग्य अभ्यास एवं चिंतनके गोते लगाकर अनन्त आत्मगुणमय रत्नोंकी राशीके पानेका प्रयत्न करेगा तो हम अपनी ज्ञानसेवाका श्रम सफल समझेंगे।

निवेदक—

मंत्री, रामलाल जैन

प्रमुख-दुर्गाप्रसाद जैन B.A.B.T.

स......हा......य......क

इस पुस्तकमें जिन जिन पुस्तकोंका अवलोकन, और प्रमाणादि प्रस्तुत किए हैं उनका उल्लेख इसप्रकार है।

आचारांगसूत्र (मूल) सुधर्मास्वामी,
निर्युक्ति भद्रबाहुस्वामी
वृत्ति शीलांकसूरि,
दीपिका अजितदेव,
उत्तराध्ययनसूत्र,
दशवैकालिकसूत्र,
उपासकदशांगादिसूत्र,
अर्धमागधीकोष,
षड्दर्शनसमुच्चय,
ठाणांगसूत्र,
ज्ञातांगसूत्र
नंदीसूत्र
प्रश्नव्याकरण
समयसार
हिंदीसंस्कृति आणि अहिंसा
श्रीमद्भगवद्गीता
उर्दू इतिहास,
आचारांगसूत्र हिंदा, अ० ऋ०
आचारांगसूत्र, (कोडायवाला)
तत्वार्थाधिगमसूत्र,
जिनवाणी
पथिकना पुष्पो
गीतामंथन
जीवनशोधन
प्राचीन भारतवर्ष
अरविंदयोग
जोडणी कोष
धर्ममंथन
धर्मप्राण लोकाशाहनी लेखमाला
Acharang Sutra डा. जेकोबी
History of Indian Literature
History of Sanskrit Literature, Jainism
इत्यादि

इन सब पुस्तकोंके लेखक या अनुवादकोंको एक सहयोगीकेरूपका साथ समझकर उसे नहीं भूल सकता। तदुपरांत प्रत्यक्ष या परोक्षतया जिस जिसने प्रोत्साहन दिया है, उन सबका उल्लेख करना कैसे विस्मृत करूं।

मेरी इस प्रवृत्तिमें यदि आभार व्यक्त करनेका मुझे अवसर मिले तो मैं इस समाजका और अपने पूज्य गुरुदेवका अत्यन्त आभार मानूं कि जिन्होंने मुझे विकसित करके ऊंचा उठनेका मौका दिया। जिसप्रकार दूसरे साधकोंके संबंधमें बनता है ऐसे ही मेरी स्वतन्त्र विचार सरणीको इन्होंने यदि पहलेसे ही दबा दिया होता, तो मैं मात्र अभ्यास द्वारा अपने साधनाक्षेत्रमें इतना उत्कर्ष नहीं साध सकता था।

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ णायपुत्तमहावीरस्स

नमस्कार हो श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र महावीर को

आ······चा······रां······ग······में

आत्मा·········की·········उद्बोधक

क्रांतिमय कविता और तेजश्छाया

अमूल्य लाभ

"चिरस्मरणीय रहेगी धर्मप्राण लोकाशाहकी वह लेखमाला" कि जिसने मुझे वर्तमानमें जैनसमाजके निदानकी अमूल्य भेंट दी। ये वाक्य मेरे अन्तःकरणने आजसे पहले भी अनेक वार कहे हैं। श्री आचारांगका यह अनुवाद इसीका फ़ल है। यदि मौलिक जैनसंस्कृति और जैनसमाजके वर्तमानमानसका इतना गहरा और व्यापक अनुभव न हुआ होता तो केवल अभ्याससे मैं उसमें अपना इतना हृदय कैसे उंडेल सकता था? इसके विषयमें मुझे शंका है। अर्थात् श्री आचारांगके इस अनुवादका यश इसीके विभागमें जाता है यह मुझे अवश्य कहना चाहिए।

अनुवादका आरम्भ

श्री आचारांगके अनुवादका आरंभ वम्बईमें प्रवेश किया था तबसे ही हो गया था। परंतु उस समय दो अध्ययन पूरे हुए होंगे कि कारणवश यह कार्य अधूरा रह गया। इसके अपूर्ण रहनेमें कुछ दूसरे गौण कारण भी थे, परंतु उसमें भी मुख्य निमित्त था "धर्मप्राण लोकाशाहकी लेखमाला।" इस लेखमालाने साधुसमाज पर तो तीरकी तरह सीधा प्रभाव डाला ही, परंतु उसके बाद टेढ़ेमेढ़े रूपसे इसका असर सारे समाज पर बाज़की तरह उतरा, और भूकंपके समयकी भांति एक भारी तहलका मच गया।

समाजमें ऊहापोह जागृत होनेसे उसने पक्वफल जैसा अच्छा और बहुतसा समय रोकलिया और श्रीआचारांगका भी मुद्रणकार्य स्थगित हो गया। इतनेमें वर्षावासका निवृत्तकाल समाप्त होगया।

समृद्धिकी उत्पत्ति

इसके अनन्तर मुलुंदके ऊंचे विशालकाय और एकान्त पहाड़ोंपर खिलखिलाकर हँसती हुई वनश्रीके बीच अवकाश मिलने पर उसका फिरसे आरंभ हुआ और लगभग पूर्वार्ध वहां ही पूरा किया। इसके बाद शारीरिक कारणसे घाटकोपरमें आपरेशन हुआ, और इसने डेढ़ मास ले लिया। पुनः मुलुंदके नागरिकोंकी ओर खिंचा एवं उत्तरार्ध लिखा गया और पूर्वार्धका फिरसे अवलोकन करनेका अवसर मिला, उस समय बाहरसे आए हुए एक साधक भी मेरे पास थे, वे पढ़ते जाते थे और मैं उसे सुनता था। इस साधकको पुनरावर्तनके वाचनमें खूब रस पड़ा। क्योंकि साधक जीवनका आचारांगके साथ पुष्परविके समान अत्यन्त मौलिक दैवदुर्लभ सुमेल है। उसने यह अपने अनुभूत जीवनसे जाननेके बाद (आर्ग्युमेंट) सुझाव रक्खा कि "श्रीआचारांगकी टिप्पणीके पीछे जो दृष्टि है उसे कुछ और विस्तारका रूप दिया जाय तो मेरे जैसे अनेक साधकोंको आश्वासनदायक एवं उपकारी सिद्ध होगा।" यह सुनकर मुझे उनका सुझाव रुचा।

आचारांग का तेज

श्री आचारांग प्रत्येक साधक-फिर चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यस्त भिक्षु हो, धनिक हो या धनहीन, साधनसंपन्न हो या साधनविहीन, इसे यह नवीन दृष्टि और समीचीन प्रेरणा निस्संदेह प्रदान कर सकता है। जीवनका कोई भी पल ऐसा नहीं रहता जिसे श्रीआचारांग में एक या दूसरी तरह निर्देश न करता हो। इसीसे मुझे जितना आदर श्रीगीतासे है उतना ही आदर श्रीआचारांग से है। यदि मैं श्रीगीताजीको जैनधर्मका ग्रन्थ और श्रीआचारांग को वैदिकग्रन्थ कहूं तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि श्रीआचारांगके संकलनमें ब्राह्मसंस्कृति और श्रीगीताजीमें क्षात्रसंस्कृति है। जैनत्वका मूलपाया क्षात्रसंस्कृति ही है। श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु स्वयं

क्षत्रिय थे। फिर इतना ही कि गीताकी सामग्री बाह्ययुद्धके मंडानपर रचा गई है। महाभारतका युद्ध गीताका रूपक है, और स्व तथा परभावका युद्ध है श्रीआचारांगका प्रतीक। इसका स्पष्टीकरण मैंने प्रमाण देकर परिशिष्ट-भागमें किया है।

रसका स्रोत

श्री आचारांगमें ऐसे बहुतसे सूत्र हैं, जिसमें का एक ही सूत्र एक स्वतन्त्र ग्रन्थ रोक सकता है, और इसी दृष्टिकोणसे इसका टिप्पणिविस्तार मैं फैलाना नहीं चाहता। मात्र श्री आचारांग जैनसंस्कृति-रसका स्रोत को जिसरीतिसे प्रस्तुत करता है वह रीति ही गंभीरतासे युक्त होते हुए संक्षिप्त चर्चा थी। इसीको फिरसे विस्तृत रूप देना मुलुंदसे फिर आरंभ किया. और वरसोवामें समुद्रतटवर्ती बिलकुल नजदीक रहे हुए मसाणीके बंगलेमें मिली हुई एकांत नीरवतामें यह भगीरथकार्य समाप्त किया। इन मुलुंदके गिरिशृंगकी तरुराजि और वरसोवाकी उछलकूद करने वाली लहरिममालाओंके बीच बहने वाले मधुर वायुके सौंदर्य, सौरभ गांभीर्य और उल्लासप्रेरक संस्मरण श्री आचारांगको पढ़ते हुए आज भी दिव्य आनन्दकी किरणें फेंक जाते हैं तब मैं अपने इस मनःप्रसादका विभाग श्री आचारांगके पाठकोंको भी क्यों न दूं ?

तत्वज्ञान नीरस किसलिए ?

मुझे ऐसा लगता है कि आध्यात्मिक विषय शुष्क नहीं है, साथ ही मैंने यह भी नहीं देखा कि जीवन व्यवहार और आध्यात्मिक भावना दोनों अलग अलग हो सकती हैं। श्री आचारांग इस बातका साक्षीरूप है। श्री आचारांगका वाचन और उसमें आलेखित जैनसंस्कृतिका चित्र जिस पदार्थपाठको देता है वह और आजके जैनसमाजका मानस जो पदार्थपाठ अर्पण करता है इसमें आकाश पाताल जितना अन्तर है। इस प्रकार गहराईमें जानेवाले विचारकको ऐसा लगेगा परंतु ऐसा क्यों हुआ इसे भी मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं। इसके साथ जैनसमाजके सामाजिक इतिहासका विशेष संबंध है।

पहले मैं एक ओर जैन संस्कृति और दूसरी ओर जैनसमाजके वर्तमानमानसका तुलनात्मक चित्र खींचता हूं।

श्री आचारांगमें जैन संस्कृति

हिंसा और ममत्वका त्याग जैनसंस्कृतिका प्रधान स्वर हैं। विश्व-मैत्री और जीवनशांतिका मूल इन दोनों तत्त्वोंमें समाया हुआ है। परन्तु इसका संबंध पदार्थकी अपेक्षा वृत्तिके साथ विशेष है।

श्री आचारांगमें देखो:—

उड्ढं सोता अहो सोता तिरियं सोता वियाहिया।

एते सोता वियाहिया जेंहि संगति पासह" ६-६-७

पापका प्रवाह ऊपर, नीचे और तिर्छे तीनों दिशामें है। जहां आसक्ति है, वहीं बंधन है पुनः—

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा" ४-२-१

वृत्तिके कारण जो आस्रवके स्थान हैं, वे संवरके स्थान हो सकते हैं; और जो संवरके स्थान हैं, वे आस्रवके स्थान बन सकते हैं।

"गामे वा रण्णे वा, नेव गामे नेव रण्णं।"

गांवमें भी धर्मका पालन किया जा सकता है और जंगलमें भी धर्मपालन कर सकते हैं। परन्तु जिसकी वृत्ति शुद्ध न हो, वह गांव या जंगल कहीं भी धर्मका आराधन नहीं कर सकता।

"जं सम्मं ति पासह तं मोणं ति पासह" ५-३-१३

जहां सम्यक्त्व है, वहीं मुनित्व है।

सारांश यह है कि किसी स्थल या अमुक वेश या अमुक स्थानका त्यागके साथ कोई मुख्य आधार नहीं है यह स्पष्ट समझाया है। मुख्य आधार तो ममत्वबुद्धिके त्याग पर है। वेश और स्थान तो निमित्तकी पूर्तिमात्रकेलिए हैं। शुद्धनिमित्त मात्र उपादानकेलिए सहायकारी सिद्ध हो सकता है। श्री आचारांगमें और भी कहा है कि—

"अग्गं च मूलं च छिंधि" ३-२-६

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदको जानकर कर्मके बंधनको तोड़ो,

अर्थात् कर्मके मूलकारण मोहादि दोष के दूर करनेकी ओर ही लक्ष्य दें।

वर्तमान जैनोंकी अहिंसा और अपरिग्रह अमुक क्षेत्रमें ही समाप्त हो जाते हैं। एक कट्टर जैन कीडीके दब कर मरजानेसे जितना डरता है उतना किसीका बुरा चिंतन करता हुआ नहीं डरता। परोक्षरीतिसे इसके निमित्तसे व्यक्तिको, समाजको, या देशको कितनी भी हानि पहुँचती हो तो उसे शायद भाग्यसे ही विचार आता है। यह हरी सब्जी खाते हुए जितना भय खाता है उतना तिजोरीमें अन्यायसे रुपया भरते समय नहीं डरता। मिल, सट्टा, बदनी, व्याजखोरी, पूंजीका संग्रह, ये सब इसीसे देखे जाते हैं। असत्य, जो कि संसारके महादुःखका मूलकारण है उसे बोलते हुए इसे जरासा भी संकोच और दुःख नहीं होता, जितना दुःख रुपया गिरकर खोए जानेसे होता है।

वर्तमान जैन समाज

एक कीड़ा, मकोड़ा या मक्खी भूलसे इसके हाथसे कुचली जाय या इसे तकलीफ पहुँचे तो वह प्रायश्चित्त लेनेको तैयार हो जाता है; परन्तु अपने यहां खून पसीना बहाकर काम करनेवाले आदमियोंकी रोजी काटनेमें, और भरपेट भोजन न देनेमें, हदसे ज्यादह कामका बोझ अधिक डालकर इसे पीस देनेमें या समय पाकर इनका खून चूसनेमें इसे तनिकसा क्षोभ नहीं होता।

आज जैनश्राविकाको पाखीके दिन हरीसब्जी खानेमें, कूटने पीसने या नहाने, कपड़े धोनेमें जितना भय होता है, उतना निंदा, ईर्ष्या, कलह और ताना मेहणा देनेमें नहीं लगता।

जैनश्रमण हरीसब्जी या कच्चे पानीसे दूर रहनेका जितना खयाल रखता है, उतना चर्बीके कपड़ोंसे दूर रहनेका ध्यान भाग्यसे ही रख सकता है। इसके उपदेशमें जितना हरीसब्जी छोड़ने या दूसरे बाह्यत्याग अथवा तपश्चरणपर भार दिया जाता है उतना आंतरिक जीवनके विकासपर शायद ही दिया जाता हो। परिग्रह त्यागका ये सदा उपदेश देते हैं, यह ठीक भी है, तथापि ये जिस मंदिर या उपाश्रयमें रहते हैं

वहां तो परिग्रहका पदार्थपाठ विशेषरूपसे मिलता है। जैनसमाजकी व्यवस्थामें त्यागपूजा, विकासपूजा और गुणपूजाको ही मुख्यस्थान होनेपर भी आजकी समाजव्यवस्थामें व्यक्तिपूजा, सन्मानपूजा और धनपूजा ही मुख्यतासे देखी जाती है। इतना धन दे, वही समाजका सभ्य बने, इससे अधिक धनदेनेवाला माननीय सभ्य बने, और इससे भी विशेष धन दे वह संघपति तक बन सकता है।

इस तरह देखते हुए परिग्रहवृत्तिको तथा संग्रहवृत्तिको अनायास पोषण मिल रहा है, और जितना परिग्रह बढ़ता है, उतना ही पाप बढ़ता है। क्योंकि धर्म और धनका तो चौथा चंद्रमा या हड़वैर ही रहा है। इसलिए अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति न अपनाए जानेके कारण विश्वमैत्री और जीवनविकास दोनोंकी धुरी टूट पड़ना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार जब श्री आचारांग केवल आंतरिक दोषोंकी निवृत्तिके ऊपर मुख्यतासे या इन आंतरके दोषोंको मिटानेके ध्येयसे ही बाह्य क्रियाओंके ऊपर गौणरूपसे भार देता है, तब

मूलमें ही भूल

वर्तमान जैनसमाज खास तौरसे बाह्यक्रियाओंपर भार डालता दृष्टिगत हो रहा है, और बाह्यक्रियाओंमें भी अपने अनुकूल संयोगों के पथकी ओर का झुकाव विशेषरूपसे है। परिणाममें अहिंसा गोशाला या प्याऊके कोठे तक ही पहुंच सकी है। मानवरक्षा तक की मैत्री केवल कहने सुननेकी वस्तु

संस्कृतिकी विषैली विरासत

रह गई है। सामायिक प्रतिक्रमण या पौषध करनेवाले उदार और कट्टर जैनधर्मिओंकी भी परिग्रहलालसा ज्यों की त्यों बनी हुई रहती है, वह जीवनके किसी वयमें भी तो घटे। इसीप्रकार सामाजिकजीवन और धार्मिकजीवनका अक्षम्य दुर्मेल पड़ा देख रहे हैं।

जैसे कि एक धर्मिष्ठ समझी जानेवाली व्यक्तिको भी जब मर्यादातीत अब्रह्मचर्य, जीभके स्वादकी बेहद लोलुपता, अप्रामाणिकता, अविश्वास, द्रोह, ईर्ष्या और क्लेशकी भट्ठीमें सुलगते हुए सामाजिक जीवनमें आंखों

देखा वेहाल देखा जा रहा है। ऐसी वहुतसी असंगत और जैनधर्म तो क्या किसी भी धर्मके नाम पर न चल सके ऐसी वातें जैनधर्मके खातेमें निभती चल रही हैं इसके कारणरूपमें मैं वर्तमान श्रमणसंस्थाका दोष नहीं देखता,वल्कि समाजको संस्कृतिका दाय(विरासत)में प्रधानरूपसे मिला हुआ उत्तरदायित्व ही है ऐसा मेरा मंतव्य है। तथा वे कितने प्रामाणिक हैं इसका पता लगानेकेलिए कुछ प्रमाणों पर नजर डालें।

सवसे पहले यह मानना पड़ता है कि कोई भी मौलिक संस्कृति दूषित हो नहीं होती। इसके वाह्य आचार, क्रियाकांड अमुक उद्देशकेलिए वनाए हुए होते हैं। परंतु मूलउद्देश भुलाकर ये जव रूढिका स्वरूप पकड़ लेते हैं तव उसमें यही दूषण हो जाता है। ज्यों ज्यों रूढिका प्रचार होता है, त्यों त्यों संस्कृतिमें सडियलपन घुसता जाता है। आधुनिक प्रचलित जैनसंस्कृतिके संवंधमें भी यही हुआ है। × × × ×

रूढिका अर्थ

जैन दर्शन

जवसे जैनधर्मकी व्यवस्थित समाजरचना हुई है,तवसे इसमें(१)स्त्री पुरुष गृहस्थ और त्यागीसाधक इन चारों अङ्गोंका समावेश रहता आया है। समस्त संसार कभी पूर्णत्यागी नहीं वना, एवं सारा संसार कभी पापी भी नहीं वना।

त्याग और व्यवहारका सुमेल

जैनसूत्रोंमें आप देखेंगे तो(२)प्रदेशी जैसे नास्तिक राजा या अर्जुन माली जैसे प्रतिदिन सात निर्दोष मनुष्योंकी अकारण हत्या करनेवाले देखे गए हैं और(३)श्रीकृष्ण जैसे जिनशासनके प्रभावक भी दृष्टिपथमें आते हैं। अनाथी जैसे मुमुक्षु सर्वसंपन्नताको ठोकर मारनेवाले, जंवूस्वामी जैसे ब्रह्मचारी सुन्दरी रमणिओंको और राज्यसत्ताको त्यागदेनेवाले त्यागवीर भी देखे गए हैं। और(४)

अनेकांतता

---

१. साहू, साहुणी, सावय, साविय,त्ति चउविहो संघो पण्णत्तो (ठा०)
२. रायपसेणी। ३. ज्ञातासूत्र। ४. देखो उत्तराध्ययन सूत्र।

ब्रह्मदत्त जैसे विलासी एकांतभोगी और सत्तावाही चक्रवर्ती राजा भी दृष्टि-गत होते हैं गजसुकुमार जैसोंको सुकुमार देह पर प्रचंड त्यागके तापसे तपते हुए ध्यानस्थमुनिके तुरंतके लोच किए हुए मस्तकपर पड़तेहुए खैरकी लकडीके अङ्गारोंकी कठोर कसोटीसे जिन्होंने बड़ी कठिनाईसे केवलज्ञान पाया सुनते हैं। तब भरत जैसे चक्रवर्ती शयनगृहके शीशमहलमें बैठे ही बैठे केवलज्ञान पाकर सर्वज्ञ होनेके दृष्टांत मिलते हैं। पुरुषलिंगसे मुक्ति होती है, इसी प्रकार स्त्रीलिंगसे भी मुक्तिकी साधको पूरा करनेके उदाहरण मिलते हैं। सारांश यह है कि कोई सिद्धांत एकांत नहीं है। अनासक्तिका सिद्धांत भी अमुक अपेक्षासे है। श्रमण भगवान महावीर जैसे त्यागके प्रवल और कट्टर पक्षपातीको भी साधककी कोटिमें गृहस्थोंको स्थान देना ही पड़ा। यह वात श्रीआचारांगमें प्रधानरूपसे है और यही इसकी विशेषता है इसके ऊपर मेरे तीव्र पक्षपातका यह भी एक कारण है।

परंतु जवसे एक सापेक्ष सिद्धांतको ही संपूर्ण और सर्वांग सत्य मान लिया गया है, तवसे जैनसंस्कृतिमें संकुचितवृत्ति घुस वैठी है, आज की

संस्कृतिका विकार- उपर्युक्त दशामें श्रमणसंस्था या समाजसंस्थाका दोप नहीं है वल्कि इसे विरासतसे चलती आनेवाली संस्कृतिके विकारका ही दोप सम्प्राप्त है।

संस्कारिता और धर्म

संस्कारिता धर्मका फल है, और वस्तु स्वभाव पदार्थका धर्म है। जव पदार्थके पर्याय वदल जाते हैं तव धर्मके पर्याय कैसे न वदलें? ऋतुका

परिवर्तनकी आवश्यकता परिवर्तन होता है, पदार्थोंका परिवर्तन होता है, सूर्यके तापके न्यूनाधिकरूपमें उपा मध्यान्ह और संध्या जैसे परावर्तन हैं,तव धर्म क्रियाओंमें परिवर्तन किसलिए न हो?

भगवान् महावीरका जीवन देखो या इनके तीर्थ और संघके नियम देखो। पहले की अपेक्षा अनेक रीति के परिवर्तन दीख पड़ेंगे।

धर्मसंस्करण नवीन नहीं है-

जैनसंस्कृति का मुख्य ध्येय त्याग है। फिर भी आप स्वयं आदर्शगृहस्थोंकासा जीवन विताते हैं,गृहस्थ जीवनमें भी संयमका होना संभव है। आपने इसे अमलमें भी लाकर वताया है। चातुर्यामकी परम्पराको वदलकर वे पांच महाव्रतोंकी स्थापना और वस्त्रधारणमें परिवर्तन करते हैं। श्रमणसंस्थाके नियमोंको भी नए ढंगसे निर्माण करते हैं। वैसे तो छोटी वड़ी अनेक क्रियाओमें वदल सदल किया है। यह वात(१)केशी-गोतमीय संवादमें स्पष्ट रक्खी है, क्या यह धर्म संस्करणका सूचक नहीं है ?

शास्त्रोंमें आनेवाले 'दव्वं खित्तं, कालं, भावं च विण्णाय,' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको पहचानकर वर्ताव करनेका उल्लेख क्या नवीनताको

नवीनताका आदर्श-

अपनानेका आदर्श नहीं है ? व्यवहारमें जिनकल्पका आनेवाला निर्देश संस्करणकी शक्यताका सूचक नहीं तो क्या है ?

दूसरे दर्शनोंमें(२)पर्यायका नाम तक नहीं तव जैनदर्शन पर्यायको स्वीकार करता है। इस प्रकार अनेकरीतिसे परिवर्तन या संस्करण का निर्देश होते

नवसर्जन कहां है ?

हुए, स्वयं भगवान् वीरपरमात्मा और उनके पट्टधर शिष्योंसे प्रचलित प्रणालिकामें उच्चध्येयका अनुलक्ष्यकरके परिवर्तन होनेकेस्पष्ट उल्लेख होनेपर भी, ठेठ जंवूस्वामीसे लगाकर आजतकके इतिहासको गहराईसे परखा जाय तो मालूम होगा कि धर्मसंस्करणजीवी जैन और रूढ़ितोडक महाक्रांतिकार महावीरके अनुयायी केवल परम्पराजीवी-रूढिजीवी रहे हैं, नवसर्जक नहीं वन सके।

---

१. देखो, श्रीउत्तराध्ययनसूत्रका २३ वां अ०।

२. दर्शनोंकी मान्यताकेलिए परिशिष्टमें देखो, षडदर्शनकी संक्षिप्त मीमांसा। वैशेषिक परमाणुवादको मानते हैं तथा उसे नित्य स्वीकार करते हैं। फिर वे द्रव्यको पदार्थरूप और उसके धर्मको गुणरूप मानते हैं। परन्तु उसमें पर्यायका उल्लेख नहीं है। इसी तरह सांख्य, वेदान्त या कहीं भी उनके यहां पर्यायका नाम तक नहीं है।

प्रगति रुकनेका परिणाम

जैनसंस्कृतिमें जीवित जैनकौमकी वर्तमानमें देखी जानेवाली अवदशा या प्रगतिके रुकनेका मूल कारण यही है। जैनसमाज गुणपूजा और विकासपूजा को माननेवाला था वह आज व्यक्तिपूजक,पदपूजक, महिमा पूजक हो गया है। जो वीरतापूर्ण अहिंसाको माननेवाला था वह आज पामर और कायर बन गया है। जो संयम और सत्यका पुजारी था, वह आज परिग्रही और विलासप्रिय बना हुआ है। जो श्रमजीवी और बंधुत्वजीवी था उसे आलसी और कलहप्रिय देख रहे हैं। जो विश्वकी समानताका हिमायती था, वह आज सत्तापूजक और स्वार्थांध बन गया है। इसमें भी इसी वस्तुका उत्तरदायित्व मुख्य है।

महावीरका जैनसमाज कौनसा है?

जैनशब्द जिस विवेकनिभृत क्रियाशीलताको मानता है या सूचित करता है, आंतर शत्रुओंको जीतनेकी जो वीरता बताता है, और जगत के सामान्य जनसमूह की अपेक्षा ज्ञान और चरित्र शक्तिकी जो विशेषता समझाता है वह कितनी और कहां है? अन्यधर्मके अनुयायियोंमें जो जिज्ञासा, जो मनोवृत्ति, जो प्रेम, जो संगठन देखा जाता है, वह जैनसमाजमें कहां है? आजकी जैनसमाजका रेखाचित्र खींचते हुए एक समर्थ समालोचक कहता है कि 'एक सामान्य मतभेदकेलिए भीतर ही भीतर लड़कर साधन, शक्ति और समय बर्बाद करनेवाला यदि किसी समाजका चित्र देखना हो तो आजके जैनसमाज पर दृष्टि डाल जायँ। वर्तमान समाजकेलिए यह कितना लज्जाजनक हैं !!!

जैनत्वका अर्थ-

इन सबका कारण विरासतमें मिली हुई सहिष्णुताके अतिरिक्त

और क्या कहा जा सकता है ? यह असहिष्णुता कैसे उत्पन्न हुई ? यह विपय खूब विशाल है। यहां तो मुझे अंगुलीनिर्देश मात्र करना है।

असहिष्णुताका हीं

पैतृक दाय

सर्वज्ञत्वकी मान्यता

जैनदर्शन के प्रत्येक तीर्थंकर अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ समझे जाते हैं। जैनोंकी मान्यता है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके प्रत्येक भावको अंजलिगत जलके समान या हथेली पर रक्खे हुए आंवले की तरह एक ही समयमें जानने और देखनेवाले सर्वज्ञ होते हैं। ज्ञातपुत्र महावीर भगवान ऐसे ही सर्वज्ञ हो गये हैं। इस मान्यताके संबंधमें हमें किसी प्रकारकी चर्चा न करना ही अभीष्ट है। इसमें गहरीसे गहरी धर्मश्रद्धाकी जो रक्षा है, वह मानवसमाजकेलिए अत्यावश्यक है। परंतु प्रश्न यह होता है कि सर्वज्ञके नामसे सर्वज्ञके शब्दों पर भी जो सर्वज्ञत्वका आरोप किया जाता है वह किस अपेक्षासे ? शब्द स्वयं नित्य है या अनित्य ? शब्द स्वयं अपेक्षित हैं, पुद्‌गल है, तब भाव और आशयकी नित्यता संभालकर रखनेमें परिवर्तन होना शक्य है या नहीं ? × ×

भावभूलेंकी शब्द पूजा

आजंबूस्वामीके अन्तिम निर्वाणके बाद मोक्षके द्वार बंद हो गए थे, ऐसा स्थानकसूत्रमें उल्लेख है। चाहे यह उल्लेख सहेतुक ही हो इसे

++ 'शास्त्र स्वयं ही यह कहते हैं कि सर्वज्ञ जितना जानते हैं उसका अनंतवां भाग वे कह सकते हैं, और जितना वे श्रीमुखसे कहते हैं उसका अनंतवां भाग गणधर ग्रहण कर सकते हैं, और गणधर जितना ग्रहण करते हैं उसका अनंतवां भाग ही गूंथ सकते हैं।' शब्दके परिवर्तनका आधार भूत प्रमाण इससे अधिक दूसरा और क्या हो सकता है ?

स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इसमेंसे जिज्ञासुवृत्तिका यह नहीं सीखना था कि शास्त्रीय विकासके द्वार बन्द

ह्रास

किए जायँ। श्री आचारांगमें यह साफ़ लिखा है कि जो केवलज्ञानी कहते हैं वही श्रुतकेवली भी कहते हैं, यदि आचारांगकार श्रुतकेवलीकी इतनी योग्यता बताते हैं तो श्रुतकेवली द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावको देखकर जैनसंस्कृतिके मूलउद्देशको सुरक्षित रखकर कर्मकाण्डोंके खोखेमें परिवर्तन कैसे नहीं कर सकते ? परंतु खेदका विषय है कि ऐसा करनेसे शायद श्रमण भगवान् महावीरके सर्वज्ञत्वमें रुकावट आती है। इस भ्रमने हमारी नवसर्जक प्रणालिकाका भंजन किया है, क्या जिज्ञासु बुद्धिके द्वार बंद नहीं कर डाले ? परिणामस्वरूप हमारी अपनी साहित्य समृद्धियां खूब फलीफूलीं, परंतु इसमें नवसर्जनका चेतन बहुत कम देखा गया।

शब्द पर सर्वज्ञत्वका आरोप करनेके परिणामस्वरूप हमारी साहित्योपासना भावपूजक-चेतनपूजकतासे मिटकर शब्दपूजक-जडपूजक रीति बनती चली गई। आज ज्ञानपंचमीके दिन शास्त्रोंका शृङ्गार करके जडसाहित्यकी घोडागाडी या मोटरोंमें जलूस निकालकर घुमानेकी प्रथा

उपासना

इसीका प्रतीक है। जेसलमेरके तूंबोंकी तरह लटकते हुए पुस्तकोंको आंखोंसे देखनेवालेको हमारी साहित्योपासनाका बहुत ही सुन्दर लक्ष्य आसकेगा।

सत्यको त्रिकालाबाधित माननेवाले या समझनेवालेका कर्तव्यक्षेत्र इतना अधिक बढ जाता है कि 'उप्पन्ने वा धूवे वा और विग्ने वा' उत्पत्ति, स्थिति और लय इस प्रकार सत्की मिलनेवाली

साहित्य अर्थात्

शास्त्र व्याख्या केवल परिवर्तनकी सूचक ही तो है। सत्य स्वयं ध्रुव है। यह ठीक है, परन्तु सत्य जिसरूपकमें पड़ता है वह रूपक ही परिवर्तनशील है, और होना भी चाहिए।

कर्मकाँडोंका प्रभाव

यहां यदि कोई त्रिकालावाधितकी दलील खड़ी करता हो तो उसे पूछा जाय कि आस पासके बाह्यकर्मकाण्डोंके प्रभावसे जैनसमाज अलग रहा है यह कौन कह सकता है ? श्रीभद्रवाहुस्वामीके भविष्य कथनानुसार वारावर्षीय कालके वाद जैनश्रमणोंको जब विहार और मगध छोड़ना पड़ा, तव एक शाखा दक्षिणमें प्रतिष्ठित हुई और दूसरी शाखा पहुँची काठियावाड और गुजरातमें। दक्षिणकी शाखाका झुकाव जिनकल्पकी ओर विशेष ढुलक पड़ने से उस संप्रदायके श्रमणवर्गने दिगम्बरत्व पर खूब दवाव डाला और दूसरा वर्ग श्वेतांबर ही रहा।

कर्मकाण्डों का असर-

श्रीमान शंकराचार्यके समय दक्षिणमें वेदधर्मकी जो छाप पड़ी, वही कर्मकाण्डकी छाप आज भी दिगम्बर समाजमें कितनी गहरी चली गई है ? देखो दिगंवर श्रमणकी गोचरीके समयकी क्रिया, श्रावकवर्गकी जनेऊ धारण करनेकी क्रिया इत्यादिमें ब्राह्मण कर्मकाण्डोंका प्रभाव नहीं है इसे कौन न कह सकेगा ?

असलमें कौन बचा ?

काठियावाड़ और गुजरातमें वैष्णव और शैवोंका जोर था तव इसका चेप जैनोंको भी लग गया। जैनोंकी सामाजिक प्रणालिकामें इन्हीं की गहरी छाप है। जडपूजा,अस्पृश्यता,जातिभेद,जातीयकट्टरता, स्त्रीपुरुपके असमानाधिकार इत्यादि तत्व इसके प्रमाणरूप हैं। यों समझो तो वहुत कुछ है। जिसप्रकार जैनीय जीवनपर इसका प्रभाव है, इसीतरह जैनसाहित्य पर भी है ही।

अन्य धर्मोंका प्रभाव

दिगंवरीय साहित्यमें आज भी दिखनेवाले तत्वज्ञानके झुकावमें तद्देशीय इतरदर्शनके साहित्यका प्रभाव झलके विना नहीं रहता।

श्वेतांवरसाहित्यमें भी यह मोड़ तो स्पष्ट है ही, और होना भी चाहिए। क्योंकि वह अनिवार्य है। पास ही खड़ी हुई समाजकी छाया दूसरे समाज पर आ पड़े इसमें आश्चर्य ही क्या है। जिस भांति जैनदर्शनके साहित्यमें इतर छाया है ऐसे ही इतरमें जैनसाहित्यकी छाया भी है।

पारस्परिक प्रभाव

योगदर्शन सांख्यका ही उत्तर विभाग है। ऐसी(१)प्रामाणिक मान्यता है। कालदृष्टिसे देखते हुए सांख्यदर्शनसे पहलेका आगमकाल है। इतिहास ऐसी साक्षी देता है। तत्वार्थसूत्र केवल जैनागमके पाए पर ही रचा गया है। इतना ही नहीं वल्कि इसके सव सूत्र जैनागमोंमें ऐसा स्थान निर्देश करके समन्वय वतानेवाला एक(२)पुस्तक भी प्रकाशित हो चुका है।

समीपका पडछाया

तत्वार्थके सूत्रोंके साथ योगसूत्रोंकी कई जगह समानता पाई जाती है। इससे एक दूसरेका आपसमें प्रभाव है। इस प्रकार माननेका कारण है। दिगंवर(३)जैसे तत्वज्ञानका विशेष झुकाव रखनेवाले साहित्यमें हरिवंशादि पुराणोंका स्थान है। जो कि पौराणिक संस्कृतिकी छायाका ही सूचक है। श्वेतांवर साहित्यमें भी जैनदृष्टिकी गुंथाईमे रचे गए ढालसागर और रामरास(रामायण)भी महाभारत तथा रामायणकी पूर्तिका ही विश्वास दिलाते हैं।

प्रभावके प्रमाण

इसी प्रकार गीतामें भी जैनसंस्कृति तथा वौद्ध संस्कृतिकी वड़ी गहरी छाप है। इसके प्रमाणोंको मैंने परिशिष्टमें दिए ही हैं। सावनाके दृष्टिकोणसे खोज करते हुए जैनों की अहिंसा और संयमने

---

(१) गीतामें भी यही भाव है देखो अ० ५ श्लो० ४।

(२) देखो उपाध्याय श्रीआत्मारामजी म० कृत 'तत्वार्थ और आगम समन्वय।'

(३) परिशिष्टमें षड्दर्शनकी संक्षिप्त मीमांसाका लेख पढ़ो।

वेदधर्मपर गहरा असर डाला है। इसे तटस्थ विद्वान् इंकार नहीं कर सकता। अर्थात् साहित्यिक दृष्टिसे वेदसंस्कृतिका एक दूसरे पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा है। परन्तु मुझे यहां यह कहना है कि "यह सब कुछ होते हुए नवसर्जनकी दृष्टिसे वेदसाहित्य जितना वितान पा सका है उतना जैनसाहित्य नहीं फैला और इसका कारण प्रतिशब्दमें सर्वज्ञत्वके आरोपणकी हमारी अपनी भ्रममूलक मान्यताका पैतृक दाय मिला हुआ है। यह ठीक हुआ या बेठीक यह मात्र अपेक्षावाद पर निर्भर है।"

इसीसे जैनसमाजको तत्वार्थके प्रणेता श्री उमास्वाति वाचक जैसे समर्थ सर्जक मिले। जिन्होंने आगमरहस्यको लेकर तत्वार्थसूत्रको संक्षिप्त गद्यात्मक शैलीसे प्रसन्न गीर्वाणगिरामें संकलित किया।

नवसर्जनकी भूख

परन्तु इसमें नवसर्जन कितना है? इसकी तुलना करो योगके प्रणेता ऋषि पतंजलिके साथ। पतंजलिमुनिके योगदर्शनमें वेद, श्रुति, स्मृति, या उपनिषद्की अपेक्षा बहुतसे नवमौलिक तत्व मिल जाते हैं। परंतु तत्वार्थसूत्रमें ऐसा कितना है?

मिलाओ[1] श्री हरिभद्रसूरि और श्री शंकराचार्यको। श्री हरिभद्रसूरि अर्थात् नवसर्जनकी मूर्ति, प्रकांड अभ्यासी और प्रतिभासंपन्न पुरुष।

श्री हरिभद्रसूरि

स्वयं जन्मजात ब्राह्मण, सरस्वतीके परम उपासक। इन्होंने साहित्यके क्षेत्रमें विशाल खेत बोए। इनकी शक्ति अगाध, अर्थात् साहित्यका ढेर लगा दिया। पर इसमें नवसर्जन कितना?

योगदर्शनके प्रभावसे प्रभावित होकर इन्होंने योगशतक, योगबिंदु और योगदृष्टिसमुच्चय रचे। दार्शनिक प्रभावसे षड्दर्शनसमुच्चय और न्यायके

---

१. यह मीलान कालदृष्टिसे न होकर साहित्य और प्रतिभाकी दृष्टिसे है। कालमें श्रीशंकराचार्य की अपेक्षा श्रीहरिभद्रसूरि अधिक आगेके हैं। देखो धर्मप्राण लोकाशाह लेखमाला।

अन्य दर्शनोंकी स्पर्धा

अनेक ग्रंथ वनाए। इनके लगभग ३० तो स्वतंत्र ग्रंथ और वहुतसे ग्रंथोंके ऊपर की हुई टीकाएँ आज भी मौजूद हैं। परंतु यह सब दूसरे दर्शनोंकी प्रतिस्पर्धा के रूपमें निर्माण किया है यह प्रतीत हुए विना नहीं रहता। इससाहित्यमें नवीनताके आकर्षण कैसे और कितने हैं? यह ठीक वात है कि योगदृष्टिसमुच्चयमें नवीनता अवश्य है, परन्तु इसका ढलाव देखें तो तुरन्त ही जान पड़ेगा कि संस्कृतिका मिला हुआ दाय-विरासत इसमें मुख्यतासे झलकता है।

शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्रके ऊपर मात्र एक भाष्य ही चाहिए, परंतु इसमें नवीनताके दर्शन हुए विना नहीं रहते। और विवेकचूड़ामणि तो मानो विलकुल नया ग्रंथ ही लगता है। अंतःकरणचतुष्टयी और इसके लक्षण हमको इसकी मौलिकताका स्पष्ट भान कराता है।

संस्कृति पैतृक दायका भोग

ये दोनों व्यक्ति विद्या और प्रतिभामें एक दूसरे से कुछ कम उतरनेवाले नहीं थे, फिर भी मौलिक सर्जनमें इतना अन्तर हो, एक क्रांतिकार और दूसरा साहित्यकार रहा हो, तो इसका कारण संस्कृतिकी विरासत के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

जैनसंस्कृति और वेद संस्कृति

वेदसंस्कृतिकी सर्जनप्रणालिका

वेद और श्रुतियां होते हुए मानवसमाजकी व्यवस्थाकेलिए ज्ञानविकाससे प्रेरित होकर मनुस्मृतिकी रचना हुई। आत्मज्ञानकी भूख मिटानेकेलिए उपनिषदोंका निर्माण किया गया। तर्कका विकास करनेकेलिए दर्शनोंको उत्पन्न किया। वालमानसकेलिए पौराणिक संस्कृति पैदा हुई। आदर्श गृहस्थजीवनके प्रत्येक क्षेत्रको व्यक्त करते हुए अनेक कर्तव्यधर्मके अमूल्य आदर्श अर्पणकरनेवाले महाभारत और रामायणका सर्जन हुआ। ऐसी ऐसी अनेक नवीनताएँ हैं। अरे! एक शंकराचार्यके मात्र अद्वैतमत पर ही विचारकरें, तो भी इसी सिद्धांतपर कितना नवसर्जन

हुआ है, इसे किसने समझा है। वहां आज भी ऐसी प्रणालिका प्रचलित है, कि जो आचार्य शंकराचार्यकी गद्दी पर आता है उसे ब्रह्मसूत्रका नई दृष्टि-से भाष्यका निर्माण करना ही चाहिए। क्या यह नवसर्जकशक्तिका उद्बोधन करनेवाली संस्कृतिका दायसूचक चिन्ह नहीं है।

गीताका समृद्ध पाक संस्कृतिके विरासतको आभारी है। फिर एक ही गीतापर देखो ज्ञानेश्वरीगीता, तिलकगीता आदि ऐसी ऐसी अनेक टीकाएँ और प्रत्येक भाषामें छपे हुए सैंकड़ों संस्करण, जैनसाहित्यका एवं प्रत्येक टीकाग्रन्थमें भी मानो मौलिकतत्व ही भरा पड़ा चेतन है ऐसा दीखे विना न रहेगा। जव कि जैनोंको सिद्धसेन-दिवाकर जैसे तार्किकशिरोमणि पंडित मिलते हैं, तो भी इनमें नवसर्जनसे जैनसाहित्य नवपल्लवित नहीं हो सका। कितना खेदका विषय! अपनी पुराणसंस्कृतिकी रूढ़िकी कट्टरताका और अपनी इस नवसर्जनशक्तिके चारों ओर कोट वांधकर उसे सव ओर से कैद करनेका एक ही उदाहरण देखो, हमारे ये समर्थ पण्डित "नमो अरिहंताणं" परमेष्ठीके पदोंको मात्र संस्कृतभाषा में "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय-साधुभ्यः" रचता है कि मानो तुरंत ही कोई भारी अपराध कर डाला हो, उसे संघसे वाहर निकालनेकी क्रिया(घटना)ठेठ इतिहासके पन्नोंपर चढ़ जाती है, और हमारी विरासतगत संस्कृतिके कोट पर एक गहरी छाप मार जाती है। ऐसी विरासत ज्यों ज्यों मिलती जाती है त्यों त्यों जैनप्रजा जिज्ञासुवुद्धिसे परे होती जाती है।

खोजकर देखो ठीक इ. सन् ४०० वर्ष पूर्वसे लगाकर आजतकका इतिहास। तार्किक चूड़ामणि श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री हरिभद्रसूरि, श्री हेमचन्द्र जैसे समर्थ प्रभाविक पुरुष मिले; श्री अभयदेवसूरि, श्री वादिदेव-सूरि, और श्री यशोविजय जैसे महापंडित मिले। इसी तरह दिगंवर सम्प्रदायमें श्रीसमंतभद्रआचार्य, देवनंदी, श्री अकलंक और ऐसे अनेक अद्वितीय विद्वद्रत्न मिले परन्तु अपने इन महासमर्थ आचार्योंके पास से भी

हम कुछ नवीन न पा सके और केवल प्राचीन संस्कृतिके प्रभावसे दायजीवी बने रहे। यद्यपि वारसाजीवी होते हुए दूसरोंके आंदोलनोंका असर तो हम पर भी पड़ा। जिसे मैंने पहले स्पष्ट किया है। आजका रूढ़मानस नवीनताकी ओर घृणा करते देखा जा रहा है, और यदि कोई नया आन्दोलन आया कि तुरन्त उसे गलेसे दवा देनेको तैयार रहते हैं। इसी तरह आजके जैनसमाजकी शक्ति नवसर्जनका विकास करनेके बदले नवसर्जनके बलोंका विघातक होकर आंतरकलहोंमें उसे ध्वंस करते हैं। इसका मूल यहां ही है। जहां तक यह सारी संस्कृति पलटा न खा जाय वहां तक भीतर ही भीतर वे शक्तियां इसीरीतिसे क्षीण होती रही हैं। और आगे भी होती रहेंगी। वर्तमान संस्कृतिके मोडको पलटकर शुद्ध जैनसंस्कृतिका आंदोलन फिरसे जगाना ही संस्कृति सुधारका और परिस्थितिकी उलझनको सुलझानेका सच्चा एवं श्रेयस्कर मार्ग है। अब हम इस प्राचीन संस्कृतिमें से जो विचारक और नवसर्जकबल उत्पन्न हुए हैं उनका जैनसमाजने क्या उपयोग किया जरा इस पर विचार कर जायें।

जैनइतिहासके सुनहले पात्र

विक्रमकी शताब्दीके बादके जैनइतिहासमें पांच सुवर्णपात्र मिलते हैं। इनमें पहले मिलते हैं श्री कुन्दकुन्दाचार्य, लाइन लाइन सर चलती आनेवाली जैनसमाजमें इन्होंने आध्यात्मिक झोकवाली एक नई किरण फेंकी है। समयसारका अमूल्य तत्वज्ञान-का ग्रन्थ इसका साक्षी है। अष्टप्राभृतमें एक से एक तत्वकी की गई समालोचना एकांत धार्मिक क्रांतिकी और नवीन-ताकी सूचक है। चाहे इस नवीनताने समग्र संस्कृतिका पलटा नहीं किया है फिर भी कर्मकाण्डीय झुकाववाले मानसके सामने इनके साहित्यने जबरदस्त क्रांति जगाई है, यह निस्संदेह है।

श्रीमान कुन्दकुन्दाचार्य

दूसरा सुवर्णपात्र मिलता है "धर्मप्राण लोकाशाह" इसने जो नवीनता दी है वह व्यवहार्य और अद्भुत है। कर्मकाण्डोंकी जटिलता,

धर्मप्राण लोकाशाह

साधनवद्धता, रूढ़िकट्टरता और श्रमणसंस्थाकी शैथिल्य-वृत्ति तथा सामाजिक अव्यवस्था एवं सत्ताशाहीके विकारके सामने प्रबलरोप इनकी सार्वत्रिक जीवनचर्यासे साफ नितर कर ऊपर आ सकता है। जैनसमाजकी विकृतिका कोई भी नाड़ीपरीक्षक,आदर्शचिकित्सक और सिद्धान्तके खातर सर्वस्वार्पण करके जैनसमाजके सामने बाहरकी तरफ़ झुकपड़नेवाला कोई था तो यह अद्वितीय धर्मक्रांतिकार धर्मप्राण लोकाशाह।

तीसरा सुवर्णपात्र है हमारा अलबेला योगीश्वर आनन्दघन, सांप्रदायिकता और सत्ताके सामने प्रबल विरोध इसके एक ही जीवनप्रसंगसे

योगीश्वर आनन्दघन

देखा जा सकता है। योगीश्वर एक गांवमें गए थे, समाजका प्रमुख आजाय तब ही व्याख्यान हो सके ऐसी वहां ग्रामप्रथा थी। परन्तु योगीश्वरने तो समय होते ही व्याख्यान आरम्भ किया। इन्हें तो श्रोताओंसे मतलब था, श्रीमानकी आवश्यकता न थी। यदि श्रीमान् भी सच्चा श्रोता हो तो चाहे उसको पहला ही स्थान हो आवे। परन्तु जैनदर्शनमें उच्चताका माप धन, सत्ता या सयानेपनसे नहीं मात्र योग्यतासे मापा जाता है। यह था योगीश्वरका जीवनसूत्र।

सेठजी जरा देरसे आए और व्याख्यान तो शुरू हो ही गया था। सेठजीको रोप चढ़ गया और लगे योगीश्वर पर टकोर करने। इस एक ही निमित्तने जैनसमाजकी वदनसीबीसे इसने अपना एक समर्थपुरुष गवां दिया।

योगीश्वरने अपने आत्मविकासकी साधको तो पूरा ही किया। आज भी इनके पद्य योगीशभूमिकाकी साक्षी दे रहे हैं आपकी समतायोगकीसाधना कितनी जीवन व्यापी और सर्वतोमुखी एवं उदार थी। इनका 'षड्दर्शन जिन अंग भणीजे' यह पद स्पष्ट कर रहा है। जैनसमाजने यदि इस महापुरुषको पचा लिया होता तो जैनसमाजका नवचेतन कुछ और ही होता, परंतु यह वेचारा क्या करे! इसे तो वही विरासतमें मिलनेवाली संस्कृति बीचमें ही अड गई।

श्रीमद् राजचन्द्र-

चौथा सुवर्णपात्र था श्रीमद् राजचन्द्र । श्रीमद् अर्थात् अध्यात्मपथ पर चलनेवाला अकेला पथिक; अध्यात्मरसका रसिक मधुकर; इसके काव्य देखो, इसका रसक्षेत्र मात्र यही । इसके ऊपर छाया है ठीक उसी कुंदकुन्दाचार्य तत्वज्ञानीकी । तो भी इसकी नवसर्जकशक्ति अवाध्य, है, इसमें संशय नहीं । इसके साहित्यमें चलती आनेवाली संस्कृतिकी छाया विल्कुल नहीं हो इसे निश्चित रूपसे तो नहीं कहा जा सकता । इनके काव्योंमें स्त्रीको 'काठकी पुतलीकी उपमा' नजरों चढ़ती है । इसके अध्यात्मसंगीतमें निवृत्ति प्रधानताका स्वर मुख्यतासे गूंजता रहा है । इसपात्रको भी जैनसमाज न झेल सका । ऐसा कहें तो कोई आश्चर्य नहीं । कदाचित् इसमें वाहरके कर्मकाण्डोंके प्रति इनकी विल्कुल उदासीनता कारणभूत हो !

इनमें कोई कर्म प्रेमी, कोई ज्ञानप्रेमी और कोई भक्तिप्रेमी; तो भी दो तत्वज्ञानी गिने गए, एक योगी समझा गया, और एक हुआ तत्वजीवी सिद्धांतजीवी और मरजीवा । इन सवमें विरासतगत संस्कृति तो थी, फिर भी नवीनता तो इसके साथ ही रही इस नवसर्जनको जैनसमाजने न झीला न विकसित किया वल्कि उलटा पिछले रूढ़िचुस्त विद्वानोंने और संप्रदाय-गढ़के रक्षकोंने इन्हें कुचलनेकेलिए शक्तिका अपव्यय किया । कैसी हत-भाग्यता ! परंतु इसमें दोप किसका !

सद्‌गतवाडीलाल मोतीलाल शाह-

पांचवां सुवर्णपात्र श्रीवाडीलाल मोतीलाल शाह । वाडीलाल अर्थात समाजका सुप्रकाशित दीपक, समाजरचनाकी भव्यकल्पनाओंमें स्वतंत्रतासे विचरनेवाला विहंगम । इसका तत्वज्ञान सागरके समान गंभीर, तथापि इसकी क़लम पैनी और तमतमाट करने-वाली । इसके मनोरथ दिव्य, तो भी कठिनप्रणालिका भेदमें यह साहित्यमें आज भी ऐसा ही कुछ अगम्यभाव कहता है । यह था कर्मजीवी और मरजीवा, अन्तमें अकथ्यवेदनाएँ अन्तर-भेंसे खाली करके विदा हुआ ।

परिणाम

इन सब प्रमाणोंको देकर मैं यह कहना चाहता हूं कि जबसे बाह्य-कर्मकांडों पर भार डाला गया और आंतरिक विकास गौण होता गया तबसे मौलिक जैनसंस्कृति विस्मृत होकर विदा हुई। और परि-णाममें जीवन और धर्मके राह अलग अलग पड़ गए। इसी तरह फिर अहिंसामेंसे वीरता घटती गई। साथ ही संयमके बदले परिग्रह बढ़ता गया। 'सव्वे जीव करूं शासन रसी' के बदले घर घरमें ही निर्जीव कारणोंकी ओटमें क्लेश बढ़े। इसका कारण जैनधर्म या जैनशास्त्र नहीं, बल्कि विरासतमें मिली हुई संस्कृति है, और वह आमूलाग्र पलटा खाना चाहती है।

आचारांगमें धर्मका स्वरूप-

इस मौलिक विचारणाको स्थापित करनेकेलिए ही आचारांगमें सत्य अहिंसा, त्याग, तपश्चर्या, अनासक्ति, इत्यादि विकासके अङ्ग कैसे ढंगसे वास्तविकरूपमें चर्चे गए हैं। इसका पाठक स्वयं ही स्वतंत्र बुद्धिसे संतुलन करनेका प्रयत्न करें। इसे विचारते हुए इन्हें यह लगेगा कि जैनधर्म यानी नैसर्गिक धर्म है। वह किसी भी क्षेत्रमें स्वाभाविकरूपसे ही पलना चाहिए। इसीलिए श्रीआचारांगसूत्र कहता है कि यह धर्म किसी अमुक वर्ग या जातिका न होकर सबका समान है।

मेरा अपना वक्तव्य और आचारांगके किरणोंका समन्वय बताकर अब श्री आचारांगके पीछे अपने दृष्टिकोणोंका निर्देश कर दूं।

× × × ×

दृष्टिकोण

इससे पहले जो अनुवाद या प्रकाशन हुए हैं, उनकी अपेक्षा इसका विशेप-टिप्पणिविस्तार अत्यधिक समृद्ध किया गया है, परिशिष्ट भी रक्खे-गये और उन्हें भले प्रकारसे बढ़ाया गया है।

श्रीआचारांगके पहले श्रुतस्कंधके सूत्र जितने गंभीर, गहरे, और सर्व-व्यापकता रखते हैं, उसका यत्किंचित् भी टिप्पणि द्वारा भान हो सके तो

नवीनता

पाठकोंको परम्परागत ही नहीं वल्कि स्वतंत्र विचारसरणीका विकास करनेका अवसर मिले, यह इस टिप्पणिविस्तारके पीछे मुख्य दृष्टिकोण है। और साधक जीवनसे संवंधित वारीकसे वारीक विषय भी सूत्रकारने न जाने देकर इसके गूंथने में कितनी सुन्दर रोचक और प्रसन्न शैलीमें रचना की है। और साधकके जीवनविकासका रहस्योद्‌घाटन किया है। इसका ध्यान पूर्णतया हो। इत्यादि गौणविषय तो वहुतसे हैं।

परिशिष्ट द्वारा श्रीआचारांगका गहरा स्वर जितना अधिक स्पष्ट और सुरेख रीतिसे वाहर ला सके हैं, उतना परिशिष्ट विना नहीं लाया जा सकता। श्रीगीता और श्री आचारांगका अनेक दृष्टिसे वताया गया प्रमाणपूर्ण और शास्त्रीय साम्य भारतीयतत्वज्ञानकी एकताका सूचक है। ऐसा प्रत्येक साधकको ज्ञान हो तो सर्वधर्मसहिष्णुता या सर्वधर्मसमभावका तत्व सहजरीतिसे जीवनमें खद्दरके समान वुना जा सके, और यह सबसे पहले और आवश्यक है।

ऊपरके वाह्यक्रियाकाण्डोंके सामान्यभेदसे या विचारोंके सामान्यमतभेदसे धर्मके वहाने आज असामंजस्य वढ़ रहे हैं। उसका प्रतीकार करने की सच्ची धर्मदृष्टि प्रगट हो, अनासक्ति और त्यागका मौलिक आदर्श और उद्द`श समझकर जीवनमेंसे धर्म और कर्मके वीचमें असंगतपन दूर हो, इसलिए ये समन्वयकी सूचना करनेवाले परिच्छेद हैं। अभ्यासीकेलिए उपकारक हो षड्‌दर्शनकी संक्षिप्त मीमांसा इसीलिए है। और अन्तमें दिया हुआ पारिभाषिक शब्दकोश परिशिष्टका विशेप उपयोगी अंग है। वहुतसे अच्छे अच्छे विद्वान् भी उन दर्शनोंकी धार्मिक परिभाषाके शब्दोंके अर्थके ज्ञाता न होनेके कारण कई वार अक्षम्य भूलें कर डालते हैं इसलिए विशेषतया जैनधर्मकी परिभाषामें आनेवाले पारिभाषिक शब्दमेंके अर्थ दार्शनिक और लौकिकपरिभाषाको सामने रखकर किये हैं।

जिसप्रकार मैं प्रत्येक अनुवादमें वृत्ति, चूर्णिका, दीपिका इत्यादिको आंखोंके सामने रखता हूं, इसीप्रकार इस अनुवादमें भी उसी नीतिको

स्वीकृत किया है, परंतु जहां जहां टीकाओंके अलग अलग

मंतव्य

मत हो गए हैं, वहां उनका निर्देश करके मैंने अपना स्वतंत्र मंतव्य भी प्रस्तुत किया है, और इससे संबंधित प्रमाण और युक्तियां भी पेश की हैं। इस अनुवादमें मैंने कई स्वतंत्र मंतव्य भी सादर उपस्थित किये हैं। परंतु वे जहां जहां हैं वहां सूत्रकार-का आशय और इतर टीकाकारोंके अभिप्रायोंको भी दर्शाया है। इसलिए पाठक इसमेंसे अमिश्रणरीतिसे अलग नितार कर सकेंगे इस संबंधमें यदि किसीको कुछ पूछताछ करना उचित लगे तो वे स्वयं समाधान न करके निस्संकोचभावसे मुझसे पूछ लें।

इस अनुवादमें भी संकलना दृष्टि तो पहले जैसी ही है। इस अनुवाद की अर्थरचनामें सूत्रोंके अक्षरशः अर्थ ही रक्खे गए हैं और जहां कहीं अन्तर वक्तव्य है उसे ( ) में रक्खा है। टिप्पण रचनामें

संकलना और रचना

आचारांगकी मौलिक संस्कृति सुरक्षित रखते हुए आजकी जैनसंस्कृतिसे प्रतिबद्ध साधकको मौलिक जैनसंस्कृतिकी ओर अधिक लक्ष्य रखनेकी दृष्टि मुख्य रक्खी है। इससे कदा-चित बहुत कुछ पहली दृष्टिसे देखनेवालेको कुछ नयासा लगेगा। कइयोंको क्षोभजनक या कौतूहल भी मालूम देगा परंतु वह ज्यों ज्यों स्वतंत्र बुद्धि से विचारेगा, त्यों त्यों इसमेंसे उन्हें नई से नई प्रेरणाएं मिल सकेंगीं। साधकके जीवनमें प्रतिक्षण उद्भव होनेवाले विकल्प, वृत्तिके द्वंद और अनायास आकर पड़नेवाली ऐसी ही खट्टी मीठी परिस्थितियोंमेंसे बचकर, एकांत शांति और अडिग समभावमें रहसकनेकी शक्तिका अभ्यास किसके मनमें न हो? इस जिज्ञासाको संतुष्ट करनेकी ओर लक्ष्य देकर टिप्पणि, उपसंहार और दूसरी विविध सामिग्रीकी रचनाको मुख्यरूपसे रखनेका दौड़कर प्रयत्न किया है।

भाषादृष्टिसे इस अनुवादमें सरल शब्दोंका उपयोग करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया है। इसके उपरांत यह सूत्र केवल सूत्रात्मक होकर

सरलता भावनाकी दृष्टिसे अतिगहन है,इसे भावकी दृष्टिसे भी हलका बनानेका यथाशक्य प्रयत्न किया गया है । आध्यात्मिक भावना तथा पारिभाषिक शब्दोंके ऊपर जैनसंस्कृतिकी मुहरछाप स्वाभाविक होते हुए साधक इन सव भावोंको समजसकें इतना ही नहीं वल्कि जीवनग्राह्य वन सकें इसरीतिसे लिखनेकी कोशिश की है ।

गृहस्थ दशाके साधकजीवनसे लगाकर त्यागी जीवनके आज तकके मेरे अपने अनुभव और अनेक साधकोंके सुखद सहकारसे मिली हुई घटनाओं-की रचनाएं इसमें मणि और मोती जैसी अमूल्य निधि पिरोई हैं । सारांश यह है कि आचारांगका अनुवाद केवल मेरे अभ्यासकी वस्तु ही नहीं वल्कि मेरे जीवित अनुभवका फल है । मैं यह स्पष्ट कह सकता हूं कि आचारांग ने मेरे जीवनमें रस, उत्साह, शांति और संतोषकी प्रेरणा दी है । श्रीआ-चारांगकारने आध्यात्मिक जीवनका चित्र इतना अधिक नैसर्गिक, रसिक, प्रेरक एवं मार्गदर्शक वनाया है, कि कोई भी साधक किसी भी क्षेत्रमें रह कर उसे झेल सके यह इतना सरल है ।

श्रीआचारांगकार जिसप्रकार या जैसी तुलनात्मक पद्धतिका रुझान पहलेसे ही आरंभ करते हैं, वही रुझान इस अनुवादमें भी सुरक्षित रक्खा गया है । आचारांगकारकी पद्धति जैसी प्रत्येक भूमिकाके

पद्धति पक्षोंको छान देती है, त्याग और अनासक्ति इन दोनों को तो स्वीकार करती ही है गृहस्थसाधक और त्यागीसाधक दोनोंको विकासकेलिए समान अवसर देती है । प्रत्येक दर्शन, मत या मान्यताको सत्यके एक ही केन्द्र पर स्थापित करनेकी चेष्टा करती है । अनुवादमें वही दृष्टि रक्खी गई है । और इसी वस्तुको अधिक स्पष्ट करने-केलिए परिशिष्टमें श्रीभगवद्गीता और श्री आचारांगकी तुलनात्मक रचना की है । दोनोंके सूत्र आमने सामने रखे हैं । कौन झुकता है और कौन विजय पाता है ! इसका निर्णय तो पाठक ही करें । मुझे पूछें तो इतना ही कहूंगा कि दोनों साधन जीवनकी समान करवटें हैं । दोनों पार्श्वसाधक जीवनकेलिए समान एवं सर्वथा उपयोगी और आदर्शके समान हैं ।

मेरे पास पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों तैयार थे, और हैं, फिर भी मैंने पहले श्रुतस्कंधको पहले किसलिए पसंद किया ? इसका निर्णय मैं दूं इस

पसन्दगी- की अपेक्षा प्रो० दवेने 'श्रीआचारांगसूत्र' के परिचयमें दी हुई तफ़सील को पढ़लेनेकी प्रेरणा करूं तो वेठीक न होगा? पहला श्रुतस्कंध तत्वज्ञान और सार्वत्रिक उपयोगिताकी जो पूर्ति करता है, वह दूसरे श्रुतस्कंधमें नहीं है। यद्यपि दूसरे श्रुतस्कंधमें भी साधककी चर्या और यमनियमोंकी वस्तु कुछ कम मूल्यवान् नहीं है, परंतु यह वस्तु विशेषतया भिक्षुजीवनमें संबंधित होनेसे साधकको सर्वाङ्ग और सौरभनिभृत जीवनकेलिए पूर्वार्ध जितना सन्मान योग्य नहीं हो सकता, यह उचित है।

वहुतसे जैनसाधकोंकी मांग मूलपाठकी रहती है, यह वात मेरी जानमे वाहर नहीं है। मूलसूत्र देकर नीचे अनुवाद करनेके पक्षमें मैं पहले

मूलपाठ-साथमें से ही नहीं रहा हूं। और अन्तमें मूलपाठ देनेसे मूल्य और भारमें भारी वोझ होता है, इसलिए ऐसे विशिष्ट जिज्ञासु अलग मिलनेवाले मूलसूत्र मंगालें। उनकेलिए यही सरल मार्ग है।

इनदृष्टिकोणोंको जान लेनेके वाद इस पहले श्रुतस्कंधमें आनेवाली वस्तु क्या है, जिन्हें यह जाननेकी इच्छा है, उन्हें यह ग्रंथ स्वयं कह देगा; इसके अतिरिक्त इस विषयकी स्पष्टता डॉ० दवे द्वारा दिया हुआ श्रीआचारांगका परिचय, अनुक्रमणिका और परिशिष्ट करा देंगे।

गृहस्थ जीवन वितानेवाले साधकको भी जीवनविकासका अवसर मिले, संयमी जीवन वितानेवालोंमें शुष्कताके वदले उन्हें रसिकताकी

आकर्षण- प्रेरणा प्राप्त हो, त्यागीसाधकको भी त्यागके पीछेका उद्देश समझनेका अवसर आवे, अकर्मण्य और डरपोकवृत्ति छुड़ाकर कर्मयोगी और निर्भय वनावे, लोकसंगममें रहनेवाले श्रमणको सत्प्रवृत्तिशील रहते हुए समाज और स्वोत्कर्षसाधनेकी चावी

बतानेवाला और व्यक्तिविकासमें माननेवालेको अपने आध्यात्मिकक्षेत्रमें सरलता प्रदान करे, ऐसे आचारांगके प्रति किसे आकर्षण न हो ?

यह अनुवाद हमारी धर्मबाधक रूढ़िगत प्रणालिकाका भंजन(खंडशः) करके सच्चा और निर्मल जैनत्व लानेमें उपयोगी हो; तथा ऐसा प्रयत्न करनेवाले साधकोंको यत्किंचित भी आश्वासन दायक सिद्ध हो और विशिष्ट अभ्यासीसाधकोंको प्रोत्साहन दे सके; तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक समझूंगा। मात्र इतना ही कि जिसरीतिसे श्रीआचारांग का वाचन अनेक कोलाहलोंके बीच मुझमें शांतिका संचार करता है, उसीप्रकार वह सबकेलिए इष्ट हो यही शुभेच्छा।

अंतरकी अभिलाषा-

ॐ शांतिः

कांदावाडी उपाश्रयस्थान] 'संतबाल'

श्रीआचारांगसूत्र

नि···द···र्श···न

श्वेताम्बर जैनसिद्धांत या आगम मुख्यतः छः विभागों में विभक्त हैं। (१) वारा अङ्ग, (२) वारा उपाङ्ग, (३) दश प्रकीर्ण, (४) छ छेद, (५) चार मूल सूत्र और (६) अनुयोगद्वार आदि जैनसूत्र और अलग अलग ग्रन्थ। श्वेताम्बर साधुमार्गीय सम्प्रदाय अङ्ग, उपांग, मूल और छेद इस प्रकार चार विभाग मिलाकर बत्तीस सूत्रोंको प्रमाणभूत गिनते हैं। दिगम्बर जैनसिद्धांत की व्यवस्था उपरोक्त रूपरेखासे कुछ अलग है। तो भी सब संप्रदाय एक बातको तो निर्विवादरूपसे स्वीकार करते हैं कि समस्त आगमोंमेंसे वारा अंगग्रन्थ सबसे प्राचीन और उपयोगी हैं, उन वारह अङ्गग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं। (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग,(३)स्थानांग,(४) समवायांग, (५) भगवती-व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञाताधर्मकथांग, (७) उपासकदशा (८) अन्तकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकसूत्र, (१२) दृष्टिवाद। इन वारा अङ्गग्रन्थोंमेंसे श्री आचारांग अनुक्रमसे एवं गांभीर्य और उपयोगिताकी दृष्टिसे प्रथम है। समस्त आगमके मौलिभूत इस ग्रन्थके टिप्पण-भाषान्तर पूज्य मुनिश्री 'संतबाल' जी जैसे प्रखर अभ्यासी विद्वान्की ओर से लोकसंग्रहार्थ प्रकाशित हो रहा है, यह हम सबके सद्भाग्यका चिन्ह है।

श्री आचारांगसूत्रकी मौलिकताकी ओर पश्चिमके विद्वानों का लक्ष्य इ. स. १८८२ में जब उसे प्रो. जेकोबीने लंदनमें Prakrit Text series में छपवाकर sacred Book of the East ग्रंथमालाके बाइसवीं पुस्तकमें उसका अनुवाद किया गया, हमें उसका तबसे मार्गदर्शन हुआ है। इसके बाद प्रो. शुब्रिगने

सन१६१० में लीपझीग नामक स्थान परGerman Oriental Series के १२ वें मणकेमें पूर्वार्ध छपवाकर प्रगट किया, उसीका जर्मन भाषानुवाद Words of Mahavira में पृ० ६६ से १२१ में दिया। इसके सिवाय भारतमें आगमोदयसमितिकी ओरसे टीका सहित तथा राजकोट आदि स्थानोंसे सानुवाद यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

मौलिकता और महत्ता-

श्री आचारांगसूत्रके २५ अध्ययन या अध्याय हैं। उसके छः विभाग हैं (जिसे स्कंध कहा जाता है) (१) अध्ययनसे (६) अध्ययन तक का नाम बंभचेराइं (ब्रह्मचर्याणि) अथवा प्रथमश्रुतस्कंध है। और (२) दूसरा श्रुतस्कंध १० वें अध्ययन से २५ तक का है और वह तीन समूहोंमें (जिसे चूलिका अथवा चूड़ा) कहते हैं उसमें विभक्त है। पहली चूलिकामें अध्ययन १० से १६, दूसरीमें १७ से २३ और तीसरीमें २४ और २५ अध्ययनोंका समावेश है। प्रत्येक अध्ययन के छोटे विभाग उद्देश के नामसे पहचाने जाते हैं। इन उद्देशकोंकी संख्या ७५ से अधिक है।

श्री आचारांगके विषयमें कहे गए विभागसूचक शब्द-स्कन्ध और चूलिका ही बता डालते हैं, कि यह ग्रन्थ एक साथ(एक दम)और एक ही समय एवं एक ही हाथसे न रचा गया हो। [1]'स्कंध' शब्द सामान्यरीतिसे शरीरका और विशेषरीतिसे ग्रन्थके शरीरका वाचक है, और [2] 'चूलिका' परिशिष्टका बोधक है। जिससे हमें यह अनुमान होता है, कि मूल आचारांगग्रन्थ अध्ययन १ से लगाकर अ०६ तक ही रहा है और शेष भाग बहुत पीछे धीरे धीरे एक या अनेक व्यक्तियों द्वारा क्षेपण किये गये हैं।

भाषाकी, शैलीकी और वस्तुकी दृष्टिसे इस अनुमानको प्रबल आधार मिलता है, इसलिए उन प्रमाणोंकी क्रमशः तहक़ीक़ात करते हैं।

---

(१) श्रीमद्भागवतपुराणके विभाग सूचक भाग को स्कंध कहते हैं। (२) श्रीदशवैकालिकसूत्रमें दश अध्ययनके बाद चूलिकाएँ आती हैं। वहां वे प्रत्यक्षतया परिशिष्ट ही है। क्योंकि दशवैकालिक दश अध्ययनके बाद ही पूरा होता है, यह स्पष्ट है।

श्री आचारांगसूत्रकी वस्तु इस प्रकार है; पहले अध्ययन के पहले उद्देशकमें संसारके बंधका कारण और पुनर्जन्मके प्रयोजक हेतुओंके ऊपर विचार किया है, जिसमें अहंता, ममता सब दुःखों

वस्तु दर्शन- का मूल प्रतिपादन किया है उसके द्वारा होनेवाली हिंसाको रोकनेके लिए बाकीके उद्देशोंमें पृथ्वी, अप्, तेजस्, वनस्पति, त्रस और वायुकायकी हिंसाका परिहार संपूर्ण मीमांसा पूर्वक बताया है। दूसरे अध्ययन(लोकविजय)में मातापितासे आरंभकरके संबंधमीमांसा आदि विषयों पर किस प्रकार विजय प्राप्त किया जाय। तीसरे(शीतोष्णीय)अध्ययनमें सुखदुःख सहिष्णुता, चौथे (सम्यक्त्व) में तत्वज्ञान, पांचवें (लोकसार) में सन्मार्गपर जानेकेलिए बोधवचन, छठवें (धूत)में आत्माको कर्मके मैलसे कैसे दूर रक्खा जाय, तथा आठवें (कुशीलपरित्याग)में भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण और पादपोपगमनरूप मरणसे मोक्षकी साधना करनेके प्रकार तथा नवेंमें श्रीमहावीर भगवानके जीवनमेंसे उदाहरणोंका नितार-इसप्रकार व्यवस्था की गई है।

इससे प्रतीत होता है कि पीछे का अध्ययन प्रत्येक पूर्वके अध्ययनसे नैसर्गिकरीतिसे संबंधित होता आया है। इसलिए १ से ९ तक का ग्रन्थ अविच्छिन्न और स्वयं संपूर्ण हो ऐसा लगता है। दूसरे भागमें साधुओंकेलिए आहारशुद्धिके नियम, निवासस्थान, विहार, सवारी, वस्त्रपात्र, अभ्यास, परस्परव्यवहार, गृहस्थके साथका व्यवहार, आदिके नियम दिए गए हैं। कहां विभागके छः जीवनिकाय जैसे तत्वज्ञानकी मीमांसा या पादपोपगमनादि मरणके उपदेशकी उच्चभूमिका और कहां वस्त्रपात्रादिकी सार संभालके नियम अन्तर्नियम(उपनियम)की शृङ्खलाएँ ? इससे इतना तो जान लिया गया है, कि श्रीआचारांगसूत्र कमसेकम दो भागों में बना है-एक तत्वज्ञानचिन्तनादिका, दूसरा साधुओंकेलिए नियमोपनियमका; और दोनों भागोंकी वस्तु अत्यन्त विभिन्न है।

अब हम शैलीके विषयमें विचार करते हैं। दूसरा संपूर्ण स्कंध (अन्तिम काव्यमय अध्ययन कम करें तो)मुख्यतः गद्यमें लिखा गया है,

आकर्षक शैली और पुरातत्व-

और वह गद्य जैन-बौद्ध शैलीका अर्थात् आवर्तन पुनरावर्तनवाला तथा पर्यायप्रपर्यायके वाहुल्यवाला है। जवकि-पूर्वस्कंधकी शैली विल्कुल अलग ही है। यह शैली केवल गद्य [1] की और गद्यपद्यके मिश्रण की है। वड़े गद्यकी कंडिका(फिकरे)के वाद वड़े पद्यके फिकरे आया करते हैं [2] इतना ही नहीं वल्कि एक एक दो दो गद्यखंडोंके वाद एकाध दो पद्य [3] आते हैं कभी तो पद्यके वीचमें पद्यके एक दो पाद ऐसे ढंगसे मिले जुले होते हैं, कि उसे अलग करना कठिन हो पड़ता है। यह [4] मिश्रणशैली वहुत पुरानी है। ऐतरेय व्राह्मण [5] उपनिषद् [6] और कृष्णयजु-र्वेद [7] में यह शैली पूर्णताको पहुँची हुई देखी गई है,जवकि गद्यमयी शैली अपेक्षासे आधुनिक है। दूसरे जो पद्यखंड गद्यान्तर्गत भासते हैं वे वेदकालीन और ऐसे ही दूसरे पुराने त्रिष्टुभ् [8] अनुष्टुभ् [9] जैसे छंदोंके टुकड़े हैं। यह भी शैलीकी प्राचीनता सूचित करते हैं। [10] तथा पूर्वार्धउत्तरार्धकी विभिन्नता प्रतिपादन करते हैं।

भाषाकी दृष्टिसे परिशोध करते हुए समस्त जैनागमोंमें श्रीआचारांग की भाषा अति प्राचीनतम है। पूर्वार्धमें आर्षमागधी (अर्थात् अर्धमागधी)

---

(१) उदाहरण, अध्ययन ६।

(२) उदाहरण, अ० ३,उ०३, अ० ८ आदि।

(३) उदाहरण, अ० ३, उ०२; अ० ८, उ० ३, इत्यादि।

(४) अ० ४, उ० ४, सूत्र २५८; अ०३, उ० ४ सूत्र २१४,-२१६।

(५) शुनःशेपकी कथाका उदाहरण अधिक प्रसिद्ध है।

(६) छान्दोग्य और वृहदारण्यकमें यह स्थिति ठौर ठौर पर है।

(७) लगभग सारा ही कृष्ण यजुर्वेद इस शैलीमें लिखा हुआ है।

(८-९) अ० २ उ० ४ सूत्र १०८-११२ के टुकड़े ऐसे ही हैं।

(१०) प्रो० शूब्रिगने ऐसे खंडों 'टुकड़ों' का उद्धार करनेकेलिए तथा उसका मूल शोधनेकेलिए खूव ही प्रयत्न किया है और उन्होंने सफलता भी प्राप्त की है। देखो Words of Mahavira का उपोद्घात।

के नाम, क्रियापद, सर्वनामके पुराने रूप उत्तरार्धकी

भाषादृष्टि- अपेक्षा अधिक प्रमाणमें मिल जाते हैं। वर्तमान त्री. पु. ए. व. परस्मै-ति पूर्वार्धमें-ति ही रहता है (उदा.अ.२उ.१ पमुच्चति) जब कि उत्तरार्धमें वह इ के रूपमें पुनः पुनः देखा गया है। (उदा० परिसडइ आदि) वाक्यरचनामें भी पूर्वार्धके वाक्य सादे और छोटे हैं। उत्तरार्धमें मिश्र, सालंकार और लम्बे हैं [१]। इस रीतिसे पूर्वार्ध तथा उत्तरार्धकी वस्तु, शैली और भाषाकी दृष्टिसे खोज करते हुए पूर्वार्ध बहुत ही पुराना और उत्तरार्ध उसकी अपेक्षासे आधुनिक ठहरता है। पूर्वार्ध तत्वज्ञानका ग्रन्थ है। उत्तरार्ध धार्मिक यमनियमबोधक ग्रन्थ है।

अब हम थोड़ेमें इस निर्णय पर आना चाहते हैं कि पूर्वार्धका समय कौनसा था। पूर्वार्ध जो कि तत्वज्ञानका ग्रन्थ है इसका किसी

दूसरे तत्वज्ञानके ग्रन्थके साथ साम्य है या नहीं पहले

समय विचार इसकी खोज करें। यह समानता (१) केवल भाषाकी, (२) मात्र विचारोंकी, (३) भाषा और विचार उभयकी इस प्रकार तीन प्रकारकी होती है। इसमें उत्तरोत्तर समानता पूर्वपूर्वकी अपेक्षा बलवत्तर गिनी जाती है। ऐसी समानता श्री आचारांगसूत्रकी श्रीमद्भगवद्गीताके साथ बिल्कुल खुली रितिसे दीख आती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके बहुतसे विचार श्री आचारांगसूत्रके ही नहीं बल्कि अधिकाधिक शब्द, वाक्य, और पारिभाषिक शब्द भी अद्भुत-

रीतिसे मिलते हैं। कुछ उदाहरण देखें, ज्ञानसे मोक्ष

श्रीगीता और श्री आचारांग होता है इस विषय पर गीता जितना ही भार श्री आचारांग भी रखते हैं। (१) अज्ञान, और कषाय बंध तथा पुनर्जन्मके हेतु हैं यह बात श्री आचारांग जितनी ही

---

(१) प्रो०शूब्रिंगने इस विषयमें विचारपूर्वक चर्चन किया है। इसलिए इसे फिरसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

श्री गीतामें स्पष्ट है। (२) इन्द्रियोंमें विषयसंपर्कसे रागद्वेष अनिच्छा से भी उत्पन्न होते हैं. मानसशास्त्र का यह सूक्ष्म ही नहीं बल्कि उपयोगी सिद्धान्त दोनोंमें साफ नितरा हुआ है, बहुतसे शब्द एक ही रूपसे और लगभग एक ही अर्थमें दोनों ग्रन्थोंमें उपयुक्त हुए हैं। देखो—

समारंभा अ० ४, सूत्र ३६।	यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः ।
गुण (जगतकी उत्पत्तिका हेतुरूप)	दैवी ह्येषा गुणमयी,
जे गुणे से मूलट्ठाणे	मम माया दुरत्यया।
क्षेत्र (शरीरके अर्थमें)	इदं शरीरं कौन्तेय !
अ० ३, सूत्र ८७	क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
समता अ० ८, उ० ३।	समत्वं याग उच्यते।
समाधि, समाहित, अ० ८।	समाधौ न विधीयते।
सूत्र ४४१ अ० ८ सू० ४५०	सुसमाहितः।
तथा संपूर्ण वाक्यकी प्रतिध्वनि	
लाभालाभे आदिसे आरंभ,	सुखदुःखे समे कृत्वा,
अलाभोत्ति न सोएज्जा,	लाभालाभौ जयाजयौ।
लाभोत्ति न मज्जेज्ज	

अधिकाधिक बारीकीसे खोज करनेवाला ऐसे साम्यदर्शक उदाहरणों-की संख्या वढ सकती है, वल्कि इससे अनेक दृष्टिसे विशिष्टरीतिपूर्वक श्री गीता और श्री आचारांगका अनेकविध साम्य वतानेवाला विषय, अनुवाद या सूक्ष्मताभूत रीतिसे और सप्रमाणरूपसे परिशिष्ट में छानागया है। इसलिए उन स्थलोंको देखलेनेकी प्रार्थना करके मैं विश्राम लेता हूं।

श्री गीताको पद्यात्मक उपनिषदोंके समयमें रक्खा गया है। और श्री आचारांगसूत्रका श्री गीताके साथका इतना अधिक साम्य देखते हुए

(१) आचारांग अ० सू० १७ आदि स्थल।

(२) आचारांग अ० १, ३, २, सू० १० आदि स्थल।

तथा शैलीमें इसका साम्य ब्राह्मण उपनिषद् के साथ ·
काल दृष्टिसे यह देखते हुए श्री आचारांग सूत्रको जैनग्रन्थोंमें सव:
खोजते हुए अधिक प्राचीन गिनेजानेमें और उसे अनुमान इ०पू० त ·
शतकमें रखनेमें कोई क्षति नहीं है। शती, अर्धशती य
उससे वरे परे भी हो सकता है।

एक उपयोगी विषय के ऊपर अन्तमें और कुछ विचार करलें
९ वें अध्ययन की वस्तु श्री महावीर भगवान्‌का जीवनवृत्तांत। ज
यह ग्रन्थ इतना अधिक प्राचीन सिद्ध होता है, तो ज
उपयोगी विषय अंश हमें नवें अध्ययनमें मिलता है, वह बहुत ही अ भी
होकर उसे विश्वासपात्र जानना चाहिए। भाग्यहीनतासे ह
महावीरप्रभुका पूरा जीवनचरित्र प्राप्त नहीं हो रहा है, तो भी दो त
आवश्यक विषयोंके ऊपर विचार करनेका अवसर मिलता है। एक त
मुनिको वस्त्र धारण करने न करनेके विषयमें उनका अपना आच र
दूसरे उनके द्वारा सहन किए गए परीषह, और तीसरे (ऐतिहासिक
दृष्टिसे आवश्यक है) वे लाढ में फिरे हैं वह (अ० ९, उ० ३, गाथा ३)
जिसे हम वर्तमानमें लाटदेशके रूपमें पहचानते हैं, वह देश यह नहीं ह
सकता; क्योंकि पश्चिम भारतमें जैनधर्मका प्रचार श्री महावीरके देहो...
के वाद ही हुआ गिना जाता है लाढ के लोग कुत्ते पालते और उन
पीछे लगाते, परधर्मीको और अनजानको दुःखदेनेमें कुछ कर कसर न
छोड़नेवाले, तथा वे कठोर और बीभत्स भाषा बोलनेवाले थे इत्यादि व ·
लाढ देशकी संस्कृतिकी वावत बहुत ऊंचा अभिप्राय व्यक्त नहीं करते
यह लाढ देश हमारा गुजरात होना संभव नहीं यह हमारा सद्भाग्य है

इस महावीर जीवनचरित्रका प्रभाव दूसरे बहुत से जैनग्रन्थों
देखा गया है। सूयगडंग, कल्पसूत्र और हेमचन्द्र के ऊपर विशेष है
सूयगडंग, अ० २, १, यह श्री आचारांगके साथ अर्थ
आचारांग की और शब्दरचनामें बहुत कुछ मिलता जुलता है। कल्पसूत्र
छाप के जिनचरित्र नामके पहले विभागमें आचारांगसूत्रके नव

प्र० का प्रभाव है और मुनि हेमचन्द्रके त्रिषष्ठिशलाका पुरुषके १० वें र्वमें महावीरचरित्रका वर्णन किया है, वह उपर्युक्त आचारांगके विभागमेंसे प्रेरणा लेकर ही रचा गया हो ऐसा लगता है।

मुनिमहाराज श्री संतबाल' जी ने ऐसा अप्रतिम और कठिन सूत्रात्मक शैलीवाला ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण होते हुए सरल और ांतरिक आभार विस्तीर्ण टिप्पणि तथा समृद्ध परिशिष्ट सहित नए प्रदर्शन ढंगसे अनुवादित करके समस्त गुजराती प्रजाको सर्वसुलभ करके अर्पण किया है इसकेलिए जैनप्रजा ही नहीं बल्कि सब धर्मप्रेमी गुर्जर नरनारी निःसंशय उनके अत्यन्त ही ऋणी हैं।

राजकुमार कालेज
राजकोट ता० २६-७-३६

डा० टी. एन. दव
एम. ए. बी. टी. (बम्बई)
पा. एच. डी. (लंडन)

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ णायपुत्तमहावीरस्स

नवीन प्रस्तावना के दो शब्द

श्रीआचारांगसूत्रका अङ्गसूत्रोंके स्थानमें Inplace of जैनागमोंमें ऊंची महिमा है। तदुपरान्त इसके पूर्वार्धमें वहुत ही गंभीर आध्यात्मिक चिन्तन भी असीम संख्यामें रहा हुआ है यह चिन्तन इतना अधिक रसिक और प्रेरक है कि, जिज्ञासु वाचक इसे अमलमें लाए विना नहीं रह सकता।

श्रीआचारांगके पूर्वार्धकी मुख्य विशेपता यह है कि 'एक और सब' इन दोनों की भिन्नतामें जो एक अपूर्व एकता पड़ी हुई है, उसका स्पष्ट भान इससे सहज हो जाता है। 'जो एक को जानता है वह सबको जानता है, और जो एक पर विजय पा लेता है वह सबको जीत लेता है।' ऐसे छोटे छोटे वाक्योंसे व्यक्ति, समाज और समष्टिके संबंधोंके साथ आनेवाला विगाड़ दूर रहकर उसके भीतरका सर्वोत्तम वात्सल्य पी सके इस तरहकी मंगल साधनाके मार्गमें चलनेकी प्रेरणा देता है।

श्रमण भगवान महावीरकी जीवनसाधनाका मूल्य इस दृष्टिसे महानतम वना हुआ है। उन्होंने राज्यपद छोड़ा और साधारण आदमियों के साथ महब्बत जोड़ी, अन्तमें मानव हृदयके सिंहासन पर आरूढ़ हो गए। माताओंके अन्तस्तलका हेत चख सके। अनार्योंका अपमान सहकर भी आर्यत्वका लेप लगाया। कानोंमें कील ठोकनेवालेको भी आन्तरसे आशिर्वाद दिया। चण्डकौशिकके प्रचण्ड विपको अमृतमें पलट दिया। ऐसी साधनाका आचरण करके उन्होंने सिद्ध कर बताया कि प्राणीमात्रमें आत्मा एक ही वसा हुआ है! इसप्रकार यदि वे स्वयं एकताका अनुभव करके वैठ जाते तो व्यक्तिगतरूपसे स्वयं मोक्ष अवश्य पा जाते परन्तु स्थायी प्रकारसे समाजमें मोक्षका चेप न लगता। खूबी की वात तो यह थी कि महावीर जैसे तीर्थंकरों द्वारा प्रस्थापित संघोंमें, देश, वेश, जात, पाँत या लिंग (चिन्ह) आदिके किसी भेदभावके विना आवालवृद्ध अनेक जन सम्मिलित हो गए। जिन्होंने न्याय, नीति, धर्म और आध्यात्मिकताकी प्रतिष्ठा फैलाकर अन्याय, अनीति, अधर्म और भौतिकवादकी प्रतिष्ठाको तोड़ डाला। हजारों वर्ष वीतने पर भी यह संस्कृति धारा अविच्छिन्नतासे

प्रचलित रही है। जिसने अनेक सन्तों और भक्तोंको आज तक सीपमें मोतीकी तरह पकाया है। अन्तमें भारतके सपूत गांधी ने 'अहिंसा परमो धर्मः' का चमत्कार आम जनता द्वारा जगतको बताकर उपरोक्त भावना की सफलता फिरसे पूर्ण करके बताई थी।

आज जब विश्वमें हाइड्रोजन और नाइट्रोजन बम वर्षासे मानव जाति पीड़ित हो रही है, ऐसे अवसर में सबकी एक मात्र आशा 'भारत' बनी हुई है। भारतके २० लाख जैन इस उत्तरदायित्वमें आगे रहकर 'प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयति शासनम्' कर बतायंगे या पीछे ही पड़े रहेंगे। यह आजके युगका एक बहुत बड़ा उलझन भरा Puzzle प्रश्न है। धन, सत्ता और यंत्रकी बेड़ीसे बाहर निकालकर अहिंसा, सत्य और विवेकमय जात परिश्रमके चौगानमें आनेके लिए क्या जैन पहल करेंगे ? जैनसाधु साध्वियोंको इस दिशामें मार्गदर्शक Lead या Guide बने बिना छुटकारा ही नहीं है। यदि वे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रोंका गहरा अध्ययन करते हुए आचारांगको अमलीकरा दें तो क्या ही अच्छा हो !

पूज्य मुनि 'पुष्फ भिक्खू' ने 'सुत्तागमे' द्वारा मूल और मान्य आगमों का सुन्दर एवं शुद्ध संपादन किया है जिसे देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ है।

'अर्थागम' की दिशामें आचारांगके पूर्वार्धका आज जो हिन्दी अनुवाद प्रगट हो रहा है, यह आशाजनक चिन्ह है।

मुझे आशा है कि जैन और जैनेतर हिन्दीभाषाभाषी मानवजगत इससे सच्चा और पूर्ण लाभ उठायगा और गुडगांवकी महेच्छुक संस्थाकी महेच्छा पूरी करेगा

'संतबाल'

साणंदके समीप
रूपावटी ग्राम
ता० १३-५-५७

श्रीसूत्रागमप्रकाशकसमितिके 'सहायक'

श्रीमान् लाला कस्तूरीलाल वंशीलाल जैन, जम्मू-तवी

आप श्रावकके गुणोंमें रमण करके आनन्द प्राप्त महानुभाव हैं । आपकी मनोवृत्तिमें धर्मकी निष्ठा समाई हुई है। साधुसेवाके तो आप कल्पवृक्ष हैं। आप.सहधर्मिणी सहित सामायिक संवर आदि नैत्यिक कर्ममें सहर्ष सहयोग देते रहते हैं। आप जैनसाहित्य और ज्ञानाचारके परमपुजारी हैं आप हमारी सूत्रागमप्रकाशकसमितिके 'सहायक' हैं।

श्रीसूत्रागमप्रकाशकसमितिके 'सदस्य'

श्रीमान् बाबू बद्रीनाथ जैन पोलिश इन्स्पेक्टर जम्मू-तवी

रोहतास निवासी स्व०कवि श्रीप्रेमनाथके आप सुपौत्र हैं। आपने कोटपाकाध्याक्षकी सेवा लेकर बड़ी जनसेवा की है। राजनीति और धर्मनीतिमें रह कर निष्काम रहनेका अभ्यास किया है। सन् १९४६ में जब श्री१०८ मुनि श्री फूलचन्दजी म० का जम्मूमें चतुर्मास था, उस समय दैवयोगसे हिन्दूमुस्लिम संघर्ष हो गया। फलस्वरूप कर्फ्यू आर्डर लगा। जैनसंघके प्रांगणमें बाहरसे ३५० दर्शनार्थियों का भारी समूह था। सबको चिन्तित होना स्वाभाविक था। परन्तु आपने भले प्रकार आश्वासन देकर निर्विघ्नतया रेल्वे-स्टेशन तक सुखपूर्वक पहुँचाया। आपकी यह सहधार्मिक सेवा चिरस्मरणीय रहेगी। इस मानवीय कर्तव्यपरायणताकेलिए आप अभिनन्दनीय हैं! आप समितिके सदस्य हैं।

अ*नु*क्र*म*णि*का

आचारांगमें आत्माका उद्‌बोधक क्रांतिमय कविता और तेजश्छाया, प्रो० दवेका निदर्शन, पृष्ठ १ से ४० तक ।

पहला

श्रुतस्कन्ध

अर्पण

जिनकी प्रवृत्तिमात्रमे अनेकान्त है
जो प्रवृत्तिवीर होतेहुए निवृत्तिधीर हैं
जो एकदेशीय होकर सकल देशीय हैं
जो अनासक्ति और त्यागके अविरोध
सहचारकी जीवित प्रतिमा हैं ।

उन

विरल विभूतिओंको

ममत्वबुद्धि जो त्यागे, वही छोडे ममत्व को ।
ममता जहाँ न हो उसको,जानें ज्ञाता स्वमार्गका ॥
अतः ममत्व बुद्धिको, छोडकर सुज्ञ साधक !
जानकर लोकभावोंको, चेत कर कर्म आचर ॥
लोकस्वभावका ज्ञान, यदि व्यवहार्य नहीं हुआ ।
अनासक्ती जगानेको, तदर्थ त्याग मार्ग है ॥

'लोकविजय'

९ अध्यायोंका सार

अनेक दृष्टिसे समझे, जानकर सत्य तत्वको ।
हिंसा-हिंसाके साधन-तजकर, अहिंसक बने ॥१॥
लोक यह दुनिया सारी, भीतर बाहर की समझ ।
आन्तर सृष्टि-आसक्ती, स्वजनादि बहिरंग तज ॥२॥
सुख-दुःख, शीत औ गर्मी, साधक इनसे पर रहे ।
समभावयोग के द्वारा, खिलेंगी साधना सभी ॥३॥
सम्यक्त्व, सत्य को पाना, सत्य से त्याग प्राप्त है ।
तत्व है त्याग का पाया, फिर उससे साधन सुलभ ॥४॥
धर्म इस लोक में सार, धर्मका सार ज्ञान है ।
ज्ञानका सार है संयम, संयम सार मोक्ष है ॥५॥
धूत कहते धोनेको, मलिन संस्कार साफ कर ।
पूर्वाभ्यास हटें जब तो, संवर की करणी सफल ॥६॥
जो थी चमत्करी विद्या, साधकका आधार थीं ।
करामातोंका वह स्रोत, अहा ! विच्छेद हो गया ॥७॥
विमोक्ष त्यागका नाम, तृष्णादि वृत्तियां खसें ।
साधना में जुड़ेगा तो,कर उपादान को(विमल)सफल ॥८॥
उपधान तपको कहते, आत्माभिमुखता है वह ।
आत्माभिमुखका दाता, तप उपधान है सही ॥
श्रीज्ञातपुत्रने उसको, पचाया जिस भान्ति था ।
अनुगामी 'सुमन' होकर, साधक शिवरमणी वरे ॥९॥

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ णायपुत्तमहावीरस्स

श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्र महावीरको नमस्कार

अर्थागम

उसमें से

आचारांग

(आचार)

पहला

श्रुतस्कन्ध

शस्त्रपरिज्ञा

१

'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु' सब पदार्थों में अनेक धर्म होते हैं। धर्मों की अनेकताकी अपेक्षा उसके दृष्टिकोण भी अनेक हैं, इसलिए एक वस्तुको एक दृष्टिबिंदुसे न देखकर अनेक दृष्टिकोणोंसे ही देखना चाहिए।

इस अध्ययनमें 'परिज्ञा' शब्दका वाच्यार्थ परि+ज्ञा है, अर्थात् एक पदार्थका कईतरह से ज्ञान करना-निरीक्षण करना या समझना आदि की सूचना करता है।

परिज्ञाको अधिक स्पष्टरूपसे समझनेकेलिए उसे सच्ची समझ अथवा विवेक शब्दके रूपमें भी पहचाना जा सकता है। पदार्थ ज्ञानमें और विवेकमें यह तारतम्य है कि विवेकमें सत्यासत्यको परखनेकी निर्णयबुद्धिका समावेश होता है, जब कि पदार्थज्ञानमें बुद्धि होती भी है और नहीं भी। ज्ञानका विषय ज्ञेय मात्र ही है, जब कि परिज्ञामें ज्ञेय, हेय और उपादेय इन तीनों का समावेश होता है; इसलिए जैनदर्शन में इस परिज्ञाके दो भेद किये हैं, (१)ज्ञपरिज्ञा और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञपरिज्ञामें ज्ञानशक्तिको अवकाश प्राप्त है और प्रत्याख्यान परिज्ञामें त्यागको अवकाश प्राप्त है। **'ज्ञानस्य फलं विरतिः।'** जिस ज्ञानका फल वर्ताव में परिणमित नहीं होता वह सच्चा ज्ञान नहीं-जैनदर्शनमें इसका मुख्य प्रतिपादन किया है।

यह **'शस्त्रपरिज्ञा'** नामक पहला अध्याय है, शस्त्रका हिंस्रभाव या 'हिंसाका साधन' अर्थ होता है।

धर्म, विकासका अनुत्तर साधन है, इसोलिए धर्मका प्राथमिक मूल अहिंसा है। प्रत्येक दर्शन, मत और पंथमें अहिंसा का माहात्म्य अविरोध रोतिसे दिखाई देता है इसलिए विकास के पथमें अहिंसकवृत्ति सर्वप्रथम अभीष्ट और धारण करने योग्य होनेसे उसकावर्णन इस अध्यायमें सबसे पहले किया है।

पहला उद्देशक

विवेक

अहिंसाके व्यवहार्य प्रयोगमें विवेककी अनिवार्य आवश्यकता है, जहां सद्विचार या विवेक बुद्धि नहीं है, वहां होनेवाली क्रिया अवश्य कर्मसमारंभ जनक होती है, इसलिए आदि और अन्तमें विवेकका वर्णन करते हुए गुरुदेव बोले :—

(१) आयुष्मान् ! श्रमण भगवान महावीर ने जो कुछ कहा है, 'मैंने उसको जिस प्रकार सुना है, वह इस तरह है', इस रीतिसे अपने शिष्य श्रीजम्बूकी अपेक्षा रखकर श्रीसुधर्मा-स्वामी ने कहा।

आत्म-विचार

(२) अ इस जगतमें बहुतसे ऐसे जीव या आत्माएँ भी हैं जिन्हें 'यह भान नहीं है कि मैं-पूर्वदिशासे, दक्षिणदिशासे, पश्चिम दिशासे, उत्तरदिशा से, ऊंचीदिशा से, नीचीदिशा से, या किसी विदिशा (ईशान, अग्नि, नैऋ'त्य और वायव्य) से या अनुदिशा से कहाँ से आया हूं'।

विशेष—चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ तथा उनके आठ अन्तराल विभाग, सब मिलकर सोलह अनुदिशाएँ तथा ऊँची और नीची मिलकर अठारह दिशाएँ कहलाती हैं।

ऊपर कथित सूत्रमें सबसे पहले विचारश्रेणीका दिग्दर्शन कराया है। विचारकी भूमिका साफ़ होनेपर विकासका आरम्भ होता है। 'मैं कहांसे आया हूं ?' यह जिज्ञासु हृदयका पहला प्रश्न होता है।

जीवनके दीर्घकालमें वहुतसे मनुष्योंके मनमें अपने जीवनके ध्येयके सम्वन्धमें कभी ऐसा प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं हुआ, और वे जिस स्थिति और संयोगमें पड़े हैं, उस वातावरणको देखकर प्रायः दूसरोंका अनुकरण ही करते रहते हैं।

विश्वकी नानाप्रवृत्तियोंसे किसी अपूर्ण ध्येयवाली या ध्येयशून्य प्रवृत्ति को स्वयं आचारणमें लाते हुए दुनियाकी भूठन भी मानो उनके मनमें नवसर्जन जैसी क्रिया वन जाती है। चाहे उस अपूर्ण ध्येयवाली या ध्येय-रहित प्रवृत्तिमें भी उसे वहुत वार संतोषाभास मिलसका है, पर ऐसा संतोष कुछ सच्चा आत्मसंतोष नहीं कहलाता। और ऐसे संतोष के वीच में न शांतिका सुख होता है, और न स्थिरता।

जव हृदयमें सच्ची जिज्ञासाका जागरण होता है, तव ही यह प्रश्न उठता है।

(२ व) फिर वहुतसे अधिकारी जीवोंके मनमें यह प्रश्न भी उठता है कि "मेरा आत्मा पुनर्जन्म पानेवाला है या नहीं ? मैं पहले कौन था ? और यहां से मरनेके वाद परभव (जन्मान्तर) में मुझे क्या होना है ? (मैं कहाँ जाऊंगा), इसका उसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता।"

विशेष—वस्तुतः जन्म बुढ़ापा और मरण आत्माके धर्म नहीं हैं। आत्मा तो नित्य,निरंजन,शाश्वत,अखंड और ज्योतिर्मय है फिर भी कर्म-संगतिसे जडरूप कर्मके धर्मों (स्वभावों)का आत्माके ऊपर भी प्रभाव हुए विना नहीं रहता, और उससे कर्मसंगी चैतन्यको जन्म मरणादि धर्ममें जुड़ना पड़ता है। जव कर्म हैं, तो कर्मका परिणामस्वरूप पुनर्भव भी है।

(१) जगत् और आत्माका क्या संवंध है, ऐसे संवंधका भान होनेपर, (२) जीवात्मा किसके द्वारा पैदा हुआ है। इसमें जन्ममरणकी परम्पराका क्या कारण है, उसे जाननेकी जिज्ञासा उत्पन्न या जागृत होती है इसके वाद (३) पूर्वकालकी परिस्थिति जाननेकी प्रेरणा मिलती है, और

(४) फिर भविष्यका विचार भी सामने आकर खड़ा होजाता है। उसके आते ही आगामी कालके कारणरूप वर्तमान कालीन प्रवृत्तिकी शुद्धिकी ओर ध्यान जाता है। इस प्रकार इन चार प्रश्नोंके पश्चात् विकासमार्गमें स्थिरता आती है।

[३ अ] स्वरूप प्राप्ति, सुख या शांतिकेलिए ऐसे ज्ञानकी परम आवश्यकता है, परन्तु सब प्रयत्न और पुरुषार्थ ज्ञानके विना पंगुके समान हैं। वह ज्ञान कैसे प्राप्त हो ? इसके प्रत्युत्तरमें भगवानने फ़र्माया है कि [१] अपने आप-जातिस्मरण ज्ञान [पूर्वभवके स्मरण] से, [२] ज्ञानी तीर्थंकर या केवली महापुरुषोंके कहनेसे, या [३] उपदेशकोंद्वारा यथार्थ तत्व सुननेसे ऐसा पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है, कि मैं—पूर्वदिशा, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व, अधो, विदिशा या अनुदिशा इनमेंसे किधरसे आया हूं ?

विशेष—जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञानका भेद है। मानसिक मूढ़ता दूर होनेसे और चिंतनशक्तिके खिल जानेसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होता है। साथ ही स्वाभाविक या किसी अन्य निमित्त द्वारा भी यह ज्ञान उत्पन्न होता है।

(३ ब) बहुत से जीवोंको ऐसा भी ज्ञान होता है, मेरी आत्मा पुनर्जन्मको पानेवाली है, कि जो अमुक दिशा या अमुक अनुदिशासे आई है। किं वा जो सर्व दिशा या अनुदिशासे आई है, वह मैं स्वयं हूँ। इसप्रकार जिसे ज्ञान होता है, वह आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी या क्रियावादी है, ऐसा जानना चाहिए। *

---

* जहां क्रियावादी, विनयवादी, अज्ञानवादी तथा अक्रियावादी या जिसके अन्तर्गत कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, ईश्वरकर्तृत्ववादी आत्मैक्यवादीका समावेश है। इनमें से कोई एकांत मान्यताको न पकड़कर सापेक्ष रीतिसे सबको स्वीकार करे, उसे आत्मवादी, कर्मवादी, लोकवादी और क्रियावादी जानना चाहिए। यह शीलांक-मत है।

विशेष—आत्मा नित्य है, इस तथ्य को ठीक प्रतीति होना आत्मवाद है। संसारके कार्यकारणका भान लोकवाद है। आत्मा स्वयं कर्त्ता और भोक्ता है ऐसा [पदार्थोंका] ठीक कर्मज्ञान कर्मवाद है। कर्मवन्धन से छूटने की क्रियाओंका ज्ञान क्रियावाद है। आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद इन चारों वादोंके एकीकरणसे ही सच्चा और यथार्थ आत्मवाद समझा जा सकता है। जो केवल आत्मवादी है, वह आत्मवादी न होकर एकांतवादी है। एकांतवादीमें प्रत्यक्ष आत्मपतन कदाचित न दीखपड़े परन्तु उसमें आत्मविकास तो है ही नहीं।

आत्मस्वरूपके जिज्ञासुको कर्मवाद लोकवाद और क्रियावाद को भी साथ साथ जाननेकी आवश्यकता है। अथवा दूसरे ढंगसे यह भी कहा जा सकता है, कि आत्मविकासके ये चार पाए हैं। इन चारों पायोंका स्वरूप जाननेसे चारों ओर दृढ़ता रहती है। आत्मा कर्मका कर्त्ता भोक्ता है, कर्मवन्धनसे संसार बनता है, संसारके आगमनसे क्रियाओंकी परंपरा जन्म लेती हैं, और क्रियाओंका परिणमन वृत्तिपर होते ही आत्मचैतन्य का परिस्पंदन होता है—इसप्रकार ये चारों अङ्ग आपसमें मिले हुए हैं।

इससे जिज्ञासुको इतना ज्ञान होना चाहिए, कि जो आत्मा जड़ कर्म से मिश्रित है, उस आत्माके विकासकेलिए केवल तत्वज्ञानकी बातें करने से आत्मभान होना अशक्य है। आत्मभानकेलिए तो जड़ कर्म के आवरण दूर हों ऐसी शुद्धप्रवृत्तिको आचरणोंमें लाना चाहिए। साथ ही यहां एक वात याद रखनेकी है, कि [निर्दोष] प्रवृत्ति द्वारा उसमें शक्ति और संयोगों की ज्यों ज्यों अनुकूलता होती जायगी, त्यों त्यों आत्मलक्ष्यकेभीतर लोकाकर्षण-सिद्धि आदिका प्रलोभन वढ़ता जायगा, तव ऐसे प्रसंगोंमें साधक प्रलोभनोंमें न फंसकर मात्रएक आत्मलक्ष्य रखकर विकासश्रेणिमें आगे वढ़े।

कर्मबंध-हेतु-विचार

(४) कर्म संसार परिभ्रमणका कारण है। वे कर्म किस प्रकारको क्रियाओंसे वनते हैं, उसे सुधर्मास्वामी स्पष्ट करके बताते हैं।

जंबू ! (१) मैंने किया, (२) मैंने कराया, (३) मैंने किसी अन्यके करनेवालेकी अनुमोदनाकी; (४) मैं करता हूं, (५) मैं करवाता हूं, (६) मैं 'करनेवाला ठीक करता है', ऐसा मानता हूं, (७) मैं करूंगा, (८) मैं कराऊंगा, (९) मैं करने वालेको अनुमोदन दूंगा, इस प्रकार नव भेदोंको मन वचन और कायसे गुणन करनेपर २७ भेद होते हैं। इस प्रकार कर्मबंधके कारणभूत क्रियाओंके भेद और प्रभेदसे प्रत्येक पुण्यपापकी तथा धर्माधर्मकी व्यवस्था माननी चाहिए, और इसी तरह कर्मसमारंभोंके-कर्मबंधनके कारणभूत क्रियाभेदोंको भी जानना चाहिए।

(५) (उपरोक्त भेदोंको यथार्थ न जानकर मतिभ्रम से मात्र किसी एक सिद्धांतको ही मान लेते हैं, अथवा क्रियाके शुभाशुभ फलोंको जानने की चेष्टा किये विना) जो मूढ़तासे जड़-क्रिया किया करते हैं, वे अज्ञातकर्मा जीव सचमुच इन दिशा विदिशाओंमें परिभ्रमण किया करते हैं। अथवा सर्व दिशाओं और अनुदिशाओंमें चक्कर काटते रहते हैं। फिर वे नानाप्रकारकी योनिओं (पशु, कीडा, पक्षी, नरक और ऐसी ही अन्य अधम गतिओं) में उत्पन्न होते हैं, और अनेक प्रकारके दुष्कर्मजन्य प्रतिकूल स्पर्श आदिके दुःखोंका अनुभव करते रहते हैं।

विशेष—बहुतसे जीवात्मा यह मानते हैं, कि हम स्वयं ही यदि अघटितकार्य करेंगे तो हमें पाप लगेगा, यदि हमारेलिए कोई अन्य कुछ करे तो इसमें हमें क्या ? यह बात एकांत होनेसे यहां अस्वीकार है। जैनदर्शन साक्षात् कर्म और परंपरागत कर्म इन दोनों को मानता है। बहुतसी क्रियाएं ऐसी भी होती हैं, कि जिनके करनेसे थोड़ा पाप या पुण्य बंधता है, और करानेसे या अनुमोदन देने से बहुत बंध होता है। फिर बहुतसी

क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं, कि जिनके करनेसे ही अत्यधिक पाप या पुण्य का बंध होता है। इसी भांति प्रत्येक भेदको समझना चाहिए। इसप्रकार संयम और विवेक पूर्वक [अनेक दृष्टिकोणोंसे] पापपुण्यादिका मार्ग [Way out] निकाल लाना चाहिए।

(६-७-८) सचमुच इन क्रियाओंमें भगवानने परिज्ञा (विवेक) को समझाया है। इस जीवितव्यको दीर्घ बनानेके लिए सुयशकी प्राप्तिकेलिए, सत्कार, सन्मान, पूजनादिका विपाक भोगनेके लिए, जन्म-मरण के बन्धनसे अलग होनेकेलिए और दुःखोंको मिटानेके लिए, इस विश्वमें पापकी क्रियाओंको लोग अंध परम्परा से आचरण में लाते रहते हैं। प्रज्ञ अर्थात् समझदार साधकको उसका परिपूर्ण विवेक जानना आवश्यक है। अखिल विश्वकी क्रियाओंका ऊपर के वर्णन में समावेश हो जाता है।

विशेष—यहां सूत्रकारने समस्तलोकमें होनेवाली कियाओंके साथ विवेकका संबन्ध बताकर यह समझाया है, कि गृहस्थ या त्यागी साधक किसी भी क्रियामें अपना सहज विवेक न चूक जाय। विवेकको चूकने पर क्रियाएँ चाहे जितनी उच्चकोटिकी क्यों न की हों तब भी समझलो कि हिंसा हो चुकी। इसका फल यह हुआ, कि व्यवहार या धर्ममें किसी भी शुभक्रियाके नाम पर या अन्यान्य परोपकार एवं देवकी उपासना या गुरुकी भक्ति के बहाने सूक्ष्महिंसा क्षम्य नहीं है। हिंसा चाहे किसी भी निमित्तरूपसे होती हो, फिर भी हिंसा हिंसा ही है, वह अधर्म है, अतः किसी भी धर्मक्रियामें अधर्म को स्थान न होना चाहिए। फिर भी सूत्रकार कहते हैं, कि धर्म के नाम पर लोग अधर्म करते हैं, 'और हम धर्म करते हैं' ऐसा मानते हैं, इसका कारण सच्चे विचारकी कमी और अंध अनुकरणकी फांसीमें पड़ी हुई वृत्ति ही है।

(६) इस संसारमें पूर्वोक्त सब कर्मसमारंभ (क्रियाओं) को जो ज्ञ परिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग (विवेक पूर्वक समझकर और विवेकपूर्वक त्याग) करता है, वही परिज्ञातकर्मा कर्मज्ञ (विवेकवान संयमी) मुनि गिना जाता है।

उपसंहार

मैं कौन हूं ? मैं कहां से आया ? मेरे यहाँ आने का प्रयोजन ? इत्यादि ये सब ऊंचे विचारके चिन्ह हैं। विवेकके पीछे योग्यता का जागरण होता है। योग्यता विकासकी जिज्ञासाको कहते हैं। धर्म विकासका अवलंबन है, तथा अहिंसा धर्मका मुख्य अङ्ग है, और वह विवेक द्वारा सुसाध्य है। संयम भी विवेक पूर्वक पालन करनेसे पल सकता है—या यों कहिए कि सत्यअसत्यका ज्ञान होने पर ही वैराग्य संयम तथा त्यागादिकी आराधना होती है। सारांश यह है कि विवेक अपूर्व वस्तु है। इसके द्वारा सबसे पहले सब जीवात्माओंको इसकी आराधना इप्ट हो, यही अभिलाषा।

इस प्रकार कहता हू

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका पहला उद्देशक समाप्त

दूसरा उद्देशक

पृथ्वीकाय

मनुष्य की प्रगट और विकसित चेतनावाले बड़े जीव-जन्तुओंको ही न मारनेसे अहिंसा की पूरी आराधना नहीं हो जाती। अहिंसकको तो अपने प्रत्येक उपयोगी पदार्थोंको काममें लेते, हिलते, चलते, एवं सब क्रिया करते समय अहिंसाका स्मरण रहना चाहिए।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति इत्यादि स्थावर जीव भी चेतनावान् हैं, जिन्हें यहां क्रमशः इस प्रकार समझाया है।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू! देखो; इस संसारमें प्राणी लोक विचारे कैसे विषयकषायादिकसे सब तरह हीनतामय, दुःखमय, दुर्बोधमय और अज्ञानमय जीवन विताते दीख पड़ते हैं! वे अपने अज्ञानसे आतुर (अधीर) होकर इस संसारकी जलती हुई क्लेशभट्ठीमें स्वयं सुलग रहे हैं, और दूसरों (उनके समीप रहनेवाले अन्य प्राणियों) को भी परिताप दे रहे हैं।

विशेष—कष्ट अर्थात् अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली परिस्थिति या अज्ञानजन्य क्रियाओंका कटु परिणाम। ऐसी बात नहीं है, कि अज्ञानसे मात्र अज्ञानीको ही कष्ट होता है, बल्कि अज्ञानियोंका अज्ञान औरों को भी कष्ट देता है। व्यक्ति समष्टिका अङ्ग होता है, व्यष्टिकी प्रत्येक क्रियाका समष्टि के साथ गहरा सम्बन्ध है।

(२) जंबू ! देख, इस संसारमें अलग अलग सब जगह ये भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणी बसते हैं। इन्हें परिताप न हो ऐसे ढंगसे संयमी पुरुष संयमकी देख भाल रखते हुए जीवन निर्वाह चलाते हैं।

(३) तब बहुतसे तो "हम त्यागी पुरुष हैं" यह कहलाने वाले भी विविध प्रकारके शस्त्रोंसे पृथ्वी सम्बन्धी कर्मके समारंभ (बहुलतया पापकर्म) करते हुए पृथ्वीपर शस्त्रोंके प्रहार करते हैं, और वे जीवोंकी हिंसा करते करते उनके आश्रयमें रहनेवाले अनेक प्राणिओंकी हिंसा कर डालते हैं।

विशेष—ये त्यागी जीवनकेलिए संकेत करके संबोधप्राप्त वचन है जैनदर्शनमें सूक्ष्मजीवोंको भी स्वेच्छापूर्वक कष्ट न देनेवाला अणगार कहलाता है। अणगारोंकेलिए पूर्णसंयमी और सतत निरासक्त जीवन बितानेका जैनशासनका फ़र्मान है। गृहस्थ जीवनमें इसकी आदर्शरूपेण उपयोगिता है।

(४) हे शिष्य ! भगवान महावीरने इस परिज्ञाको समझाते हुए कहा है कि जो श्रमण जीवन निर्वाहकेलिए, वंदन, सन्मान या पूजा प्रतिष्ठा पानेकेलिए, भ्रमसे मानलिए गए सिद्धान्तके अनुसार जन्ममरणसे छूटनेकेलिए या दुःख (प्रतिघात) के निवारणकेलिए पृथ्वीकाय जैसे सूक्ष्मजीवोंकी हिंसा स्वयं करते हैं, औरोंसे करवाते हैं, अथवा हिंसा करनेवालोंको अनुमोदन देते हैं। वह हिंसा इनकेलिए अकल्याण और अबोधकी जननी बनती है, अर्थात् उससे अश्रेय और अज्ञान ही बढ़ता है।

विशेष—श्रमण भगवान महावीरके समयमें वहुतसे साधु अपनेआपको साधुके रूप में वताते थे, और आरंभके कार्य स्वयं करते थे, औरोंसे करवाते थे,अथवा ऐसे कार्यों में रस लेतेथे। फिर धर्मके नामपर होनेवाली वह हिंसा हिंसा नहीं है ऐसा समझानेका प्रयत्न करते थे। ऊपरके कथनमें यह समझाया गया है, कि वास्तवमें हिंसा हिंसा ही है, और वह धर्मके निमित्त की जाने पर भी क्षम्य नहीं हो सकती। जो आदमी अपनेको धर्मिष्ट कहते हैं, उनके ऊपर उतना ही अहिंसक होकर रहने का उत्तरदायित्व वढ़ता है।अतः उनका जीवन तो वहुत ही संयमी होना चाहिए, और उन्हें अपनी जीवनक्रियामें सूक्ष्मजीवोंकी ओर भी प्रतिक्षण उपयोगमय रहनेका प्रयत्न करनाचाहिए।

(५) सर्वज्ञदेव िवा श्रमणवरों (ज्ञानीजनों) के सहवास से आत्मविकासकेलिए ग्रहण करने योग्य उपयोगी ज्ञानको पाकर इस विश्वमें वहुतसे भव्यजीव यह जान सकते हैं, कि हिंसा कर्मबन्धका कारण है, मोह तथा आसक्तिका कारणभूत है; साथ ही नरक जैसी दुर्गतिका भी निमित्तभूत है। परन्तु जो अति ही आसक्त रहनेवाले जीव होते हैं, वे भिन्न भिन्न प्रकारके शस्त्रों द्वारा पृथ्वीकर्मके समारंभसे पृथ्वीशस्त्रका आरंभ करके अविवेकसे अनेक प्रकारके प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, वे सब खाने पीनेमें तथा कीर्ति आदि पानेके मोहमें ही फंसे पड़े हैं।

विशेष—सूत्रकार कहते हैं, कि स्वयं अहिंसक रहकर अहिंसाकी भावनाका सर्वत्र प्रचार करना त्यागीका मुख्य कर्तव्य है, तो भी वहुतसे पामर साधक समाजमें अपना स्थान टिकाए रखनेकेलिए वे समाजकी मान्यता में भ्रामकता पैदा करते हैं, और फिर कदाचित वह सत्यवात उनकी समझमें आजावे तो भी वे अपने उत्तरदायित्वको समझते हुए उस

भ्रमको दूर करनेके बदले उसे बढ़ानेका काम कर बैठते हैं, तब क्या उन्हें त्यागीकी कोटिमें गिना जा सकता है ? कभी नहीं। जिसे कीर्ति और मान पाने का मोह नहीं है, सत्यकेलिए जीवन को बलिदान करनेको भी तैयार हैं, वे ही सच्चे त्यागी हैं। यहां कोई यह प्रश्न उठाए कि पृथ्वीकाय जैसी सूक्ष्म अहिंसा पर इतना जोर या बल किसलिए दिया गया है, इसका निर्णय इससे आगेके सूत्रमें इस प्रकार सूत्रकार करते हैं।

(६) यह सुनकर जम्बू आश्चर्य पूर्वक अपने गुरुदेवसे पूछते हैं कि पूज्यपाद ! पृथ्वीके जीवों को तो आंख, नाक, जीभ-वाणी या विकसित मन आदिमें से कुछ भी नहीं है तब उन्हें दुःखका अनुभव कैसे होता होगा ?

गुरुदेव बोले

आत्मार्थी शिष्य ! जैसे कोई जन्म से अंधा, बहरा और गूंगा हो, उस मनुष्यके कोई पैर, घुटने, जांघ, गट्टे, सांथल, कमर, नाभि, पेट, पसली, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधे, बाहें, हाथ, अंगुलियां, नख, गर्दन, दाढ़ी, होठ, दांत, जीभ, हलक़, कनपटी, कपाल, नाक, आंख, भवें, मस्तक आदिमें (भाले आदि से) छेदन भेदन करके मारे या तकलीफ़ दे, तो चाहे वह कहकर न बतासके फिर भी अव्यक्त वेदना उसे अवश्य होती है। इसी तरह जिन जीवोंको दुःख व्यक्त करनेका साधन प्राप्त नहीं है, उन्हें भी दुःख तो होता ही है।

विशेष–हिंसासे पर जीवोंको जो पीड़ा होती है वह बहुत बार दिखती नहीं, अथवा दृष्टिपथमें आती भी है, तब भी उसकी पर्वाह शायद ही होती है। फिर भी हिंसक भावनाकी अपेक्षा से उस हिंसा करनेवालेकी वृत्तिका पतन तो अवश्य होता ही है।

(७) जो हिंसकवृत्तिके जीव होते हैं, उन्हें स्वयं हिंसाका प्रयोग करते हुए भी हिंसक क्रियाका भान नहीं रहता (परंतु आरंभका पाप तो उन्हें अवश्य लगता है) तथापि जो पुरुष हिंसक वृत्तिसे निवृत्त हो गये हैं,वे सूक्ष्म या स्थूल शस्त्रका प्रयोग कभी नहीं करते, और वे हिंसाके परिणामको जानकर उनका विवेक कर सकते हैं(ऐसी भावनासे कठोररूपमें आरम्भ का पाप नहीं लगता)।

विशेष—जिस वृत्तिका मन पर असर [प्रभाव] विशेप रहता है वह वृत्ति फिर स्वभाव के रूपमें वदल जाती है, और वह आदत उसी रूपमें परिणत होनेके वाद मनुष्य सदा अपने आप उसीमें चक्कर काटता रहता है,और इसीरीतिसे उसके विवेकका नाश और अनर्थकी परंपराको निमंत्रण आ जाता है।

(८) (अ) इसलिए यह सव कुछ जानकर प्रज्ञ साधक पृथ्वीशस्त्र(पृथ्वीकायकी हिंसा)का स्वयं प्रयोग नहीं करता किसी अन्यके द्वारा भी नहीं करवाता और करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करता।

(८) (ब) इसभांति पृथ्वीकायके जीवसंबंधी हिंसाकी क्रियाओंको भी जो ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे छोड़ता है, वह सचमुच विवेक युक्त संयमी मुनि गिना जाता है।

विशेष—उपरोक्त घटनाएँ अणगार-त्यागी को लक्ष्यमें रखकर कही गई हैं। कारण गृहस्थ साधकको अपना जीवन टिकानेकेलिए पृथ्वी आदि स्थावर जीवोंकी हिंसा अनिवार्य है फिर भी हिंसा हिंसा ही है; और हिंसा से पाप भी होता है। मात्र अधिक योग्यतावाले जीवोंके घातकी अपेक्षा

यह पाप अल्प गिना जा सकता है। परन्तु उसके परिणामका सब आधार आसक्तिकी तीव्रता और मंदता पर निर्भर है, अर्थात गृहस्थ होनेके नाते साधक को भी ऐसी वातोंमें विवेकपुरःसर आसक्ति को कम करना सीखना चाहिए।

इस प्रकार कहता हूं

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त।

तीसरा उद्देशक

जलनिकाय

जलनिकायके जीवोंकी समीक्षामें प्रथम अणगारको योग्यता स्पष्ट करते हैं, और अधिकारको पानेवाला साधक यदि एक सामान्य स्खलनामें लापर्वाही करे तो वह अधिकाधिक स्खलनाएं करनेके फेरमें पड़ जाता है, यह मनोविज्ञान के नियम से सिद्ध है।

आकस्मिक स्खलनाका हो जाना और बात है, स्खलनाको ओर लापर्वाह होना या रहना दूसरी बात है। यदि इस विवेक को सीख लिया जाय तो जागरूक साधक स्खलना की नई परंपरासे छूटकर पहली फिसलन का निवारण कर सकता है, इसे स्पष्ट करते हुए:—

गुरुदेव बोले

(१) जंबू ! जो कुछ मैं कहता हूं उसे सुन:--जो जीवनके प्रपंचसे छूटकर गृहस्थसे अणगार हुआ है जिसका अंतःकरण और कार्य सरल बन गया है, जो मोक्षमार्गकी ओर मुड़ चुका है, और जो माया(कपट)का आचरण नहीं करता, उस अणगार ने स्वयं ही जिस श्रद्धासे, जिस भावनाबलसे त्यागमार्ग अंगीकार किया है, उसी भावसे जीवनके अंत तक अपने जड़ संसर्गजन्य पूर्वस्वभावकी आधीनतामें न फंसकर उसे त्यागमार्गका

यथार्थ पालन करना चाहिए। इस मोक्षके मार्गमें वीर ही चलते हैं और उन्होंने ही भवाटवीका पार पाया है तथा उस मार्गका आराधन किया है, इसमें शंका को स्थान नहीं है।

विशेष—[?] जिस आदमीका जैसा विचार होता है वह वैसे ही बोलता है, और जैसा वह बोलता है उसीके आधार पर चलता है, अर्थात् मन, वचन और कायकी एकवाक्यता साधुताका पहला लक्षण है। जो आदमी त्याग के मार्गको पाकर निरंतर जाग्रत रहता है, वही साधु है कारण यह है कि समर्थ आत्माओंकेलिए भी पूर्वसंस्कारोंको लेकर निर्बलताका होना संभव है।

मन जब पूर्वसंस्कारोंके आधीन होता है,तब जीवात्माका सामर्थ्य,त्याग और शक्ति क्षण भर में समूल नष्ट होनेका समय आ पड़नेके बहुत से दृष्टांत मिलते हैं। मलिनता का सहज प्रभाव भी त्यागकी पवित्रता और चरित्र की सुगंधको बदलकर प्रध्वंस कर डालता है। सहज वीरताके बिना मुक्ति मार्गकी योग्यता नहीं बन पाती-बाहरी द्वंद्वोंमें बाहरकी वीरता, आंतरिक द्वंद्वोंमें आंतरिक वीरता। बाहरकी वीरता की अपेक्षा आंतरिक वीरता करोड़गुणी कठिन और दुःसाध्य है। बाह्य वीरतामें सम्मान, साम्राज्य तथा अधिकार आदिकी मांग होती है। आंतरिक वीरताके मार्गमें उलटा बहुत वर्षोंका एकत्रित किया हुआ यह सब-अहमत्व, ममत्व, तथा आसक्ति आदिको दफ़ना देना होता है। ऐसे वीरोंके शस्त्र भी अलग होते हैं। वे हाथोंमें न होकर हृदयमें धारण किए जाते हैं, यहां यह भाव जानने योग्य है।

(२)जंबू! इसरीतिसे जैनशासनकी आज्ञा(वीरताकेवचन) से संसारको पहचानकर स्वयं निर्भय बनता है, और[अन्य जल निकायादिके जीवों को]भी निर्भय बनाता है।

विशेष—वही सच्चा निर्भय आदमी है कि जिससे हर किसी छोटे बड़े जीवोंको अभय मिलता है। जब अपनेसे किसी प्राणी को भय न हो

तब ऐसा निःस्वार्थी और निर्विकारी प्रेम अखंड होकर बहता है, तब ही निर्भयता प्राप्त होती है निर्भय-दशा प्राप्त करनेका ध्येय सर्वोत्तम और कार्य-कारी है। जिस निर्भयतामें असंयम और स्वच्छंदता होती है,वह निर्भयता भयानक है,और यह निर्भयता बाहरके देखने जैसी हो तो भी वह निर्भयता नहीं है, बल्कि बहुत बड़ा डरपोकपन है।

(३) जंबू ! सुन, मैं तुझसे कहता हूं :—इस संसारमें अनेक तरहके प्राणी बसते हैं, वे सब चेतनावान् हैं। उनके विषयमें शंकाको कोई स्थान ही न होना चाहिए। एवं आत्मा के अस्तित्वके विषयमें भी संशय रखनेका कोई कारण नहीं है। जो आदमी संसारके सम्बन्धमें (यह सब जो कुछ दीखता है यही है या और कुछ है) इस ढबका संदेह रखते हैं,वे आत्माके अस्तित्व-केलिए भी शंकाशील बन जाते हैं। और जो आदमी आत्माके विषयमें शंकाशील बनता है, अथवा जो आदमी अपने आत्माका अपलाप करता है वह और जीवोंका भी अपलाप करता है, (कारण जीव और जगत्का गाढ संबन्ध है) तब वह लोकके विषयमें भी शंकाशील बन जाता है (ऐसा करना विकासके मार्गमें बाधारूप है यह समझकर आत्मप्रतीति पर अडिग होकर डटे रहना उचित है)।

विशेष—प्रत्येक छोटे बड़े देहधारी प्राणी में आत्मा है। हममें भी आत्मा है। हमारी आत्माने जिस प्रकार नाना कर्मके वशसे अलग एवं तरह तरहकी देहादि सामग्री पाई है यही बात संसारके दूसरे प्राणिओंके संबन्धमें भी है, इसलिए यदि हमें सच्चा सुख पाना है, तो वह उन्हें तकलीफ़ पहुँचानेसे नहीं बल्कि सुख देनेसे प्राप्त हो सकता है।

अनेक ज्ञानी पुरुषोंने आत्मप्रतीतिका अनुभव किया है, और हम भी

अनुमानसे उसका अस्तित्व जान सके हैं, अतः कभी किसी भी संयोग (प्रसंग) में नास्तिक वननेकी आवश्यकता नहीं है।

प्रिय जंवू ! संयमी पुरुष जब इस रीतिसे मनका समाधान करके विवेक पूर्वक वर्ताव करते हैं, तब उनमेंसे कुछ तो अपने को त्यागी कहलाते हुए भिन्न भिन्न प्रकारके शस्त्रोंसे जलादिके जीवोंपर क्रियाका समारंभ किया करते हैं, और इस जलादि समारंभमें (अविवेक दृष्टिसे) औरों की भी हिंसा करडालते हैं।

विशेष—वैज्ञानिकोंकी शोवसे दुनिया को पता लग चुका है, कि पानीमें अनेक जीव हैं। उन्होंने वनस्पतिमें भी हास्य, शोक, भय, क्रोध, राग, अहंकार, ऐसी अनुभूतियोंका स्पष्ट अनुभव कराया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है, कि चमड़ेकी आंखसे प्रत्यक्ष न देखते हुए स्थावर जीवोंमें चैतन्य है, इस वैज्ञानिक युगमें यह वात सिद्ध करना संभव हो गई है।

(५) शिष्य ! भगवान् महावीरने इस संवंधमें परिज्ञाको समझाते हुए कहा है, कि कोई श्रमण जीवन निर्वाहकेलिए, वन्दनादिककेलिए, जन्ममरणसे मुक्तिकेलिए जलकायके जीवोंकी हिंसा स्वयं करता है, औरोंसे करवाता है, अथवा हिंसा करने वालेको अनुमोदन देता है, तो वह हिंसा उसको अहित और अज्ञानको उत्पन्न करती है।

(६) सर्वज्ञ भगवान किंवा अन्य ज्ञानियोंके पाससे आत्म-विकासकेलिए आचरण करने योग्य उपयोगी वस्तुको पाकर इस विश्वमें वहुतसे भव्य जीव यह जान सकते हैं, कि हिंसा कर्म-वंधन, मोह और नरकादि दुर्गतिका कारण है, परन्तु जो प्राणी अत्यन्त आसक्त होते हैं वे लोग भिन्न भिन्न प्रकारके शस्त्रोंसे जलकायके महारम्भ द्वारा जलके जीवोंपर अपना

हिंसक शस्त्र आज़माकर और भी अनेक प्रकारके ःाणियोंको हिंसा कर डालते हैं ।

(७) जंबू ! जल स्वयं जिसप्रकार चेतनावान है, इसीतरह इस के आश्रयमें दूसरे भी अनेक जीव रहते हैं । जिनशासनमें यह बात स्पष्टतासे समझाई गई है । यह विवेक साधुजनों को भूलना नहीं चाहिए, और शस्त्र परिणत निर्दोष जलसे उन्हें अपना जीवन निंभाना चाहिए, परन्तु सचेत (कच्चा) पानी काममें न लाना चाहिए । *ऐसा करनेसे इनके ऊपर हिंसा और प्रतिज्ञा भंग होनेसे चोरीका दोषारोपण भी होता है ।

(८) बहुतसे श्रमण यह कहते हैं कि हमें पीनेकेलिए वह कल्प्य है, विभूषाकेलिए भी कल्पनीय है; यह कह कर वे अनेक प्रकार के शस्त्रोंसे जलादिकी स्वयं हिंसा करते हैं । यह बात भिक्षु श्रमणकेलिए योग्य नहीं है ।

(९) मैं ठीक कहता हूं कि जंबू ! जो अज्ञानी अथवा हिंसक वृत्तिवाले जीव होते हैं, उन्हें स्वयं हिंसाका प्रयोग करते हुए भी हिंसाकी क्रियाका भान होता या रहता नहीं, परंतु जो पुरुष हिंसक वृत्तिसे निवृत्त हो चुके हैं, वे ही सूक्ष्म या स्थूल हिंसाका प्रयोग नहीं करते और हिंसाके परिणामको जानकर वे उसका विवेक भी कर सकते हैं । ऐसे उपयोगवाले साधकको आरंभके दोष छूते तक नहीं ।

(१०) इसलिए समझदार साधक जलकायके आरंभको कर्मबंधका कारण जानकर जलकायका आरंभ स्वयं न करे,

---

*भिक्षुप्रतिज्ञा, दश० अध्ययन ४,

दूसरेके द्वारा न करावे, और कोई करता हो तो उसे अनुमोदन भी न दे। इस प्रकार जलकायके जीवोंकी हिंसाको अहितकर जानकर जो श्रमणवर विवेक पुरःसर संयमको रखते हैं, वे ठीक परिज्ञातकर्मा (विवेकी) मुनि कहाते हैं। यह श्रमण भगवान महावीरने भिक्षुसंघको लक्ष्यमें रख कर कहा है, वह मैं तुझे कहता हूँ।

उपसंहार—जलमें भी चेतन है, जल विना निर्वाह शक्य नहीं है। इसलिए गृहस्थ साधक भी अपने धर्मकी मर्यादा रखकर विवेक पूर्वक जल का उपयोग करे।

इस प्रकार कहता हूं

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।

चौथा उद्देशक

अग्निकाय

सत्यशुश्रूषक शिष्य ! सुन; मैं कहता हूं। इसप्रकार सुधर्मा स्वामी जंबूको कह रहे हैं।

(१) हे जंबू ! भगवान महावीरके शब्दोंमें कहता हूं, कि जिज्ञासुको इस संसार और उसमें रहनेवाले प्राणियोंके विषयमें शंकाशील न होना चाहिए, और आत्माके अस्तित्वके विषयमें भी शंकाशील न होना चाहिए।'

जंबू ने पूछाः—"गुरुदेव ! इस प्रकारके विचारसे क्या हानि होती है ?"

गुरुदेव बोलेः—"आत्मार्थी शिष्य !" जो जिज्ञासु संसार के विषयमें शंकाशोल हो जाता है, वह आत्माके अस्तित्वमें भी शंकाशील रहता है और जो आत्माके अस्तित्वके विषय में शंकाशील रहता है, वह संसारके चराचर जीवोंके अस्तित्वके विषयमें भी शंकाशील बनता चला जाता है।"

विशेष—आत्मा और संसारके अन्य प्राणीगण इस जगतमें प्रत्यक्ष विद्यमान दीख पड़ते हैं, देखो एक वस्तुके बिना स्वस्थ शरीर, पुष्ट इंद्रियां और मनोहर अंगोपाङ्ग होनेपर भी क्षणमात्रमें सडने लगता है। उसमें मनोहरताके बदले कुडोलपन आ जाता है। आकर्षणके स्थान पर घृणा होने लगती है। जो शरीर चैतन्यके बिना सब निरर्थक है, वह भला कौनसी वस्तु है ? अरे उसीका नाम तो आत्मा है। जिस चैतन्यके बिना सब कुछ

वृथा है, उस आत्माके उत्कर्षके लिए सब जीव शक्ति और साधनके प्रमाण में निरन्तर प्रयत्न करते हैं। इस रीतिसे उस [आत्मा] का अस्तित्व अनुमानसे स्पष्ट होता है, उसके विषयमें शंका करनेका कोई कारण नहीं है।

आत्माके अस्तित्वमें जो जिज्ञासु अश्रद्धाशील होंगे वे पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदिमें भी अश्रद्धाशील हो जायँगे और उस अश्रद्धाके आनेपर उसका हृदय चाहे जैसे अत्याचारी पापकर्म करने पर भी उसे नहीं धिक्कारेगा तब वह मानवके वदले दानव वन जायगा, इसलिए जिज्ञासु आत्माका अस्तित्व, धर्म, अधर्म पाप, पुण्य, सद्गुण, दुर्गुण आदिका विवेक करते हुए विकासमार्ग में आगे बढ़ता है।

(२) जंबू बोले:—"गुरुदेव ! जो आत्मा नित्य है, उसकी परिपूर्ण साधनाकेलिए आपने अहिंसाका राजमार्ग बताया है। परन्तु उसे जीवनमें साध्य कैसे बनाया जाय ?"

गुरुदेव बोले:—'प्रिय जंबू ! भगवान यह कह गए हैं, कि जो आत्मा इस *दीर्घलोकके शस्त्रकी परिस्थितिका रहस्य जाननेवाला है, वह अशस्त्र(संयम)का रहस्यवेत्ता है, और जो संयमका रहस्य जाननेवाला है, वही इस महासंसारमें हिंसाके साधनोंका रहस्य जाननेवाला है। साराँश यह है कि, जो अहिंसा का रहस्य जानता है, वह संयमका रहस्य जानता है, और जो संयमका रहस्य जानता है, वह अहिंसाका रहस्य जानता है।

विशेष—जो आत्मा इस महासंसारमें हिंसाकी ओर वेपर्वाह नहीं रहता वही सच्चे संयमका ज्ञाता है, और जो संयमका ज्ञाता है वही सच्ची अहिंसाका आराधक है इस प्रकार अहिंसा और संयमका परस्पर पोष्य-पोषक या अन्योन्याश्रय भाव संबंध है। असंयमी कभी अहिंसक नहीं हो सकता

---

* कुछ टीकाकार यहां प्रकरणवश दीर्घलोकका अर्थ वनस्पति करते हैं, और उसका शस्त्र अग्नि कल्पित करते हैं।

और हिंसक कभी संयमी नहीं बन सकता। इन्द्रियसंयम,वाणी संयम और मन:संयम अहिंसकभाव-प्रेमभाव जनक हैं।

(३) 'मोक्षार्थी जंबू ! सदा जितेन्द्रिय, सदा अप्रमत्त और संयमी वीरमहापुरुषोंने इन ही सबलशस्त्रों द्वारा आत्मापर विजय पाकर वीतरागभावकी पराकाष्ठाका जो अखंड, अनंत और स्थिर सुख है, उसका यथार्थ साक्षात्कार किया है।

विशेष—पहले विकासके तीन साधन विचार, विवेक और वैराग्य, बताए जा चुके हैं। पर यहां जितेंद्रियतासे जागृति पैदाहोती है, जागृति के बाद संयमका यथार्थ पालन होना बताकर विचार विवेक और वैराग्यके अनन्तर ये और दूसरे अङ्ग क्रमशः विकासके साधन बताए हैं। मर्मज्ञ महापुरुषों द्वारा यह अनुपम रसायन समझी गई है। धीरे धीरे और क्रमपूर्वक इनका निरंतर सेवन करनेसे अनन्तजीव निराबाध आरोग्यदशाको प्राप्त होते हैं। यह रसायन युगयुगांतर पुरानी होनेपर भी सड़ती नहीं। जैसे अमृत,पीनेवालेको अमर कर देता है, और स्वयं भी अमृत [अमर] रहता है, इसीतरह ये सब विकासमार्गके अमर बनानेवाले स्वयं अमृत जैसे अङ्ग हैं।

(४) जम्बू बोले—"गुरुदेव ! बहुतसे जीव मोक्षार्थी होनेपर भी इस संसारमें अनेक प्रकारसे दंडित और दुःखित होते हैं, चिंतित रहकर रझते और रोगों से पीड़ित होते हैं, इसका क्या कारण होगा ?"

गुरुदेव बोले

"प्रिय शिष्य ! मोक्षार्थी होनेपर भी जो प्रमत्तदशामें आ जाता है,वह सचमुच इन शिक्षा(दंड)का अधिकारी ही है[कारण जहाँ तक प्रमादरूपी घातक विषका कूंडा गिरकर फूट नहीं जाता, वहां तक शांतिरूपी अमृतके बिंदु उसे छूते ही नहीं और

कदाचित् भावनारूपसे स्पर्शित होते भी हैं, तो भी इनका अन्तः-करण पर स्थायी असर नहीं रहता] इसलिए मेधावी साधक ! जिस कार्यको मैंने पहले प्रमादसे कर डाला है, उसे अब न करूं" ऐसी हृदयस्पर्शी भावना का चिंतन करते हुए निरंतर जागता रहता है।

विशेष—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रमाद कहलाते हैं। ये भयंकर और तुरंत घातक विष हैं। इनकी ओर से जो ग़फ़लतमें रहता है वह दंडित और पीड़ित होता है, पीडित ही नहीं बल्कि अनंतवार आध्यात्मिक मृत्यु पाता है।

अमृतका आस्वाद मिले या न मिले परन्तु सबसे पहले विषके संसर्गसे छूटनेका मन किसका न होगा !

(५) जंबूने कहा–'गुरुदेव ! अहिंसकवृत्ति प्रमादरूपी विष को रोकनेका साधनरूप है यह आपने सबसे पहले कहा है। अब पृथ्वी और पानीके अतिरिक्त इस विश्वमें दूसरे जीव कौन कौन हैं, उसका संक्षिप्त वर्णन करनेकी कृपा करें।'

श्रीसुधर्मास्वामीने कहा 'यहां अग्निकायके जीवोंका वर्णन करता हूं। इसकी हिंसा करना भी अघटित है। फिर भी बहुत से अपनेको धर्मज्ञ कहलानेवाले भी अग्निकर्मके महारम्भके द्वारा अग्निके जीवों पर अनेक शस्त्र चलाते हैं, और उनको तथा उनके आश्रय तले रहनेवाले कीड़े, दीमक और अनेक छोटे बड़े बहुतसे जीवोंको मार डालते हैं यह उचित नहीं है।

विशेष—बहुतसे लोग बड़े बड़े अग्निके समारंभ करते हुए पांच धूनियां लगाकर तपनेमें धर्म मानते हैं, जलशुद्धिसे पापोंका नाश होता है, ऐसी ऐसी अनेक विपरीत मान्यताएँ प्राचीनकालमें खूब प्रचलित थीं। इस सम्बन्धमें भगवान महावीरने यह फ़र्माया है, कि जल, अग्नि इत्यादिकोंमें

भी चेतना शक्ति है, इसलिए उनकी हिंसामें धर्म हो ही नहीं सकता। यह स्पष्ट कर दिया है, उसके अनुसार प्रासंगिक बातें हैं।

(६) इसी कारण भगवानने वहां इस जीवितव्यको निभाने का विवेक समझाया है। फिर भी कोई वंदन, मान या सत्कार के लिए, अथवा जोवनकेलिए, कर्मबंधनसे मुक्त होनेकेलिए या शारीरिक तथा मानसिक दुःखके निवारणकेलिए (धर्मके निमित्त) स्वयं अग्निका आरंभ (हिंसा) करते हैं, औरोंसे करवाते हैं, या फिर करनेवालेको अनुमोदन देते हैं, तब तो वह वस्तु उनके हितके बदले हानिकारक और ज्ञानके बदले अज्ञान-जनक सिद्ध होती है।

(७) भगवान किंवा ज्ञानी पुरुषोंके संसर्गसे रहस्यको पाकर उनमेंसे बहुतोंको ऐसा ज्ञान हो जाता है कि "जो विविध प्रकारके शस्त्रोंसे अग्निकर्मका समारंभ करते हुए अग्निके जीवों पर शस्त्रका आरम्भ करते हैं, और उस क्रियाको लेकर तदाश्रित रहने वाले अनेक जीवोंको मार डालते हैं, उन्हें वह वस्तु सच-मुच बंधन, आसक्ति, मार और नरकका कारणभूत है। इतने पर भी लोग उसमें आसक्त रहते हैं। यही कारण है कि वे अज्ञानमें मूर्छित होकर ऐसे अधार्मिक कार्य कर डालते हैं।

(८) 'गुरुदेव! अग्निसमारंभमें अग्निके सिवाय दूसरे और किन किन जीवोंकी हिंसा होती है, यह भी कृपा करके समझाइए।

गुरुदेव बोले

"प्रिय शिष्य! सुन; अग्निके समारंभसे पृथ्वी, घास, पत्ते, लकड़ी, उपले और कूड़े कचरेमें रहे हुए छोटे मोटे अनेक

जीवजन्तु तथा पतंगे भुनगे आदि उड़नेवाले जीव अग्निको देखकर जब आगमें पड़ जाते हैं, तव उनमेंसे वहुतसे जीव तो तुरन्त राख ही हो जाते हैं, और बहुतसे संकुचित होकर वेहोश हो जाते हैं, और मुर्छित होने पर वहीं प्राण दे डालते हैं।"

(९) हिंसकको उनके बचानेका विवेक होता ही नहीं, पर अहिंसकोंको यह विवेक होता है।

विशेष—जबकि अविवेकी प्रतिक्षण पापकी परम्परा को वढ़ाता है, तव विवेकशील साधक कार्य करते हुए विवेक द्वारा ही पापको घटाता है।

(१०) इस प्रकार वुद्धिमान श्रमण हिंसाके परिणामको वुरा जानकर स्वयं अग्निकायके जीवोंका आरम्भ न करे, अन्यके द्वारा न करावे, और करनेवालेको अनुमोदन भी न दे। इस प्रकार अग्निकायके जोवोंकी हिंसाका दुष्परिणाम जाननेवाला परिज्ञात कर्मा (विवेकी) श्रमण कहलाता है।

इस प्रकार कहता हूँ

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका चौथा उद्देशक समाप्त।

पांचवां उद्देशक

वनस्पतिकाय

(१) जंबू ! जो बुद्धिमान् और सावधान साधक अभयको यथार्थरूपसे पहचानकर 'किसी भी प्राणीजातको तकलीफ न दूंगा' यह निश्चय करता है, और हिंसादि कार्योंसे तथा संसारके बंधनोंसे विरक्त होता है, वही जैनसंघका अणगार (त्यागी) श्रमण कहाता है।

विशेष—अभयकी व्याख्या पिछले उद्देशकमें आचुकी है।

(२) जंबूने पूछा "गुरुदेव ! कर्मके बंधन का तथा जन्मजरामरणरूप संसारचक्रका मूलकारण क्या है ?"

गुरुदेवने कहा—

"शब्दादि विषयकामगुण संसारके कारण हैं, और संसार विषयोंका कारण है।"

विशेष—वस्तुतः यहां कारणका उद्देश्य उपादान कारण नहीं है, बल्कि निमित्तकारण जितना चाहिए उतना है। संसारका उपादानकारण तो आसक्ति ही है, और विषय तो मात्र निमित्त [गौण-आनुषंगिक] कारण हैं। परन्तु निमित्तकारण भी उपादानका उत्तेजक तो है ही। अतः निमित्तकारणोंसे सावधान रहना साधककी साधनाका प्रथम लक्ष्य होना घटित है।

(३) 'भगवन् ! विषय संसारके कारण किस तरह वन सकते हैं?' आत्मनिष्ठ जंवू ! ऊंची, नीची, तिर्छी और पूर्वादि दिशाओंमें जाकर या रहकर यह जीवात्मा अनेक पदार्थोंके संसर्गमें आता है, वहां वह अलग अलग तरहके रूपोंको देखता है, तथा अनेक प्रकारके शब्दोंको सुनता है, और वह इसभाँतिसे देखीगई स्वरूपवती वस्तुपर और सुने हुए मंजुल शब्दोंपर मोहित हो जाता है, आसक्त होता है, वस आसक्ति ही संसार है । इसलिए विषयों पर संयम रखना ही वीतरागकी आज्ञा है । जो साधक विषयोंपर संयम न रखता हो वह वीतरागकी आज्ञासे वाहर है । कारण उसे भोगोंमें तृप्ति नहीं है, फिर वह आसक्तिके वशसे वार वार विषयव्यामूढ जीव प्रमादसे (भूलों का भंडार वनकर) तथा सद्वर्तनसे विमुख होकर गृहस्थाश्रममें संतप्त रहता है, और गृहस्थाश्रमको विगाड़देता है ।

विशेष—विषयोंको देखनेसे गुप्त विषयवासना जाग उठती है, विषय-वासनाका उद्भव होनेसे गाढ आसक्ति होती है, और गाढ आसक्तिके परिणामसे भयंकर जड़ता आती है, जहां जड़ता है वहां चेतनताका ह्रास होता है, और संसारकी वृद्धि होती है ।

वीतरागताको प्राप्त करनेकी साधनाका प्रारंभ विषयविरक्तिसे होता है, इसलिए साधनामें प्रवेश करना तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधन करना दोनों समान हैं ।

(४) जंवूने कहा गुरुदेव ! अहिंसकवृत्ति प्रमादरूपी विषको रोकनेकेलिए साधनरूप है, यह आपने सवसे पहले कहा है । अव पृथ्वी, पानी और अग्निके अतिरिक्त दूसरे जीव कौन कौन हैं, इसका संक्षिप्त वर्णन करनेकी कृपा करें ।

सुधर्मा स्वामीने कहा कि-यहाँ वनस्पतिकायके जीवोंका वर्णन करता हूँ। उसकी हिंसा भी न करनी चाहिए। फिर भी अपनेको साधु कहानेवाले वहुतसे मनुष्य वनस्पतिकायके महारंभ द्वारा वनस्पतिके जीवोंपर शस्त्र चलाते हैं, और उन्हें तथा उनके आश्रयमें रहने वाले कीड़े, मकड़ी, दीमक और छोटे वड़े वहुतसे जीवोंके प्राण नाश कर डालते हैं।

(५) अतः भगवानने इनके जीवितव्यको निभानेका विवेक समझाया है। फिर भी वहुतसे वंदन, मान, सत्कार, जीवन जन्ममरणसे मुक्ति और शारीरिक तथा मानसिक दुःखके मिटनेके लिए (धर्म निमित्त) स्वयं वनस्पतिका समारंभ (हिंसा) करते हैं दूसरोंके द्वारा करवाते हैं और करनेवालेका अनुमोदन करते है। तव तो वे वस्तुके हितके वदले हानिकर्ता और ज्ञानके वदले अज्ञानजनक ही हैं।

(६) भगवान अथवा ज्ञानी सत्पुरुषोंके संसर्गसे इसके रहस्यको पाकर उनमेंसे वहुतोंको ऐसा ज्ञान हो जाता है, कि जो विविधप्रकारके शस्त्रोंसे वनस्पतिकायका समारंभ करता हुआ वनस्पतिके जीवों पर शस्त्रका आरंभ करता है और उसे लेकर तदाश्रित रहने वाले अनेक जीवोंको मार डालता है। उसकेलिए यह काम सचमुच वन्धन, आसक्ति, मार और नरकका कारण-भूत है। इतने पर भी जो लोग आसक्त हैं वें अज्ञानोकी तरह इस ढंगके अधार्मिक काम कर ही डालते हैं।

(७ अ) जिज्ञासु वुद्धिसे श्रीजंवूने पूछा, कि गुरुदेव ! वनस्पतिमें किस तरहका चैतन्य है, यह मुझे कृपा करके समझाएँ।

गुरुदेवने कहा—इस विषयको मैं अपने निजी शरीर रचना के साथ तुलना करके समझाऊंगा।

देखो; यह अपना शरीर जिसप्रकार जन्मने के स्वभाववाला है, इसीतरह वनस्पतिके जीव भी जन्म लेते हैं। जैसे हम बढ़ते हैं इसीतरह वे भी बढ़ते हैं जैसे हमारे में चैतन्य है, उसी तरह उनमें भी चैतन्य है। जैसे हमारा यह शरीर काटनेसे सूखता है, उसीप्रकार वनस्पति भी काटनेसे सूखती है। जिसप्रकार हमारे शरीरको आहारादिकी जरूरत है, उसीतरह उन्हें भी आहारकी आवश्यकता होती है। जैसे हमारा यह शरीर अनित्य है, वैसे ही इसका शरीर भी अनित्य है। जिसप्रकार हमारा शरीर अशाश्वत-अनित्य है वैसे ही उनका शरीर भी अशाश्वत और अनित्य है। जिस प्रकार इस शरीरकी हानि वृद्धि होती है, उसीतरह उनके शरीरकी भी हानि वृद्धि होती है। इसीलिए वे सजीव हैं।

विशेष—वनस्पतिके शरीरमें चैतन्य है, यह बात अब विज्ञानसे सिद्ध होनेपर इसविषयमें अधिक कहना व्यर्थ है।

(७ ब) यह बहुत बार जानते हुए असंयमी को इस तरह का विवेक होता ही नहीं। जो अहिंसक रहना चाहता है, उसे ही विवेक होता है। अथवा जो वनस्पतिकायका समारंभ करता है, उसको ही आरंभ लगता है। जो उसका आरंभ नहीं करता उसे पाप नहीं लगता, इस रहस्यका विचार हर एक साधक करे।

विशेष—पापका मुख्य संबंध वृत्तिके साथ है, क्रियाके साथ नहीं—इस गाथाका यह सार है।

(८) इस रीतिसे वुद्धिमान श्रमण हिंसाके परिणामको जानकर स्वयं वनस्पतिकायके जीवों का आरम्भ न करे, अन्यके द्वारा न कराये और दूसरे करनेवालेको अनुमोदन भी न दे। इस रीति से जो वनस्पतिकायके जीवोंकी हिंसाका दुष्परिणाम जानता है, वह परिज्ञातकर्मा (विवेकी) श्रमण है।

इसप्रकार कहता हूं

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका पांचवां उद्देशक समाप्त ।

छठवां उद्देशक

त्रस जीव

प्रिय जंबू ! अब हिलने चलनेवाले त्रस जीवोंके जिन भेदोंको कहता हूँ, उन्हें सुन।

गुरुदेव बोले

(१) (१) अंडज—अंडेसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी आदि,

(२) पोतज—थैलीसे उत्पन्न होनेवाले हाथी, घोड़े आदि चतुष्पाद,

(३) जरायुज—जेरसे उत्पन्न गाय, भेंस आदि दो खुर वाले पशु प्राणी,

(४) रसज—रससे उत्पन्न होनेवाले कीड़े,

(५) स्वेदज—पसीनेसे पैदा होनेवाले जूं, खटमल आदि जीव,

(६) संमूर्छिम—योनिके सिवा पैदा होनेवाले कीड़ी, मक्खी आदि,

(७) उद्भिज्ज—धरती फोड़कर निकलने वाले टिड्डी आदि प्राणी,

(८) औपपातिक—उत्पातसे जन्मलेने वाले देव और नरक योनिके जीव।

आयुष्मान शिष्य ! इस समस्त परिवर्तनशील संसारमें हिलते चलते सब जीवोंका संक्षेपमें किया हुआ वर्णन इन आठ

भेदोंमें समा गया है। मंद और अज्ञानी प्राणी इस संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं।

(२) **प्रियशिष्य** ! आसपासकी परिस्थितिका गंभीर विचार तथा अच्छीतरह मंथन करके मैंने आद्योपांत जान लिया है, कि दो इंद्रियादि सब प्राणी, वनस्पति आदि सब भूत, पंचेंद्रियादि सब जीव, और पृथ्वी आदि सब सत्वोंको सुख ही प्यारा है, असुख या दुःख जरा भी अच्छा नहीं लगता। वे दुःखसे डरते हैं। वे सदा महाभयसे उद्विग्न रहते हैं, और सुखकी शोधके पीछे प्रयत्नशील रहते हैं।

विशेष—समस्त संसारके अलग अलग वर्गोंके जीवोंकी भूत, सत्व, प्राणी और जीव इस प्रकार चार संज्ञाएँ हैं। एक सूक्ष्म जीवसे लगाकर हाथी जैसे महान प्राणी तक सबको सुखकी ही अभिलाषा है, दुःखकी वांछा किसीको नहीं है। सब उपाय सुख प्राप्तिकेलिए ही किए जाते हैं। फिर सुखका मूलकारण न मिलकर, सुखकी खोज करते हुए दुःख मिल जाय तो वह अलग बात है।

(३) विषय और कषायादि शत्रुओंसे पीड़ित होते हुए-कुछ पामर जीव अपने स्वार्थकेलिए आतुर बनकर औरोंको पीड़ा देते रहते हैं। आपसके त्राससे वे बेचारे जहां तहां अलग अलग स्थल पर त्रस्त हो कर फिरते हैं। देख ! संसारमें यह कैसी विचित्रता लगती है।

विशेष—कर्म और माया-मोहकी प्रबलतासे स्वार्थके तंतुजालमें फँसे हुए जीव निरर्थक धक्के खाते हैं। अपने चैतन्यको बेचकर वे जड़के कैसे गुलाम बन रहे हैं। उन्होंने अपने हाथों कैसा भयंकर-बुरी आत्माओंका गिरोह खड़ा कर दिया है, मानो वे परस्परके चैतन्यको रौंद रहे हैं, सताते हैं तथा खूंदते हैं, क्या सचमुच ही उनकी यह आवाज़ होगी ? भय

शोक, चिंता, भागदौड़ और यह सब वखेड़े उनसे कौन करा रहा है ? इसका उत्तर वह स्वयं ही है। अपने सिवा इसका उत्तर और कोई भी नहीं दे सकता ?

जंबूने कहा—गुरुदेव ! अहिंसकवृत्ति प्रमादरूपी विषको रोकने का साधन है। आपने यह सबसे पहले कहा ही है। अब पृथ्वी, पानी, अग्नि और वनस्पतिके अतिरिक्त इस विश्वमें और कौन कौनसे जीव हैं, इनका संक्षिप्त वर्णन करनेकी कृपा करें।

(४) सुधर्मास्वामी बोले—कि यहां अब त्रसकायके जीवों-का वर्णन करता हूँ। उनकी हिंसा भी अघटित है। फिर भी अपनेको साधु कहलानेवाले वहुतसे लोग भी त्रसकायके महारंभ द्वारा त्रस जीवोंपर शस्त्र चलाते हैं, और उनको तथा उनके आश्रयमें रहनेवाले छोटे वड़े कुछ इतर जीवोंको मार डालते हैं।

(५) इसलिए भगवानने वहां इस जीवितव्यको निभाने-केलिए उत्तम विवेक समझाया है। फ़िर भी जो वंदन, मान, सत्कार, जीवन, जन्ममरणसे मुक्ति और शारीरिक तथा मान-सिक दुःखका निवारण करनेकेलिए (धर्मनिमित्त) स्वयं त्रससमा-रंभ (हिंसा) करते हैं, दूसरों से करवाते हैं, या करनेवालेका अनुमोदन करते हैं, उनकेलिए वह वस्तु उनके हितके वदले हानिकारक और ज्ञानके वदले अज्ञानजनक होती है।

(६) अनन्तज्ञानी भगवान तथा ज्ञानी सत्पुरुषोंकी संगतिसे रहस्य पाकर उनमें से वहुतोंको यह ज्ञान हो जाता है, कि "जो

विविधप्रकारके शस्त्रोंसे त्रसकायका समारंभ करते हुए त्रसजीवों पर शस्त्रका आरंभ करते हैं और उसीको लेकर तदाश्रित रहने वाले अनेक जीवोंको मार डालते हैं, उनकेलिए वह काम सच-मुच बंधन, आसक्ति, मार और नरकका कारणभूत है। तथापि जो आसक्त होते हैं वे लोग ऐसा अधार्मिक कार्य कर ही डालते हैं।"

त्रसजीवोंकी हिंसाके कारण

बहुतसे मनुष्य हिलते चलते जीवोंको देख सकते हैं। इनके मूल्यवान जीवनका मूल्य आँक सकते हैं। हमारी तरह वे सब सुखके इच्छुक हैं। उनमें समझनेकी बुद्धि भी है। फिर भी अपने या औरोंके हाथों होनेवाली हिंसाको वे कैसे सहन करते होंगे? क्या सचमुच वे घातकी होंगे? नहीं; उनमें बहुतोंका अन्तःकरण तो दयामय होता है, वे अपने बालबच्चोंका रक्षण प्रेम और वात्सल्यसे करते हैं। फिर भी गुरुदेव! ऐसा होनेका क्या कारण है।

गुरुदेवने कहा—विनयशील जंबू! जो कुछ तू कहता है, वह यथार्थ है। वे स्वयं घातकी बनना नहीं चाहते, परंतु स्वार्थकी अतिमात्रा उन्हें विषम परिस्थितिमें डाल देती है।

उनमेंसे बहुतसे अज्ञानी और वहमी जीव त्रसजीवोंको देवदेविओंके भोग निमित्त भी मारते हैं (यंत्रमंत्र द्वारा सोनेका पुरुष बनानेकी स्वार्थपूर्ण इच्छासे जवान आदमी को भी मार डालते हैं)। कोई चमड़ेकेलिए, कोई खून-हृदय या उसमेंसे पित्त निकालनेकेलिए, कोई चरबी, पांख, पूंछ, बाल या सींगों-

केलिए, कोई दाँत, दाढ़, नख, हड्डी या हड्डीकी गिरीकेलिए, कुछ जानबूझ कर और कुछ निरर्थक रीतिसे हिंसा करडालते हैं। वहुतसे पिछले वैरकी अपेक्षा रखकर हिंसा करते हैं वहुतसे 'मुझे मारते हैं', यह मानकर प्रतिहिंसाके रूपमें हिंसा करते हैं, और वहुतसे 'भविष्यमें यह मुझे मारेगा' इस भ्रांतिसे भी हिंसा करते हैं।

विशेष—पंचेंद्रिय प्राणी और पशुओंके समान उपयोगी जीवोंको लग भग रूढ़ि और वहमके निमित्त या रसास्वादके निमित्त मार डालनेमें क्रूरता करनेमें अज्ञानका आधिपत्य ही विशेष होता है। अज्ञान जितना अनर्थ करता है उतना कोई अन्य वस्तु नहीं करता।

(८) वहुत वार यह जानते हुए भी असंयमी को ऐसा विवेक होता ही नहीं। जो अहिंसक रहना चाहता है, उसे ही यह विवेक होता है।

(९) इसरीतिसे वुद्धिमान श्रमण हिंसाके परिणामको जानकर स्वयं त्रसकायके जीवोंका आरंभ नहीं करता, दूसरोंके द्वारा नहीं कराता, और करनेवालेको अनुमोदन भी नहीं देता। इसप्रकार त्रसकायके जीवोंकी हिंसाका दुष्परिणाम भी जो जानता है, वह परिज्ञातकर्मा (विवेकी) श्रमण कहलाता है।

इस प्रकार कहता हूं

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका छठवां उद्देशक समाप्त।

सातवां उद्देशक

वायुकाय

गत छः उद्देशकोंमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति और त्रस-कायका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें वायुकायके जीवोंका उल्लेख है। सामान्य रीतिसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ऐसा क्रम है, परन्तु दूसरे जोवोंकी अपेक्षासे भिक्षु साधकके द्वारा भी हिलते चलते या दूसरी क्रियाएँ करते हुए वायुकायकी हिंसाका होना अशक्य, परिहाररूप होनेसे वायुकाय-का प्रकरण अन्तमें रक्खा गया है।

गुरुदेव बोले

(१) जो मानसिक और शारीरिक चिकित्सक होता है, वह समर्थ आत्मा सूक्ष्महिंसाको भी अहितकर जानकर वायुकाय के जीवोंकी हिंसाका परिहार कर सकता है।

कारण यह है कि हे जंबू! जो अपने लिए होनेवाले सुख-दु:खका ठीक तरह निदान कर सकता है, वही दूसरे जीवोंको होनेवाले सुखदुखका निदान कर सकता है, और जो दूसरे जीवोंके सुखदु:खकी मनोवृत्तिको जान सकता है। वही अपनी मनोवृत्तिको समझ सकता है। कारण स्व और परको वह परस्पर समान जानता है।

विशेष—अपना चैतन्य और अन्य जीवोंका चैतन्य एक समान है।

सब जीवोंके कर्मोंका प्रभाव भी न्यूनाधिक स्वरूपमें उसी ही रूपमें होता रहता है। जो इतना कुछ विचार सकता है, वह दूसरे के बदले अपना सुख कभी नहीं चाहता है। औरोंको दुःख देकर प्राप्त किया हुआ सुख सुख नहीं है, बल्कि सुखाभास है। जब अन्यको शांति पहुँचानेसे कदाचित संकट प्राप्त हो, तो भी उसके गर्भमें सुख ही है।

(२) यह जानकर यहाँ मोक्षमार्गके साधन (ज्ञान, दर्शन, चरित्रादि) को पाए हुए संयमी पुरुष सूक्ष्मजीवोंकी भी हिंसा करके स्वयं जीना नहीं चाहते।

(३) परंतु दूसरे संयमी पुरुषोंको देखकर बहुतसे व्यक्ति अपनेको त्यागी कहलाते हुए भी वायुकायके महारंभ द्वारा वायुके जीवोंपर शस्त्र चलाते हैं, और उन्हें तथा उनके आश्रयमें रहने वाले दूसरे छोटे बड़े बहुतसे जीवोंको मार देते हैं।

(४) वहां भगवानने इस जीवितव्यको निभानेकेलिए विवेक पूर्वक समझाया है फिर भी जो वन्दन, मान या सत्कारकेलिए, अपना पेट पालनेकेलिए, जन्ममरणसे मुक्त होनेकेलिए और शारीरिक तथा मानसिक दुःखको मिटानेकेलिए (धर्मके निमित्त) स्वयं वायुका समारंभ (हिंसा) करता है, दूसरेसे करवाता है या करनेवाले को अनुमोदन देता है, उसे वह काम उसके हितके बदले हानिकारक और ज्ञानके बदले अज्ञानजनक ही है।

(५) ज्ञानी भगवान किंवा ज्ञानी सत्पुरुषोंकी संगतिसे रहस्यको पाकर इन साधकोंमेंसे बहुतोंको ऐसा ज्ञान हो जाता है कि "जो नानाप्रकारके शस्त्रोंसे वायुकायका समारंभ करते हुए वायुकायके जीवोंपर शस्त्रका आरंभ करते हैं और उस प्रकरणको लेकर उनके आश्रय तले रहनेवाले अनेक जीवों

को मार देते हैं, उनके लिए वह काम सचमुच बंधन, आसक्ति, मार और नरकका कारणभूत है। फिर भी जो लोग इसमें आसक्त हैं, ऐसा अधार्मिक कार्य कर ही डालते हैं ।"

(६) प्रिय जंबू! मैं तुझे कहता हूँ कि उन वायुकायके जीवोंके साथ और भी उडते हुए मच्छर आदि प्राणी हैं। वे वायुके साथ इकट्ठे हो कर पड़ते हैं और वायुकी हिंसा होने पर वे पीड़ित, मूर्छित और मृत्युका ग्रास तक वन जाते हैं।

(७) यह सब बहुत बार जानते हुए भी असंयमी आदमियों को यह विवेक नहीं होता। जो आदमी अहिंसक रहना चाहता है उसे ही यह विवेक होता है।

(८) उपरोक्त छःजीवनिकाय (छःप्रकारके जीवों) की हिंसासे कर्मबंध होता है यह जानते हुए जो ऐसे आचारमें नहीं रमते और आरंभ आदि (हिंसक) कार्यों में आसक्त होने पर भी 'हम संयमीं हैं' ऐसा वोलते हैं तथा स्वच्छन्दाचारी होकर आरंभमें तल्लीन रहते हैं, वे आठों कर्मोंके वन्ध बांधते हैं।

विशेष—आसक्ति आठों प्रकारके कर्म बंधका मुख्य कारण है।

(९) इसलिए संयमधनवाले साधकको सावधान और समझदार होकर न करने योग्य पापकर्मका आचरण न करना चाहिए।

(१०) यह जानकर वुद्धिमान पुरुष छकायके जीवोंकी हिंसा न करे, दूसरोंसे भी न करावे, और करते हुएको अनुमोदन भी न दे। ऐसे आरंभमें जिसे संपूर्ण विवेक होता है वही आरंभत्यागी मुनि कहाता है।

उपसंहार—जीवका अस्तित्व, कर्मबंध और मुक्ति इत्यादि तत्व वताकर तथा जीवन विकासकेलिए विचार, विवेक और संयम इन तीन अंगोंका वर्णन देकर इस अध्ययनमें भावहिंसासे छूटनेका सफल और सरल उपायका निदर्शन किया गया है। कारण यह है कि अहिंसा ही एक प्रकारका संयम है। अथवा दूसरी तरह यह भी कहा जा सकता है कि अहिंसा मात्र संयमसे ही साध्य है। किसी प्राणी को प्रत्यक्ष रूपसे मारना द्रव्यहिंसा है, और अविवेक मानसिकदुष्टता, वैरवृत्ति, ईर्ष्या आदिको आश्रय देना भावहिंसा है। भावहिंसा द्रव्यहिंसामें वदल जाती है, और इसतरह क्रमशः आत्मपतन हो जाता है।

कारण यह है, कि जीवमात्र अपनी आत्माके समान हैं। इसलिए दूसरों को मारनेसे आप ही मारा जाता है, वासनामें वंध है और विरतिमें मुक्ति है। इस भावनाको देकर छोटे वडे सव प्राणियोंमें चैतन्य है। अतः सव ओर अनुकंपा रक्खो, प्रेमकी प्याऊ लगाओ; विकाससे जीवित रहो और विकासपथमें आगे वढ़ो।

इसप्रकार भगवान महावीरका विश्ववन्धुत्वका संदेश देते हुए श्रीसुधर्मास्वामी जम्वूस्वामीको लक्ष्यमें रखकर अध्ययनके अन्तमें कहते हैं।

इसप्रकार कहता हूँ

शस्त्रपरिज्ञा नामक पहला अध्ययन समाप्त।

लोक विजय

२

पहले अध्ययनमें मोक्षमार्गका मूलसाधन अहिंसाका सूक्ष्म-वर्णन किया गया है । अब दूसरे अध्ययनमें लोकविजयका कथन प्रारम्भ होता है ।

लोक अर्थात् संसार । पतिपत्नीका सम्बन्ध, माँ बाप और बालकका सम्बन्ध; मित्र, सम्पत्ति, वैभव इत्यादिका संसर्ग आदि बाह्य-बाहरी संसार है, और उसके संसर्गसे उत्पन्न अहंभाव, ममता, आसक्ति, विकार, स्नेह, तथा वैर आदि सब भावोंका आत्मा पर जो प्रभाव होता है वह अभ्यन्तर-भीतरका अथवा भावसंसार कहाता है। भावसंसार द्रव्यसंसारका हेतु (कारण) भूत है इसलिए रागादि शत्रुओंपर विजय पाना ही सच्चा लोक विजय है । परन्तु द्रव्यसंसार (बाह्यसंसार) की निवृत्ति भी एक साधन है, और वह साधनाकी भावना भी भावकषायोंकी मंदताको लेकर ही उत्पन्न होती है । इसी भावको लेकर इस अध्ययनके पहले उद्देशकमें स्वजन सुतादिके सम्बन्धका विवेक समझाया है।

पहला उद्देशक

संबंध मीमांसा

ऋणानुबन्धके संबंधकी योजना बनती है। भिन्न भिन्न स्थलोंसे आए हुए जीव परस्पर समान तत्वके कारण माता, पिता, पत्नी, भगिनी, पुत्र आदिके रूपमें हैं। यदि ऐसे संबंध केवल कर्तव्य सम्बन्धरूपमें रहें, तो उसमें विकासकेलिए स्थान है ही, परन्तु मायाजालमें फंसे हुए जीव ऋणानुबंधके नामसे प्रायः मोह सम्बन्धकी ही पुष्टि करते हैं। मोह सम्बन्ध और कर्तव्य सम्बन्ध बिल्कुल अलग अलग हैं। इनकी दिशाएं भी अलग अलग हैं। कर्तव्य सम्बन्धमें ऋण पूरा होनेपर निकट सम्बन्धीका शरीर छूट जाय या अनुसंधित हो तब भी खेद, शोक, या हर्ष जैसा कुछ नहीं बनता; परन्तु मोहसम्बन्ध में इष्टके संयोगसे या अनिष्टके वियोगसे खेद, शोक और परिताप या हर्षका प्रभाव होता है। कर्तव्य सम्बन्ध बदला नहीं चाहता; मोह सम्बन्ध चाहता है। यही कारण है, कि कर्तव्य सम्बन्धमें बन्धन नहीं है; परन्तु मोह सम्बन्धमें तो बन्धन है। इसलिए मोह सम्बन्ध छोड़कर, कर्तव्य सम्बन्धको समझते हुए या इस ऋणको चुकानेकी तैयारी करते हुए एवं सम्बन्धमात्रसे पर होने का आदर्श प्रस्तुत करते हुए

गुरुदेव बोले

(१ अ) प्रिय जम्बू ! जो शब्दादि विषय (कामगुण) हैं वे संसारके हेतुभूत हैं; और जो संसार का मूल (हेतु) है वे विषय हैं, अतः जो मनुष्य विषयार्थी होता है, वह प्रमादी बनकर अतिपरितापसे परितप्त रहा करता है।

विशेष—जो विषय परंपरासे संसारका मूल कारण है, उनका क्रम इसप्रकार है—शब्दादि विषयोंसे कामेच्छा-वासनाको वेग मिलता है। वासना से चित्तमें विकार होता है। विकृत चित्तवालाव्यक्ति विषयोपभोगमें वास्तविक आनन्द न होनेपर भी चैतन्य-आनंद-की प्राप्तिका अनुभव करनेकेलिए आतुर हो जाता है। यह मुग्धता, आसक्ति औरमोहादिस्थिति ही संसारका मूलकारण है। इस रीतिसे विषय क्रमशः संसारके मूल भूत बने हुए हैं।

(१ ब) हे जंबू ! मेरी मां, मेरा बाप, मेरा भाई, मेरी बहन, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरे मित्र, मेरे सगे, मेरे सम्बन्धी, मेरी जान पहचान वाले, मेरे (अनेक तरहके हाथी, घोड़े, शयनादि) साधन, मेरी दौलत, मेरा खाना पीना और मेरे वस्त्र, ऐसे ऐसे अनेक पदार्थोंके बन्धनोंमें फँसे हुए लोग जीवनके अन्ततक ग़ाफ़िल बनकर आसक्तिसे ही कर्मबन्ध करते रहते हैं।

विशेष—चिपटना अर्थात् आसक्ति। जहां तक आसक्तिका गहरा संस्कार है वहां तक सब संबंध मोहके संबंध बनते रहते हैं, किन्तु कर्तव्यसे संबंध नहीं बनते। मोह और ममताका वेग नरम पड़नेपर ही मोह संबंध छूट सकता है। एक ही कर्म-जो ममत्वभाव या निर्ममत्वभावसे किया है, उसमें बहुत ही अंतर पड़ जाता है। आसक्तिसे जो कर्मबंध होता है वह निरासक्तिसे नहीं होता।

(२) मानव भी आसक्तिके कारण साधन और सम्पत्तिके लिए रात दिन चिंता करता हुआ, काल अकालकी कुछ भी पर्वाह न करके रागसम्बन्ध और धनादि का लोभी बनकर, विषयोंमें चित्त फँसाकर निर्भयतासे विश्वमें लूटपाट मचाने लग पड़ता है, और बारम्बार अनेक प्रकारसे हिंसा कर डालता है।

विशेष—आसक्ति परिग्रह बढ़ानेकेलिए हेतुरूप है, और परिग्रहवृत्ति ज्यों ज्यों बढ़ती है त्यों त्यों प्रेम, प्रमोद, मैत्री तथा मध्यस्थता आदि उच्च गुण नष्ट हो कर स्वार्थ, प्रपंच, तथा ठगाई आदि दोषोंका जन्म होता रहता है। इन दोषोंसे पहले मानसिक, फिर वाचिक और कायिक हिंसा होनेकी भी संभावना रहती है। इसलिए जिस आदमीकी इच्छा सच्चा अहिंसक बननेकी होती है उसे सबसे पहले धीरे धीरे आसक्तिका त्याग करना सीखना चाहिए। परिग्रही कदाचित कायासे अहिंसक हो सके या रह सके, परंतु उसके हृदयमंदिरमें मानसिक हिंसाकी वृत्तिका बिगाड़ तो अवश्य होता ही है।

(३) जम्बूने पूछा—गुरुदेव ! आसक्ति कैसे कम हो सकती है ?

गुरुदेव बोले—जम्बू ! इसका पहला उपाय विचार और दूसरा उपाय संयम है। देख; प्रथम तो इस संसारमें मनुष्योंकी आयु ही बहुत छोटी है, फिर उसमें बुढ़ापा आनेपर कान, नाक, जीभ और स्पर्शेंद्रियोंका ज्ञान घटता जाता है। अचानक बुढ़ापे को देखकर उस समय वह दिङ्मूढ बन जाया करता है (कुछ नहीं सूझता, अतः इस बातको खूब समझ)।

विशेष—जवानी अत्यंत चंचल है, थोड़े ही दिन पहले जिस आदमी के अंगमें जवानीकी मस्ती और आंखमें जवानीका नूर चमकता था वही

आदमी थोड़े दिन बीतने पर दीन, हीन और क्षीण बन जाता है। जवानी की अवस्था ही चेतनविकासके विकासकी साधना की आयु है। उसके बीतनेपर बुढ़ापेमें शरीर भी पराधीन जैसा बन जाता है।

(४) फिर जरा अवस्थावाला बूढ़ा आदमी जिस किसीके साथ रहता है, उसके वे सगे सम्बन्धी ही बुढ़ापेमें उसे तिरस्कृत करके धक्का देकर निकाल देते हैं, मानो एक तरहसे उसे मँझधारमें छोड़ देते हैं। साथ ही वह भी स्वयं अपने कुटुंबिओं की निन्दा बुराई करने लगता है, या फिर कुटुंबको निराधार बनाकर परलोक चला जाता है सारांश यह है कि हे जीव! वह कुटुंब तुझे दुःखोंसे बचानेवाला या आश्रय देनेवाला नहीं है, और तू भी उन्हें बचाने या आश्रय देनेमें असमर्थ है। फिर बुढ़ापेमें तो वह जीव हास्य, क्रीड़ा, भोग-विलास या शृंगारके योग्य भी नहीं रहता।

विशेष—यहां जिस क्षेत्रमें जीव जुड़ा है उस क्षेत्रसे वास्तविकताका विचार किया गया है।

(५) जंबू! यह जानकर धीर एवं धीमान पुरुष इस उत्तम अवसरको पाकर यथाशीघ्र विचार मार्ग के अभिमुख होकर संयमी बनता है। घड़ी भर भी प्रमाद नहीं करता, कारण वह जानता है कि यह समय, जवानी और आयु ये सब एक दम कूच करजायंगे (ऐसा विचार करने से आसक्ति घटती है)।

(६) परन्तु जो मनुष्य ऐसा विचार नहीं करते वे असंयमसे जीवित रहनेकेलिए आतुर होकर ग़ाफ़िल होते हुए विश्वमें जैसा काम किसी दूसरेने नहीं किया होगा वैसा काम मैं करूंगा, यों सबसे स्पर्धा करके बहुतसे प्राणिओंका भेदनं

करता है, मारता, काटता और लूटता है, प्राणविहीन करता है, उनका धन दौलत लूट लेता है, इत्यादि अनेक प्रसंगमें आए हुए जीवोंको त्रास पहुंचाता रहता है ।

विशेष—मोह संबंधसे विचार और विवेक बुद्धि नष्ट होने से असंयम, कीर्ति, लालसा और हिंसादि दोष कैसे संभव होते हैं ? इसका इसमें चित्रण किया है।

(७) जम्बू ! (परन्तु इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न करते हुए जो ऐहिक प्राप्ति न हो तो 'सगे सम्बन्धिओंका मैं पोषण करूंगा' ऐसे अहंकारके वचन निष्फल हो जाते हैं) पहले या पीछे उसके कुटुंबको ही उलटा उसका पोषण करना पड़ता है अथवा मानलो, कि कदाचित (अर्थप्राप्तिके द्वारा)कुटुंबीजनोंका वह पोषण करता है तो भी (इससे क्या?) वे कुछ उसे आपत्तिसे बचा सकनेवाले तो नहीं हैं, एवं वह स्वयं भी उन्हें नहीं बचा सकता ।

विशेष—कुटुम्बके ऋणको चुकानेके बहानेसे जीव मोह संबंध किस तरह पोषता है, यह इसमें स्पष्ट किया है ।

(८) इस ढंगसे परिग्रह भावनावाला पुरुष अपने ऐसे अनर्थजन्य धनका ('मेरे और मेरे कुटुंबके काम आयगा' यही सोचकर उसका)संग्रह किए जाता है, परन्तु अन्तमें उसे भी अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे वह अपने आप भी उसका उपयोग नहीं कर सकता, तब आगेकी तो बात ही क्या की जाय ?

विशेष—पुत्र या कुटुम्बकेलिए धनको इकट्ठा करके उसे देने मात्र में ही कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता । दिया हुआ धन भी यदि संयोग

संस्कारके अनुकूल न हो, तो धूलमें मिल जाता है अर्थात् उनकेलिए परिग्रह वढ़ाए जाना केवल भ्रममूलक मान्यता है।

(९) ऐसे समयमें धन भी काम नहीं आता, और जिनके साथ रहता है (या जिनकेलिए धनसंग्रह करता है) वे सगे संबंधी भी उससे तंग आकर पहले या पीछे उसे धिक्कारते हैं और फिर उसे मँझधारमें छोड़ देते हैं। या वह स्वयं ही रोगोंसे तंग और लाचार होकर उन्हें छोड़ देता है, और कदाचित यह न वने तो भी, हे जीव! वे सब तुझे अथवा तू स्वयं अपने सगोंको वचा सकनेमें समर्थ नहीं है, इस वातको कई वार अपने चिंतनमें रख।

(१०) फिर प्रत्येक प्राणी अपने अपने सुख और दुःखका स्वयं ही निर्माता और भोक्ता है यही समझकर तथा अपनी आयुको नदीके वेगकी तरह जातें हुए देखकर (भविष्यपर आधार न रखते हुए) हे पंडित आत्मन्! तू स्वयं ही अपने अवसर को पहचान।

विशेष,—'मैं ही करता हूं तब ही सब कुछ होता है वरन् इन सबका क्या हो? यह झूठा अभिमान मात्र है और इस तरह माने हुए कर्तव्य धर्मकी ओटमें एक महास्वार्थमय शत्रु छुपा हुआ है। उसका मूल शोधकर अप्रमत्त रीतिसे शुभ और शुद्ध प्रयत्न करते रहना ही पुरुषार्थका हेतु है।

ऐसे अवसर, ऐसी योग्यता, ऐसे साधन वार वार प्राप्त नहीं होते। जिस पदार्थसे आज दुःखका वेदन होता है उसी पदार्थसे भविष्यमें सुख का वेदन होनेवाला है। इसलिए सत्पुरुषार्थ करो।

(११) साधक! जहां तक कान, आँख, जीभ, नाक और कायाकी ज्ञानशक्ति मंद नहीं पड़ी है, वहीं तक आत्मार्थ सिद्ध

करनेका प्रयत्न करना योग्य और कार्यकारी है (इस बातका विचार करो और अपनी आत्माको प्रतिक्षण समझो)।

उपसंहार—स्वजन तथा धनादिका संबंध नाशवान है, नाशवानकी आसक्तिमें सुख नहीं होता। शाश्वत सुख पाना सबका ध्येय है। वह आसक्तिमें उपलब्ध नहीं होता। इसीकारण असंतोषका अनुभव होता है। संबंधकी आसक्ति से ममत्व होता है, और ममत्वसे अहंकारकी वृद्धि होती है, इसलिए संबंधोंकी आसक्तिसे अलग रहकर निरासक्त भावसे सत्कर्म करते रहना उचित है।

इसप्रकार कहता हूँ

लोकविजय अध्ययनका पहला उद्देशक समाप्त।

दूसरा उद्देशक
संयमकी सुदृढ़ता

संयमकी भावनाकी ओर अभिरुचि होनेके बाद या संयमकी साधनामें जानेके पश्चात् संयमके प्रति कदाचित् अरति-अप्रेम या अरुचि हो जाय तो क्या करे ? इसे बताते हुए श्री सुधर्मास्वामी जंबूसे यों बोले—

(१) जंबू ! बुद्धिमान् साधकको त्यागमार्गमें कदाचत् कुछ अच्छे बुरे, कड़वे मीठे निमितसे अरुचि होने लगे तो वह उसे दूर रक्खे, क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मबंधनसे बहुत ही थोड़े कालमें मुक्त होता है।

विशेष—साधनाका मार्ग बड़ा ही कठिन है। घड़ीभरमें प्रलोभन होता है तो घड़ीभरमें विपत्ति आ जाती है पतनके ऐसे अनेक निमित्त खड़े होते रहते हैं। घड़ीमें प्रशंसा तो घड़ीमें निन्दा, ऐसे अनेक कारण उपस्थित होजाते हैं। वहां नटकी तरह एक लक्ष्यपर रहकर समभाव रखते हुए जो साधक अपना जीवन निर्वाह चलाता है, वह तुरन्त ही उस पार उतरता है, परन्तु जो निमित्तकारणोंकी ग्रन्थियोंमें फंसजाता है,उसकी उलझनोंका पार नहीं रहता।

(२) बहुतसे अज्ञानी मूढ जीव परिषह या उपसर्ग आनेपर वीतराग देवकी आज्ञासे विपरीत वर्ताव करते हुए संयमसे भ्रष्ट हो जाते हैं।

(३) 'हम अपरिग्रही रह सकेंगे' यह कहकर बहुतसे दीक्षित होते हुए भी वीतरागकी आज्ञासे भ्रष्ट होकर मुनिवेशको लजाकर काम भोगका सेवन करते रहते हैं। तथा उसे पानेके

उपायोंमें रचे पचे रहकर) मोहमें वारम्बार डूवे पड़े रहते हैं, वे न इस पारके रहते हैं न उस पार पहुँचते हं।

विशेष—मुनिवेश होनेसे तो गृहस्थ नहीं हैं, और मुनिपदके उत्तरदायित्वके अनुसार वर्ताव न करनेसे वे मुनि भी नहीं हैं।

(४) सचमुच वे ही विमुक्त पुरुष हैं जो सदा संयमका पालन करते हैं। तथा जो निर्लोभसे लोभको जीतकर पाए हुए कामभोगोंकी वांछा भी नहीं करते, और पहलेसे ही लोभको निर्मूल करके फिर ही त्यागी वनते हैं, ऐसे पुरुष कर्म रहित वनकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। यही विचारकर जो लोभको नहीं चाहते वे ही साधक असल अणगार कहलाते हैं।

विशेष—लोभ सव दोषोंका मूल है इस ओर की आसक्ति घटनेपर ही साधुता आती है। ऐसी शुद्ध साधुता ही विकासका साध्य कराकर आत्मसाक्षात्कार और विश्वका साक्षात्कार करा सकती है। इस दृष्टिसे यहां लोभको प्रथम स्थान दिया गया है।

(५) अज्ञानी जीव काल या अकाल की कुछ भी अपेक्षा रक्खे विना धन और वनितामें गहरी आसक्ति रखकर, रात दिन (चिन्ताकी भट्टीमें) सुलगता रहता है और विना विचारे वार वार हिंसकवृत्तिसे अनेक दुष्कर्म कर डालता है।

विशेष—आसक्ति और मध्यस्थता ये दोनों विरोधी वस्तुएं हैं। आत्माके सहज गुण आसक्तिसे लुप्त हो जाते हैं, और समझ, कार्यदक्षता तथा ऐसे अनेक गुणोंका धारण करनेवाला साधक भी अक्षम्य भूलें कर वैठता है,, अतः आसक्तिको दूर करना यह साधनाका मुख्य अंग होना परिघटित है।

(६) ऐसी स्खलनाके मुख्य कारण कहां पाए जाते हैं, उन्हें वताते हुए गुरुदेव कहते हैं, कि जंवू! आत्मवल, ज्ञातिवल

स्वजनवल, मित्रवल, प्रेत्यवल, देववल,राजवल, चोरवल, अतिथिवल, कृपणवल तथा श्रमणवल इत्यादि अनेक प्रकारके वलोंकी प्राप्तिकेलिए जीवहिंसादि कार्यमें प्रवेश करता है। वहुत वार 'इसकार्यके द्वारा पापका क्षय होगा अथवा परलोकमें सुख मिलेगा' ऐसी वासनासे भी वहुतसे अज्ञानी जन ऐसे आरम्भके काम किया करते हैं।

विशेष—यहां आत्मवल अर्थात् शरीरवल और प्रेत्यवल-यानी भवांतरमें जाते हुए वलको लिया गया है।

(७) इसलिए वुद्धिमान साधक ऐसे कर्मोंकेलिए आप स्वयं हिंसा न करे, दूसरे आदमीके द्वारा न कराये, और हिंसा करने वालेको अनुमोदन भी न दे।

(८) यह मार्ग आर्यों-वीतरागदेवोंनें वताया है, अतः चतुरपुरुषोंको अपनी आत्माके ऊपर की वृत्तिसे लिप्त न होना पड़ें ऐसे इस मार्गमें लगना चाहिए।

उपसंहार—आत्माका साक्षात्कार जहाँ तक न हुआ हो वहां तक वृत्तिका पूर्व अध्यासोंके कारण साधकको डिगमिग स्थितिके होने का भय रहता है। ऐसें समयमें जिसपुरुषनें यह परमरस चख लिया है, उनके वचनोंकी अपूर्वश्रद्धा और ऐसें पुरुषोंकी आज्ञाका आराधन ही अपूर्व अवलंवन वनता है।

इसप्रकार कहता हूँ

लोकविजय अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त।

तीसरा उद्देशक

मान त्याग और भोगविरक्ति

संयममें अरति होनेका कारण अज्ञान, लोभ और काम है। इसका वर्णन दूसरे उद्देशकमें देकर अब सूत्रकारको लोभसे दूसरे अङ्कके मान कषाय (अहंकार) तथा भोग त्यागके विषयमें कहना इष्ट है।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू! यह जीवात्मा भूतकालमें अनेक बार ऊंचे गोत्रमें पैदा हो चुका है, और असंख्य बार नीचगोत्रमें भी उत्पन्न हुआ है। इसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं है (कारण दोनों स्थिति में कर्मवर्गणाओंके पुद्गल तो हैं ही), यह जानकर ज़रा भी अहंकार या दीनता करनेकी आवश्यकता नहीं है। और किसी भी मदके स्थानकी वाँछा न करनी चाहिए। जो आदमी जिस वस्तुका मद करता है, वह उसी ही स्थितिमें जाकर हीन हो जाता है। यह समझते हुए कौन विद्वान अपने गोत्रका मद करेगा? अथवा किस वस्तुमें आसक्ति रक्खेगा?

विशेष—गोत्र का अर्थ कुल और आचरण होता है, एवं गति भी होती है। ऊँच या नीच कुलमें जन्म लेना या ऊँची नीची गतिमें जाना यह भवभ्रमणकी दृष्टिसे समान है। असलमें जीव मात्र समान ही हैं। कोई ऊँच या नीच नहीं है। जो उच्चताका अभिमान करता है, उसका आत्मा गिरता है; और जो अपनी नीची स्थिति मानकर पामरता पैदा करता है, वह भी अपने आप दुखी होता है।

(२)इसलिए बुद्धिमान पुरुष ऊंचेपनका हर्ष या (नीचेपन का)शोक नहीं करता । 'सब जीवोंको सुख प्रिय है' इसीविचार से सबके साथ विवेक पूर्वक व्यवहार करें, और याद रक्खे कि जीव अपने प्रमादसे ही अंधापन, बहरापन, गूंगापन, टुंडापन, कुबड़ापन, टेढ़ापन, तथा कबरापन आदि पाता है, और अनेक प्रकारके भयंकर स्पर्श(दु:ख)की यातनाएं सहता है ।

विशेष—ईश्वर, शक्ति या दूसरा कोई व्यक्ति कोप करके अलग अलग दु:ख देते हों ऐसा कुछ नहीं हैं । जीवात्मा स्वयं अपनी ही भूलसे दु:खी होता हैं, इसलिए भविष्यमें भूल न होने पावे ऐसे ढंग से जो आदमी विवेक पूर्वक रहता है, वह स्वयं प्रकृतिका कृपाभाजन हो सकता है आसक्ति या फलका मोह रक्खे विना इसमें सत्कर्म करने की प्रेरणा हैं ।

(३) इस प्रकार कर्मरचनाके स्वरूपसे अनजान जीवात्मा इस संसारमें रोगसे पीड़ित होकर और अपकीर्तिको पाकर जन्म मरणके चक्रमें फँसता रहता है ।

(४)क्षेत्र तथा पदार्थों में ममत्वशील प्रत्येक जीवको जीवन और सुख बहुत ही प्यारा लगता है, फिर भी कर्मके परिणामसे इसे मरण और दु:ख दोनों सहने पड़ते हैं ।

(५)कभी कभी शुभ कर्मके अनुयोगसे ऐसे बाल(अज्ञान) जीवोंको अनेक तरहके वस्त्र, मणि, आभूषण, सुवर्ण और स्त्री आदि पदार्थ मिल जायँ तो भी इन्हें पाकर इनमें ही सतत आसक्त बना रहता है ।

विशेष—जहां आसक्ति है वहां सुखद साधनोंकी उपस्थिति हो तो भी मानसिक दु:ख तो है ही ।

(६) इस प्रकार पूर्णतया बाल और मूढ़ बना हुआ जीव

विपर्यास पाकर यह बकता फिरता है कि 'इस जगतमें तपश्चर्या, यम या नियम किसी काम के नहीं हैं।'

विशेष—इंद्रियदमन, मनकादमन और संयम ये सब आत्मविकासके मुख्य और उपयोगी अङ्ग हैं। इनके पालनकरनेसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है; और शरीर तथा मन स्वस्थ रहनेसे विकासमार्गमें आगे बढ़ा जा सकता है, अर्थात् किसी भी तरहके साधककेलिए यम और नियम आदिकी बड़ी आवश्यकता है। परन्तु मोह और आसक्ति ऐसे हैं कि वे समर्थ आत्माको भी पामर बना छोड़ते हैं। यही कारण है कि वह खुद इंद्रियोंका गुलाम बन जाता है। और यम नियमका आचरण नहीं कर सकता। वह यह कल्पना भी करता है, कि इससे कुछ भी लाभ नहीं होना है यह किसलिए चाहिए ? यह तो नितान्त मूर्खता है। शरीरको कष्ट देनेसे क्या मिलेगा। ऐसे ऐसे विचार वह स्वयं करता है, और इसी तरहका प्रचार भी करता है, परन्तु उसका यह प्रलाप अधिकांश स्वच्छन्द और पामरता से युक्त होनेसे लोगों पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसी कारण वह सत्य और सैद्धांतिक वस्तुके रूपमें निश्चित या स्थायी नहीं रहता।

(७) परन्तु जो पुरुष सच्चे और शाश्वत सुखके इच्छुक हैं, वे ऐसे स्वच्छन्दी और असंयमी जीवनकी इच्छा नहीं करते। वे तो जन्ममरणके मूलको ढूंढकर (उससे छूटनेकेलिए) संयमके पालनमें ही दृढ़तासे उद्यमशील रहते हैं।

(८, ९, १०,) कालका कुछ भरोसा नहीं है, सब जीव लम्बा (और नोपकर्मिक) आयुष्य तथा सुख चाहते हैं, और वे जीवित रहना चाहते हैं। मरण और दुःख सबको अप्रिय (प्रतिकूल) तथा जीवन और सुख प्रिय (अनुकूल) लगता है।

विशेष—जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित वस्तु है, और वह कब आयगी इसका भी कोई भरोसा नहीं है। फिर भी सब जीवित

रहना चाहते हैं। मृत्युशय्या पर पड़े हुए आदमी को मौत भयंकर लगती है। यदि इसका कोई कारण है, तो यही है कि इसने जो ध्येय रक्खा था, वह प्राप्त न हुआ। साध्यकी साधना न हुई। इसीसे उस जीवको अपनी अपूर्णता (अखरती रहने) के कारण ही दुःख होता है।

(११)(इतने पर भी वह ध्येयको पानेकेलिए जीवनपर्यंत ऐसे उलटे ही प्रयास किया करता है) बहुतसे लोग दुपाए(मनुष्य) और चौपाए(पशु) रखकर इनके द्वारा द्रव्यसंयमके बदले अपनी स्वार्थपूर्तिकेलिए मात्र धन इकट्ठा किया करते हैं और उनमें मन, वाणी तथा कर्मसे आसक्त रहते हैं।

विशेष—पहले तो अज्ञानसे मनोनीत सुख भोगनेके साधनोंको इकट्ठा करनेमें भयङ्कर कष्ट भोगना पड़ता है,फिर भी उन साधनोंको धर्मविहित प्रयत्नोंसे पाता है, या और किसी तरह ? यह एक प्रश्न है। और इसीसे वैसी अर्थप्राप्तिकी इच्छाकी वास्तविक तृप्ति नहीं होती।

(१२) ऐसी ध्येयशून्य प्रवृत्तिसे भी कदाचित उसके पास अनेक प्रकारकी संपत्ति और साधन सब इकट्ठे हो जायं, तब भी अंतमें उसे उसके भाई बंधु हो बांटकर खा जाते हैं, या फिर चोर चुरा लेते हैं, अथवा राजा लूट लेते हैं या व्यापार धंधेके उलटफेरमें ही बर्बाद हो जाता है अथवा आग ही जलाकर भस्म कर डालती है।

विशेष—बाहरी वस्तुओंका संसर्ग क्षणिक है, क्योंकि उसका संबंध केवल शरीर से है। साधनरूपसे पदार्थों को पाना अलग बात है और उसे ही साध्य मानकर आसक्ति रखना अलग बात है। पदार्थोंकी आसक्तिमें अधर्म और परितापके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस तरह उसके साधन और साध्य, दोनों खोए जाते हैं।

(१३)इस तरह निरर्थक रीतिसे परवस्तुके लिये बाल जीव क्रूरकर्म करके(एकत्र किया हुआ धनादि लुट जानेपर ऐसे दुःख

से उलटा जागृत होनेके वदले) अत्यधिक विपर्यास पाता है।

विशेष—इसका ध्येय नश्वर पदार्थोंको एकत्र न करनेका होनेपर भी नाशवानको नित्य मानकर यह प्रयत्न करता है, न तो इन पदार्थोंके संग्रह में ही सुख है, न इनकी प्राप्ति या भोगमें ही सुख है। इस तरह इन जीवोंको देर सवेरमें अनुभव तो होता ही है। फिर नाशवानका नाश होना इनका अपना स्वभाव ही है, तव भी इनके वियोगसे यह रोता है, यही तो है जगतकी अज्ञानताका नया अचरज!

(१४) यह सब मुनिदेव (वीरप्रभु) ने अनन्त अनुभव पूर्वक वताया है।

(१५) यह वात स्पष्ट होनेपर जो मात्र स्वच्छन्दी और असंयमी हैं वे इस वात को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि अनौघतरा-संसारके प्रवाहको तिर सकनेमें असमर्थ हैं। मात्र वे विषयकी लालची वृत्तिवाले होनेसे संसाररूपी समुद्रमें गोते खाया करते हैं। वे इस पार जा सकते हैं न उस पार ही पहुंच सकते हैं।

विशेष—अज्ञानीजीवकी शक्ति स्वच्छंदतामें परिणमित होती है, और वृत्तिका स्वच्छंद प्रसार तात्त्विक असंयम है।

(१६) फिर वहुतसे ऐसे भी अज्ञानी जीव होते हैं, जो संयम ग्रहण करनेपर भी संयममें स्थिर नहीं रह सकते, वे अनजान जीव असत्य उपदेशको पाकर असंयममें ही अनुरक्त रहते हैं।

विशेष—यह संवंध संयमका स्वांग भरने जैसा है। जहां स्वच्छंदता है वहां संयमका दंभ हो सकता है, संयम नहीं!

(१७) तत्वके समझानेवाले साधकको यह उपदेश (सत् असत् का भाव वता) देनेकी कोई आवश्यकता नहीं (कारण वह विशेषज्ञ होनेसे स्वयं सीधे मार्ग पर चलता है)।

(१८) परन्तु जो वाल-अज्ञानी होता है वह विषयोंमें रक्त

होकर विषयों का सेवन करते करते और उनमें भोगेच्छा शान्त न होने से दुःखोंको बढ़ाकर दुःखोंके ही चक्रमें भ्रमता रहता है, यह उपदेश ऐसे जीवोंकेलिए ही है।

विशेष—इन दो सूत्रोंमें सूत्रकार कहते हैं कि उपदेशकी आवश्यकता जिज्ञासुको ही है। स्वच्छंदी और निरकुंशको दिया गया उपदेश अनर्थकारी सिद्ध होता है, तब जिज्ञासु उपदेशकको स्वयं ढूंढ लेता है।

उपसंहार—अहकार अनिष्ठ तत्त्व है, इसी तरह पामरता, दीनता भी अनिष्ट तत्व है। इन दोनोंके होनेका कारण धन प्राप्ति, धनहानि, भोगोंकेलिए धनपाना, साधनपाना तथा उच्चता की या उच्चक्षेत्रकी प्राप्ति किसलिए, इसका फल क्या होगा, इत्यादि जानकर भ्रांतिमार्गको छोड़कर सच्चे मार्गमें चलना या चलनेका सतत प्रयत्न करना ही उत्तम है।

इस प्रकार कहता हूं

लोकविजय अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।

चतुर्थ उद्देशक

भोगोंसे दुःख किसलिए?

कामभोगोंसे आसक्ति, आसक्तिसे कर्मबन्ध, कर्मवंधसे आध्यात्मिक मृत्यु, आध्यात्मिक मृत्युसे दुर्गति और दुर्गति से दुख, इसरीतिसे कामभोग दुःखका मूल है।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू ! कामभोगोंकी आसक्तिसे रोग उत्पन्न होते हैं।

विशेष—विषयों की ओर गहरी आसक्तिके कारण निरन्तर चित्तताप रहता है। चित्तग्लानिके कारण ठौर कुठौर नीति-अनीतिका विचार किए विना यह जीव विषयोंको प्राप्त करने के लिए हायतोबा मचाने लगता है। इस तरह कुप्रयत्न कुसंग तथा चित्तग्लानिके परिणामसे शारीरिक रोग भी उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि 'भोगे रोगभयं' की उक्ति सार्थक होती है।

(२) ऐसे समय जिनके साथ वह रहता है उसके वे स्नेही जन ही उसकी उपेक्षा करते हैं अथवा (सेवा सुश्रूषा न होने पर) वह (रोगिष्ठ) उनकी उपेक्षा करता है।

विशेष—ऐसे जीवकी बुरी प्रवृत्तिसे या रोगसे स्नेहीजनों का स्नेह समाप्त हो जाता है अथवा उनके प्रति अप्रसन्नता के भाव उठते हैं।

(३) कभी कभी स्नेही स्नेहाधीन रहें तव भी वे उसे अपने रक्षण या शरणमें नहीं रख सकते और इसी तरह वह खुद भी उन्हें रक्षण या शरण देनेमें समर्थ नहीं हो सकता। अपने अपने

सुख-दुःख सब जीवोंको अलग अलग भोगने पड़ते हैं।

विशेष—यह आसक्तिसे पैदा होने वाले परिणामको लक्ष्यमें रखकर कहा गया है।

(४) ऐसी प्रकृतिके जीव भी इस संसार में हैं कि जिन्हें (मृत्युके किनारे तक निरन्तर) भोगकी ही वाँछा रहा करती है। उन्हें थोड़े बहुत जो कुछ धन या काम भोग मिले हैं, उन्हें भोगनेकेलिए मन, वाणी और शरीरसे उनमें खूब आसक्त हो जाते हैं।

विशेष—भोगकी तीव्र आसक्ति प्राप्त पदार्थों का संतोषपूर्वक उपयोग नहीं करने देती, बल्कि संग्रहवृत्तिकी ही अधिकाधिक पोषणा करती है।

(५) और यह धन आगे काम आएगा यह मानकर उसका रक्षण करनेकेलिए और बहुतसे कारणोंको रोक लेता है। इतने पर भी उसका एकत्र किया हुआ धन किसी न किसी तरह नष्ट ही हो जाता है। या तो वह धन भाइयों द्वारा बांट लिया जाता है, या चोरी हो जाती है, राजा दंडित करके लूट लेता हैं, या फिर किसी तरह विनष्ट हो जाता है, या आगसे ही जल बल कर खाक हो जाता है।

विशेष—संग्रह वृत्तिका दुष्परिणाम अपनी उपस्थिति या अनुपस्थितिमें कैसा होता है, यही बात यहां चित्रित की है।

(६) इस रीतिसे कुटुम्बादिकेलिए क्रूरकर्म करके इकट्ठा किया हुआ धन भी इसी तरह जब अपने बदले औरों के यहाँ चला जाता है तो उसे बहुत दुःख होता है, और दुःखके बोझसे मूढ होकर जीव बारम्बार विपर्यास पाता है।

विशेष—यह सूत्र अपने भविष्यकेलिए कुटुम्बके निमित्त या किसी दूसरेकेलिए भी संग्रहवृत्तिका पोषण करनेकेलिए निषेध करता है।

(७) इसलिए धीर पुरुषो ! तुम्हें विषयोंकी आशा और लालसासे दूर रहना ही उचित है।

विशेष—विपयोंकी आशा अर्थात् आसक्ति और लालसा यानी परिग्रह ये दोनों विप हैं। इस विपके संसर्गसे आत्माकी मृत्यु होती है।

(८) तुम खुद ही आशारूप शल्य अंतःकरणमें रखकर अपनें आप ही दुःखी होते हो।

विशेष—आशासे चित्त संतप्त रहता है, अतः इसे शल्य यानी कांटे की उपमा दी है। शल्य छोटा होनेपर भी हृदयके कोमल भागमें चुभ जानेसे प्रतिक्षण चिंता, खेद, दुःख आदि उत्पन्न होते रहते हैं।

(९) पैसेसे भोगोपभोग मिलते हैं और नहीं भी।

विशेष—जो जड संस्कृति धनको भोगप्राप्तिका साधन मानती है इसे भी यह सूत्र जवाब देता है, कि धन या पदार्थ मिलनेपर भी जिसमें संग्रहवृत्ति नहीं है वही इसका उपयोग कर सकता है, और नहीं। फिर इससे भोगोपभोगके साधन मिलें तब भी क्या ? शरीरकी स्थिति बिगड़ी हुई हो तो भोगोंसे वंचित ही रहना पडता है, या फिर मिला हुआ धन भी वृथा खर्च हो जाता है,और कदाचित भोगोंके भोगनेका अवसर मिले तो भी 'भोगसे सुख होता है' यह तो एक भ्रांति मात्र ही है। प्राप्त हुए क्षणिक सुखके गर्भमें अनंतगुणा अधिक दुःख है क्या इसका अनुभव कुछ दूर है ?

(१०) फिर भी जो जीवात्मा मोहसे अंधा हो गया है' यह अनुभव होनेपर भी ऐसी सीधी और सरल बातको समझ नहीं सकता यही विश्वकी विचित्रता है।

(११) उलटा स्त्रियोंमें आसक्त रहनेंवाले जन यह भी बोलते हैं कि "केवल स्त्रियां ही सुख पानेका साधन है।"

विशेष—जो व्यक्ति स्त्रियोंको भोग भोगनेका पदार्थ मानते हैं, वे सचमुच स्त्रीजातिका और अपनी आत्माका अपमान करते हैं।

(१२) परन्तु ठीक तरह देखो तो यह मान्यता भ्रांतिमूलक है, और ऐसी आसक्ति ऐसे मूढ जीवोंकेलिए दुःख, मोह,मरण, नरक और तिर्यंचगतिका कारणभूत बनती है।

विशेष—११-१२वें सूत्र स्त्रीजातिका सन्मान और पुरुषजातिकी मर्यादाका भान कराते हैं। किसी भी पदार्थका आसक्तिपूर्वक उपयोग करना भोग है। भोगवृत्ति दुःखको जन्म देती है, और आत्माको डुबो देती है।

(१३) परंतु मोहसे मूढ होनेवाले प्राणी अपने वास्तविक धर्मको नहीं जान सकते।

(१४)अतः अनंतज्ञानी तीर्थंकर देव पहलेसे ही कह गए हैं, कि कंचन और कामिनी (परिग्रह और अब्रह्मचर्य) ये महामोह के निमित्तभूत हैं, इसलिए प्रवीण और चतुर साधक ऐसे निमित्तों में प्रवृत्त नहीं होते।

विशेष—१३-१४ वें सूत्र पदार्थोंका त्याग या वृत्तिका संयम किसलिए है यह स्पष्ट कर देते हैं, अतः यह सिद्ध होता है, कि वासनाके वेगको जगाने वाले निमित्तोंसे बचनेका प्रयत्न करना तो आवश्यक ही है, परंतु इतनेसे कुछ बननेवाला नहीं। उस वासनाके मूलको मिटानेकेलिए भी सतत मानसिक प्रयत्न जारी रखना चाहिए अर्थात् साधकको प्रतिक्षण अप्रमत्त रीतिसे जागृत रहना उचित है।

(१५)इसभांति कुशल पुरुषको अप्रमादसे मोक्ष और प्रमाद से होनेवाले मरणको विचारकर तथा शरीरको क्षणभंगुर समझकर प्रमादको दूर करना चाहिए।

(१६) भोगोंसे कुछ तृप्ति नहीं होती इसीलिए ये किसी कामके नहीं हैं। ओ मुनि ! सदा यही विचार रख कि कामभोग की इच्छा महाभयंकर है।

विशेष—१५-१६वें सूत्रमें विषयकी ओर झुकनेका मार्ग रोककर मन

को आत्मामें गमन करनेका प्रयोग बताया हैं।

(१७) संयमी मुनि किसी जंतुको पीड़ा नहीं देता।

विशेष—इसरीतिसे भोगविरक्ति और अहिंसा संयमके मुख्य अङ्ग बनते हैं गाढ आसक्तिसे होनेवाली क्रिया भोग है, और आत्माके उपयोगसे चूककर वृत्तिको आगे बहता छोड़ना हिंसा है। इस तीव्र आसक्ति और हिंसाके मोड़से दूर रहना ही संयम है।

(१८) जो साधक ऐसे उत्कृष्ट संयमको पालते हुए किसी प्रकारका खेद नही पाते ऐसे अप्रमादी और पराक्रमी मुनि ही प्रशंसाके योग्य हैं।

विशेष—यहां तक जिस संयमकी व्याख्या आंकी गई है उसे मौलिक संयममें अखंड जागृत और सत्पुरुषार्थी रहना चाहिए क्योंकि यही आदर्श मुनित्वकी मर्यादा है।

(१९) ऐसा मुनि साधक अपने संयमनिर्वाहके साधन गृहस्थ-के पाससे निर्दोष रीतिसे पा सकता है। कदाचित् कोई दे या न दे तो भी उसके ऊपर क्रोध न करे। थोड़ा मिलनेपर निंदा न करे, और यदि वह स्पष्ट नाहीं कर दे तो, वहांसे तुरंत वापस मुड़ जाय, और कुछ दे तो भी लेकर उसी समय अपने स्थानपर आ जाय।

विशेष—इस सूत्रमें "संयमकेलिए साधनोंका उपयोग करनेमें दोष नहीं है" यह बताकर भोग और उपयोगका भेद बताया है। तथापि संयमी को साधन मिलें या न मिलें, तो भी राग द्वेष न हो और समताको निभाना संयमकी कसौटी है। जनता का कर्त्तव्य है, कि संयमी साधकके लिए उपयोगी साधन जुटाये परंतु यदि जनता अपने कर्त्तव्यको चूक जाय, तो भी सच्चासंयमी साधक अपने मनमें जरा भी दुःख न पावे, एवं संयमके साधनोंको जुटानेकेलिए गृहस्थके अतिसंसर्गमें न आवे।

(२०)मुनिराज ऐसे मुनित्वका पालन करे।

उपसंहार—भोग और उपयोग दोनों अलग वस्तु हैं। एक आसक्तिको बढ़ाता है और दूसरा आसक्तिको घटाकर संयम दिलाता है। एकमें स्वच्छंदता है तो दूसरेमें विवेक है। इसी कारण भोग दुःखजनक बनते हैं और संयम सुख दायक है।

इसप्रकार कहता हूं

लोकविजय अध्ययनका चौथा उद्देशक समाप्त।

पंचम उद्देशक

भिक्षा कैसी ले ?

आहारका वृत्तिपर भी असर होता है, अतः निर्दोषवृत्ति रखनेकेलिए साधकको भोजनकी भी शुद्धि अशुद्धिका विवेक करनेकी बड़ी आवश्यकता है। यहां श्रमण साधक किसरीतिसे भिक्षा और उपकरण[संयम पालन करनेके साधन]जुटावे यह स्पष्ट किया जाता है।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू ! लोग अपनेलिए तथा अपने पुत्र, पुत्री, वधू, जात,पांत, धायमाता, राजा, दास, दासी, नौकर, चाकर,महमान, या सगे संबंधिओंकेलिए, खाने पीनेकी वस्तुकेलिए, सवेरे या सायंकालमें अनेक तरहके शस्त्रोंसे आरम्भ करते हैं और बहुत कुछ संग्रह करके भी रखते हैं।

विशेष—संग्रहमें धनादि और खाद्य पदार्थ, इन दोनोंका समावेश है। खाद्य पदार्थोंमें खराब-सदोष होनेका भय है, और धनादि संग्रह परिग्रहका कारण है, इसलिए ऊपर यह कह आए हैं, कि जगत्के लोग खाने पीने या भोग्य पदार्थ भोगनेकेलिए आरम्भ और परिग्रह दोनों प्रकारकी वृत्तिओंसे जकड़े हुए हैं। गृहस्थोंकी संग्रहवृत्तिका मुनिको चेप न लगने पावे ऐसी जागृत अवस्था रखनेकेलिए उपरोक्त सूचना है।

(२) इसलिए ऐसे प्रसंगमें संयममें उद्यम करनेवाला, आर्य, पवित्र, बुद्धिमान, न्यायदर्शी, समयज्ञ तथा तत्वज्ञ अणगार दूषित

आहार न ले, लिवाये नहीं तथा लेनेवालेकी प्रशंसा न करे।

विशेष—जिसे घर और घरवालोंका ममत्व न हो वह अणगार होता है, जिसका अन्तःकरण निर्मल हो वह आर्य होता है, जिसकी बुद्धि परमार्थ की ओर प्रवृत हो वह आर्यप्रज्ञ है, और न्यायमें ही जिसका निरन्तर रमण हो वह न्यायदर्शी है। समयानुसार क्रिया करनेवालेको समयज्ञ कहते हैं। ये सब विशेषण सार्थक हैं, और उतने ही उत्तरदायित्व के सूचक हैं।

(३) भिक्षु साधक सब दूषणोंसे अलग रहकर निर्दोष संयमका पालन करता है।

विशेष—ये बातें भिक्षासे सम्बन्ध रखती हैं।

(४) वह मुनि क्रयविक्रय(लेनदेन)का कार्य स्वयं न करे, न करावे और करनेवालेकी प्रशंसा भी न करे।

विशेष—प्रस्तुत प्रसंग भिक्षा ग्रहण करनेका है, सूत्रकारका यह आशय है कि अपनेलिए खरीदी या वेची हुई वस्तु मुनिसाधक ग्रहण न करे, मुनिधर्मकेलिए वस्तुका लेना वेचना असंगत है। क्योंकि ऐसा करनेमें ममत्व बंधन, परिग्रह आदि दोषोंके होनेकी संभावना है।

(५) प्रिय जंबू! ऐसा मुनि अपनी शक्ति, अपनी आवश्यकता, क्षेत्र, काल, अवसर, ज्ञानादिका विनय तथा अपने शास्त्र, परमतके शास्त्र और औरों के अभिप्रायको जाननेवाला, परिग्रहकी ममता दूर करनेवाला, तथा अनासक्त भावसे यथा काल धर्मानुष्ठान करनेवाला होकर राग और द्वेषके बंधनोंका छेदन करते हुए मोक्ष मार्गमें आगे बढ़ता है।

विशेष—यहां अवसर देकर समय-कालको देखकर ही काम करनेका निर्देश है। एक ही काम किसी समय आदरणीय होता है और वही काम दूसरे कालमें त्याज्य हो जाता है। जो साधक कालको न पहचाने तो वह कार्य रूढ़िमय होकर अनिष्ट पैदा करता है। फिर अपनी शरीर शक्तिको

देखकर ही योग्य रूपमें धर्माचरण करनेकी प्रेरणा भी दी है। इसलिए जैनदर्शनमें विवेककी प्रतिपल आवश्यकता बताई है, स्वदर्शनके शास्त्र और परदर्शनके शास्त्रोंका अध्ययन करना,मानसिक भावोंको अवलोकन करनेकी शक्तिका संग्रह करना भी मुनिकेलिए बहुत आवश्यक है। यहां यही विशेष रूपसे स्पष्ट किया है।

(६) फिर मुनिको वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, स्थानक और आसन आदि संयमके साधन भी गृहस्थके पाससे निर्दोष रीतिसे ही ग्रहण करने चाहिए।

विशेष—इस प्रकार पहले आहार और फिर संयमीकेलिए उपयोगी दूसरे साधनकी भी शुद्धि बताकर संयमीको बाहरके निमित्तोंसे सावधान रहना सूचित किया है।

(७) मुनि आहारादि भी विवेक पूर्वक परिमित ही ग्रहण करे।

विशेष—जिस रीतिसे गृहस्थ पर बोझ हो जाय या फिर उसे फिरसे पदार्थ उत्पन्न करनेकी तकलीफ़ उठानी पड़े इसरीतिसे कोई भी पदार्थ ग्रहण न करे, यही कहकर यहां भिक्षुसाधकके निर्दोष जीवन का वर्णन किया है।

(८) आत्मार्थी जंबू ! फिर वहां भी भगवानने कहा है कि मुनि,ऐसा अभिमान भी न करे कि'सचमुच मैं बड़ा ही लब्धिपात्र हूं-देखो मुझे आहारादिका कैसा लाभ मिला है" और याचना करते हुए न मिले तो खेद भी न करे। पदार्थोंका योग मिलने पर संग्रह करके न रक्खे,एवं परिग्रहकी वांछा भी न करे। सारांश यह है कि अपनी आत्माको परिग्रहवृत्तिसे हमेशा दूर रक्खे।

विशेष—जैन दर्शनमें अभिमान तथा परिग्रहवृत्तिके त्यागके प्रति कितना सूक्ष्म रीतिसे लक्ष्य दिलाया है,यह ऊपरके सूत्रको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है।

(९)यह मार्ग आर्य पुरुषोंने वताया है, इसके अनुसार वर्ताव करनेवाला कुशलपुरुष कर्मवन्धनमें नहीं वंधता ।

विशेष—मुख्यतासे अहंता और ममता कर्मवंधका कारण है ।

(१०) प्रिय जंवू ! विषयोंकी वांछासे दूर रहना वड़ा कठिन काम है । फिर आयु भी नहीं वढ़ सकती, इसलिए साधकको सतत जाग्रत रहना उचित है । असलमें जो जीव निरन्तर विषय वाँछा किया करता है, वह विषयोंका वियोग होनेपर शोकसागर में पड़कर क्षण क्षण झुरता रहता है, वह केवल झुरता ही नहीं वल्कि लज्जा छोड़ देता है और पीड़ित होता है ।

विशेष—पशु-पक्षीकी योनिमें जो विषयेच्छा होती है वह मनुष्योनिमें मनोविकार होनेपर विषयवांछाका स्वरूप लेता है । यह संस्कार जितना दृढ़ स्वरूप पकड़ लेता है उतना ही इसकेलिए त्याग अशक्य वन जाता है । फिर विषयोंका वियोग ऐसे जीवकी कैसे विकृति करता है इसको वताया गया है यह विचारने योग्य है ।

(११) जो संसार की विचित्रताको जानता है, वह पुरुष लोकके ऊंचे-नीचे या तिर्छे भागको भी जानता है(अर्थात् लोकमें जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, उसके विवेक तकको जान सकता है ।

विशेष—एक ही पदार्थ एक आदमी को इष्ट-यानी प्यारा लगता है और दूसरेको वही अप्रिय यानी अनिष्ट लगता है, जो एकको मित्र लगता है तो दूसरेको शत्रु जान पड़ता है । एकको जहां वंधन लगता है, वहां दूसरे की मुक्ति है । जो संसारकी इस सव विचित्रताको जानता है, वह लोकके ऊंचे नीचे और तिर्छे भागको अर्थात् लोकमानसकी विविध प्रकृतियोंको भी जान सकता है । इसमें अवलोकन वुद्धिका रहस्य वतलाया है ।

(१२) यह जीव विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होकर संसारमें परिभ्रमण करता है। इसलिए मनुष्यजन्म जैसा पाया हुआ यह उत्तम अवसर जानकर जो आदमी विषयादिकी आसक्तिसे वहुत ही दूर रहता है, वही वीर और प्रशंसनीय है। ऐसे वीरपुरुष ही संसारमें वँधे हुए दूसरे जीवोंको वाहर तथा भीतरके बंधनोंसे मुक्त कर सकते हैं।

विशेष—जो आदमी स्वयं ही मुक्त होनेके मार्गमें आरूढ़ होता है, वही दूसरे आदमियों को मुक्त कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि विश्वके उपकारक होनेकी इच्छा वाला साधक पहले स्वयं ही सुधरता है। क्योंकि जो आदमी स्वयं जागता है, वही दूसरोंको जगा सकता है।

(१३) यह शरीर जैसे वाहरसे असार है वैसे ही भीतरसे भी निस्सार है और जैसा भीतरसे सार हीन है वैसा ही वाहर से भी निस्सार है।

विशेष—यह सूत्र अत्यन्त गहन रीतिसे विचारने योग्य है। विषयासक्ति पर चढ़ा हुआ मोड़ जिस प्रकारकी अवलोकन वुद्धिसे घटता है यहां उसकी दिशा वताई है। मनुष्य शरीरको देखता या फिर वाहरकी नाशवान जड़वस्तुओंको देखता है, और यह उसपर आकर्पित भी होता है उसे लगता है कि स्वयंको खींचसके ऐसा कोई तत्व इस शरीरमें या जड़ वस्तुमें है उसे ढूंढ़ने तथा छूनेकेलिए मंथन करता है। ऊपरके सूत्रमें बताया गया है, कि शरीर जैसा वाहरसे दिखता है वैसा ही अन्दरसे है। इतना ही नहीं वल्कि वह सार रहित भी है, ओर 'मुझे आकर्षित करनेवाला यह शरीर नहीं है वल्कि मेरी वृत्तिका इसशरीरमें पड़ा हुआ मात्र यह एक प्रतिविंव-परछाई को वाहर कल्पित करके जव स्पर्श करनेकी चेष्टा करता है तव आप स्वयं तथा अपनी परछाई जो कि दर्पणमें पड़ती है वह और काच इसतरह दानों विकृत होतें हैं।' इसलिए किसी विज्ञानीने कहा है, कि Beauty is to see not to touch [सौंदर्य देखनेकेलिए है भोगनेकेलिए नहीं]

(१४) पंडित साधक इस शरीरके भीतर रहे हुए बदबूदार पदार्थ तथा शरीरके भीतरकी स्थितियाँ-जो सदा शरीरके बाहर मलादिके रूपमें झरते रहते हैं, उन्हें देखकर इस शरीरकी यथार्थता समझकर उसका उपयोग करना योग्य समझता है।

विशेष—शरीरके जड़पदार्थों की आसक्तिके कारण भोग भोगे जाते हैं परंतु ये तो क्षणिकसुख देनेवाले हैं।

(१५) ये सब यथार्थ बातें जानकर जैसे बालक मुंहसे टपकनेवाली लारको चूसता है, वह बुद्धिमान पुरुष इसप्रकार लार चूसनेवाला न हो अर्थात् भोगेहुए विषयोंके चाहनेवाला न बने, और स्वाध्याय तथा चिंतनादिकी ओरसे विमुख न रहे।

विशेष-बालकके मुंहसे जैसे लार पड़ती है वैसे ही उदीयमान साधक को अनेक वांछनीय और अवांछनीय वृत्तियां तो आया ही करती हैं, परंतु उन वृत्तियोंको बालककी लारके समान न चूसकर फेंक देना चाहिए। अर्थात् वमन करनेयोग्य बुरी वृत्तियां जाग भी जायं तो उन्हें मूर्तस्वरूप न देकर, शरीर जैसे बाह्य और भीतरसे असार है ऐसे ही तज्जन्यवृत्तिको भी असार एवं मलिन समझकर उसीक्षण वमन कर डाले। मनुष्य जब न करनेयोग्य कामको अकार्यके रूपमें देखता है तब देखते ही कर्मको दोष देता है परंतु असलमें वहां इसके अपने सच्चे पुरुषार्थकी ही कमी है।

(१६) 'यह किया और यह करूंगा' ऐसी चिंतावाला साधक पुरुष व्याकुल रहता है, अतिमायावी-कपटी बनता है। फिर वह ऐसा लोभ भी करता है, कि जिस लोभके द्वारा वह अपनी आत्माका ही वैरी बनकर दुःखोंकी परंपराको बढ़ाता है।

विशेष—स्वाध्याय और आत्मचिंतन अनासक्ति पैदाकरनेवाले हैं, यह समझनेवाला साधक क्रोधादि दोषोंका जन्म नहीं होने देता।

आसक्तिका आकर्षण ही क्रोध, मान, माया और लोभको

बढ़ानेवाला है, जो साधक यह मानता है कि पेटकेलिए ये दोष सेवन करने पड़ते हैं, यह उसका निरा अज्ञान है, उपरोक्त सूत्र का यही भाव है। साथ ही अनुभव भी यही कहता है कि जिसे अपने व्यक्तित्वका भान है वह निर्दोष श्रमसे साधनोंको जरूर बटोरता है, और शरीर, मन तथा आत्माको स्वस्थ रखता है।

(१७)जंबू ! यह भी कहा जाता है कि अति आसक्तिवाला पुरुष इस क्षणभंगुर शरीरको भी मानों 'यह अजर अमर ही है' यह समझकर उसकेलिए सदा चितातुर रहा करता है। लेकिन चतुर साधक ऐसे पुरुषको दुःखी जानकर स्वयं ऐसे पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रखता।

विशेष—'शरीर धर्मका साधन है, यह जानकर उसे स्वस्थ और निराबाध रखना साधकका अनिवार्य कर्तव्य है। परंतु आसक्तिसे कुछ देहादिकी स्वस्थता नहीं रह सकती। अतः व्यामोहपन न रखकर शरीर मात्र उपयोगी साधन समझकर ही उसका उपयोग करना चाहिए।

(१८) मूढ़ जीव जो कि वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे अनभिज्ञ है वह इच्छा और शोकके अनेक दुःख भोगता है। इसीलिए मैं कामपरित्यागके विषयमें ही उपदेश करता हूं, इसे तू धारण करके रख।

विशेष—त्याग और अनासक्त भावनाओंको समझनेमें कईबार बड़ा धोका हो जाता है। बहुत से साधक इसकी वास्तविकताको नहीं समझ सकते। त्यागकी उत्पत्ति और मर्यादाको न समझसकनेके कारण बहुतसे लोग कई बार धार्मिक गम्भीर रहस्योंसे दूर रह जाते हैं।

मूलवस्तुमें तो कहीं भी क्रिया स्वयं एकांतरीतिसे निषेध करनेयोग्य या आराधन करनेयोग्य नहीं है, क्योंकि मुख्यतया क्रियामें धर्म या अधर्म नहीं होता बल्कि वृत्तिमें या भावनामें है। क्रियाके पीछे जो वृत्ति होती है

वही शुभाशुभ कर्म या आत्मविकास करनेवाली और उसे रोकनेवाली है। अर्थात् वृत्ति ही से क्रियाका मूल्यांकन होता है। यानी इस वृत्तिलालसाको मार कर अनासक्त भावसे क्रिया करना शास्त्रकारने पहले ही फ़र्माया है। परन्तु क्रियाके साधन और शक्ति होनेपर क्रियाकी ओर से वासनाको त्याग कर विरक्तभावसे क्रिया करनेवाले विरले ही योगी हो सकते हैं। इसलिए उत्सर्गमार्गरूपमें विकासकी ओर ले जानेकेलिए त्यागमार्गकी सुन्दर योजना वताई है। कारण क्रिया करते करते मनुष्य क्रियाके परिणाम और भावनाकी ओर खिंच जाता है, और फिर उसे आसक्तियां चिमट जाती हैं। अतः क्रिया ऐसी स्वीकार्य होनी चाहिए कि जिसमें आसक्ति न चिमटे और निरासक्त वृत्तिका विकास न रुककर उत्तरोत्तर वढ़ता जाय। साथ ही शुभ-शुद्धभावना ऊंची हो। और जिस क्रियासे यह न वन सके उस क्रियाको छोड़नेवाला ही त्यागी है। इसलिए आत्मविकासको रोकनेवाली क्रियाएं त्याज्य हैं। इसभांति शेष शुभक्रियाएं करते करते त्यागी आसक्तिका नाश करके जव अनासक्त होता है तव उसका त्याग फलित हुआ समझा जाता है। त्यागसे साधनमें प्रवेश और साधनका मूल्य-उपयोगिता जितना है। जिस त्यागमेंसे अनासक्तिका जन्म हो उसाका नाम त्याग है। इस ढंगसे देखा जाय तो त्याग या निरासक्तिका उद्देश भिन्न नहीं है। परन्तु इन दोनोंमें भूमिकाका भेद है। क्रियाके त्यागसे वृत्तिके त्यागका कार्यक्षेत्र जितना सरल हो सकता है, उतना क्रियाओंके प्रत्यक्ष खड़े रहते हुए निमित्तोंमें सरल नहीं हो सकता। इसलिए जैनदर्शनमें त्याग राजमार्ग गिना जाता है।

(१६) परमार्थ न समझते हुए पंडिताईका अभिमान रखकर व्यर्थवतें करनेवाले, वहुतसे वेशधारी श्रमण कामविकारका उपशमन करनेके उपदेशक होकर वरतनेवाले, और मानो हम कोई अपूर्वकार्य करेंगे ऐसा डौल वनाकर फिरनेवाले, परन्तु वैसे न करके उलटे वे छोटेवड़े जीवजन्तुओंको मारनेवाले,

काटने, फोड़ने, लूटने, छीनने तथा प्राण लेनेवाले हो जाते हैं यह शोचनीय है।

ऐसे अज्ञानी व्यक्ति जिन्हें उपदेश देते हैं या जो आदमी उनके संसर्गमें आते हैं वे कर्मबंधसे प्रतिवद्ध हो जाते हैं और वे व्यक्ति स्वयं भी बंध जाते हैं इसलिए ऐसे बालजीवोंका संसर्ग न करे। इतना ही नहीं वल्कि जो आदमी ऐसे व्यक्तिकी संगति करते हैं उनका सहवास भी न करे। जो गृहवास छोड़कर श्रमण होते हैं उनको तो ऐसी रीतिसे कायचिकित्सा करनेका उपदेश करना भी अयोग्य है।

विशेष—इस गाथाके साथ उस समयकी परिस्थितिओंका संबंध है, परन्तु यह आजकलकी पंडिताई और परिस्थितियोंकेलिए भी उचित ही है। पांडित्य और परमार्थको समझना दो भिन्न वस्तु हैं, जिसने न केवल शास्त्रोंको पढ़ा और उन्हें समझा है वल्कि उनमें वर्णित वातोंका अनुभव किया है वह ही उपदेश देने लायक है, कामविकारका शमन और परिपक्व अहिंसा, ये दोनों वातें संतके मुख्य लक्षण हैं। ऐसे ही संतका उपदेश और सत्संग उपकारी बन सकता है।

उपसंहार—शुद्धवृत्ति रखना ही शुद्धजीवनसे जीवित रहनेका मूल है, और शुद्धजीवन ही सच्चे सुखको देनेवाला है।

इस प्रकार कहता हूं

लोकविजय अध्ययनका पांचवां उद्देशक समाप्त।

छठवाँ उद्देशक

लोकसंसर्ग रखना भी ममत्व बंधन है

संयमी मनुष्यको भी तीव्रसे तीव्र ममत्व हो सकता है,ममता ममत्वबुद्धिमेंसे जन्म लेती है, अतः उस पर काबू करनेकी चेष्टा करना उचित है।

गुरुदेव बोले

(१) देवानुप्रिय जंबू ! पूर्वोक्त वस्तुस्वरूप को जानकर संयमाभिमुखी साधक स्वयं थोड़ा-सा भी पापकर्म नहीं करता और न अन्य आदमियों द्वारा कराता है।

(२) जो कोई (प्रथम अध्यायमें वर्णित) छः कायके जीवोंमेंसे एक कायके जीवके भी आरम्भमें प्रवृत्त होता है वह छः कायका आरंभ करनेवाला गिना जाता है।

विशेष—जो छः प्रकारके जीवोंमेंसे किसी एककेलिए भी हिंसाकी बुद्धि रखता है, या मारता है, वह छः कायका घातक माना जाता है, कारण हिंसकवृत्ति ऐसी वस्तु है कि यदि आज वह छोटी हिंसा करता है तो कल बड़ी हिंसा भी कर बैठेगा, और यदि उसकी हिंसकवृत्ति होगी तो उसके कारण वह साधक सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की आराधना भी नहीं कर सकता।

(३) अपने सुखकेलिए दौड़धूप करता हुआ बालजीव अपने हाथों ही दुःख उत्पन्न करके मूढ होकर दुःखी होता है तथा खुद

अपने किए व्रतनियमका प्रमादसे भंग करता है। यह दशा भयंकर और दुःख देनेवाली है। यह जानकर वह मुनि साधक ऐसा काम न करे, जिससे दूसरेको पोड़ा उत्पन्न हो। यही परिज्ञा (सच्चा विवेक) कहलाता है, और ऐसी परिज्ञासे ही क्रमपूर्वक कर्मक्षय होते हैं।

विशेष—सुखका यथार्थ मूल खोजे विना जो लोग सुखकेलिए दौड़ धूप करते हैं उन्हें सुख पानेके बदले एकान्त दुःख के गढ़ेमें गिरना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि साधकमें ज्यों-ज्यों विवेकशक्ति जागती है, त्यों-त्यों वह स्वयं अहिंसक बनता जाता है।

(४) जंबू ! जो ममत्वबुद्धिको छोड़ सकता है वही ममत्व छोड़ सकता है, और जिसे ममत्व नहीं वही मोक्षमार्गका ज्ञाता साधक समझा जाता है।

विशेष—जहां तक ममत्व वृत्ति अंतःकरणसे जुड़ी हुई है, वहां तक किसी भी पदार्थको देखकर आसक्ति होगी ही। अर्थात् पदार्थ कुछ स्वयं आसक्तिजनक नहीं। इसलिए पदार्थके प्रति वैर रखना कोई विकासका मार्ग नहीं है, और पदार्थसे दूर रहना भी कुछ बुरा नहीं है।

बाहरी पदार्थोंका त्याग साधना की पहली भूमिकाकेलिए उपयोगी है, कारण पहले वह परसे चित्तवृत्ति हटानेका प्रयोग करे। और फिर वह चित्तवृत्ति की आन्तरिक वासनाका रहस्य समझकर उस पर विजय पाता जाय, यही साधकके विकासका सच्चा मार्ग है।

(५) अतः जंबू ! कहता हूं कि यह सब देखकर बुद्धिमान् साधक लोकस्वरूपको जानकर लोकसंज्ञासे अलग होकर विवेक पूर्वक अपने पथमें लगा रहे।

विशेष—बहुतसे साधक वैराग्यपूर्वक साधना मार्गमें लग जाते हैं। तब पदार्थोंपर उन्हें ज़रा भी आसक्ति नहीं आनेका अनुभव होता

है। फिर भी कोई ऐसा प्रसंग आ पड़ता है, कि किसी न किसी पदार्थपर उनका ममत्वभाव सहसा जाग उठता है। ऐसे प्रसंगमें खुद उसे भी अचरज होता है कि यह क्या होगया? परन्तु उसमें अचरज माननेकी कोई बात नहीं है। ऐसा होना ही ममत्वबुद्धिका परिणाम है। जहां तक वैराग्यके प्रबल वेगका आच्छादन था वहां तक उस ममत्वबुद्धिका प्रकाश पदार्थपर नहीं पड़ता था, और उससे पदार्थके प्रति वह वृत्ति मनको प्रेरित नहीं कर सकती थी। परन्तु उसे वैराग्यका आविष्करण दीन्न पड़े तो वह कुछ अस्वाभाविक नहीं।

वैराग्य जिज्ञासाका सबसे पहला चिन्ह है। इसके प्रगट होने पर फिर जो साधक पूर्णता न मानकर ममत्वबुद्धिके स्वरूपको समझते हुए उस पर काबू पानेके पुरुषार्थका दृढ़ मार्ग पकड़ता है, वह शीघ्र आगे बढ़ सकता है। इस जगह संसारका सर्वमान्य प्रवाह जिस ओर बह रहा है और जिसने रूढ़िका स्वरूप भी लिया है उस ओर लक्ष्य न देते हुए अपना पथ काटना ही साधककेलिए इष्ट और आचरण करने योग्य है।

लोकसंज्ञामें कीर्ति, मोह, अहंकार, वासना, आदिका समावेश होता है। धर्मिष्ठका उत्तम धर्मकार्य भी ऐसी वृत्तिके ध्येयमें निष्फल जाता है विकासके मार्गमें आगे बढ़े हुए साधकको भी ऐसी लोकसंज्ञाके अंध अनुकरणसे पतन होते देर नहीं लगती।

(६) जंबू! संसारकी ओर झुकनेकी वृत्तिके गाढ़ या अच्छे संस्कार हरेक साधकमें होते हैं। अतः ऐसे किसी मोहक वस्तुके निमित्त द्वारा उनके ताजा होनेपर साधनाके मार्गमें अरति (विवशता) उत्पन्न होती है, फिर भी उस अनिच्छाको वीरसाधक अपने मनपर नहीं लाता। एवं प्रलोभन उत्पन्न करने वाले पदार्थों पर आसक्ति भी नहीं लाता। परन्तु ऐसे प्रसंगोंमें सब सावधान और स्वस्थ होकर समतायोगका साधक(सब

वस्तुओंमें तटस्थ वृत्तिवाला) बनकर किसी भी पदार्थपर रागवृत्तिको उत्पन्न नहीं होने देता।

विशेष—ज्यों ही वृत्तिका वेग नीचेकी ओर ढलने लगे, तुरन्त ही साधकको सावधान होकर समभावी बनना चाहिए। ऐसी डावांडोल स्थितिमें यदि वह किसी एक तरफ ढुलक जाय तो काबूको गवां बैठनेमें देर नहीं लगती। और एक बार भी यदि अंतःकरण वृत्तिके अधीन हो गया तो फिर उसे काबूमें लानेकेलिए सौगुना पुरुषार्थ करने पर भी कई बार निष्फल हो जाना पड़ता है, इसलिए ऐसे नाजुक प्रसंगमें जरा भी असावधान बनजाना साधककेलिए भयानक वस्तु है।

(७) ओ साधको ! (तुम्हारेपथमें) मनोहर मोहक शब्द, स्पर्श इत्यादि विषय उपस्थित होनेवाले हैं, परंतु ऐसे प्रसंगमें इस पतित जीवनके मोहसे तुम सदा अलग रहना, और उस प्रसङ्ग को भी सह लेना अर्थात् अपनी वृत्तिपर इनका स्पर्श न होने देना।

(८ अ) जंबू ! यदि (इस दुःखद संसारमें भी बहुतसे) मुनि-रत्न संयमका आराधन करके मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मरूप शरीरको आत्मासे अलग करते हैं, अर्थात् वे देहभावसे छूटनेका प्रयत्न करते रहते हैं।

(८ ब) आत्मार्थी जंबू ! सत्पुरुषार्थी और तत्वदर्शी महा-पुरुष रूखे सूखे पदार्थोंका सेवन करते हैं।

विशेष—अपनी आवश्यकताओंको हलका करके खाने पीने तथा पह-नने आदिमें बहुत थोड़े पदार्थोंसे अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं और फिर भी अधिक और मूल्यवान पदार्थोंका उपभोग करनेवालेकी अपेक्षा उसे आत्मसंतोष अधिक मिला रहता है।

(९) ऐसे साधक मुनि संसारके प्रवाहको तैर सकते हैं, और ऐसे पुरुष ही संसारसे पार पाये हुए, परिग्रहसे मुक्त रह कर

त्यागीजनके रूपमें पहचाने जाते हैं। ऐसा कहता हूं।

विशेष—केवलज्ञान और तत्वकी वातें करनेवाले ही तत्वज्ञ और तत्वदर्शी-त्यागी या तारक नहीं कहला सकते, वल्कि उनका वर्ताव और चरित्र भी तदनुसार होना चाहिए। तव ही उन्हें सच्चा तत्वदर्शी-त्यागी और संसारके तारकोंमें गिना जा सकता है।

(१०)परंतु तीर्थंकरदेवोंकी आज्ञाको न मानकर जो साधक स्वच्छंदताका वर्ताव करता है वह सचमुच मुक्तिकी प्राप्तिकेलिए अयोग्य है, और ऐसे साधक विज्ञानसे भी अपूर्ण रहनेसे किसी को सीधा प्रत्युत्तर भी नहीं दे सकते। इसी कारण शर्माकर भयभीत होते हुए अपना जीवन कष्ट में ही विताते रहते हैं।

विशेष—लोकका तत्वज्ञान समझना, संयम मार्गमें मन वाणी और कर्मको जोड़ देना, निमित्त मिलते हुए संयममें अरति या विषयोंमें अनुराग न होने देना अर्थात् समस्थितिमें रहना तथा-तापसी जीवन विताना यही वीतरागकी आज्ञाका पालन कहलाता है। विज्ञानका इसमें वड़ा सुन्दर अर्थ है। जिसने जगतके वनाव, पदार्थों और उसके अवयवोंको गहराईमें उतरकर देखा है तथा उसमें रहे हुए भिन्न भिन्न तत्वोंको विविध दृष्टिकोण से अवलोकन किया है, ऐसे साधक सच्चे तत्वको समझ सकते हैं और ग्रहण कर सकते हैं। एवं ऐसी वस्तुको उसके सत्यस्वरूपसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे दूसरेके सामने प्रस्तुत भी कर सकते हैं।

(११) इसलिए जो वीतरागकी आज्ञाके आराधक होकर दुनियाके जंजाल (आँतरिक तथा वाहरी ममत्व) से अलग हो जाते हैं, वे ही सच्चे वीर पुरुष होनेके कारण वखान करने योग्य हैं, और वे ही कर्मवंधनसे छूटनेकी योग्यता होनेसे सिद्ध होते हैं।

(१२) जंवू! अनुभूत महापुरुषोंका कहा हुआ (उपर्युक्त) मार्ग ही न्यायमार्ग है। अतः (उन ज्ञानी पुरुषोंने) मनुष्योंको दुःख

उत्पन्न होनेके जो कारण बताए हैं, उन्हें जो कुशल साधक ज्ञ परिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करते हैं वे ही पुरुष अन्य जनोंके दुःखोंके कारण समझाकर इनका परिहार करनेका उपाय बता सकते हैं।

विशेष—न्यायमार्गका निश्चय होनेपर ही उसे ग्रहण किया जा सकता है, अतः सर्वप्रथम विवेकपूर्वक वस्तु रहस्य समझनेका प्रयास किया जाय, कारण यथार्थ उपादेयकी समझ आनेपर फिर किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती, और जो स्वयं ग्रहण करता है वही औरोंको उस मार्ग पर लाने में समर्थ हो सकता है। इसलिए ऐसे पुरुष ही उपदेश देनेके योग्य सिद्ध हो सकते हैं।

(१३) इसरीतिसे पहले स्वयं कर्मका यथार्थस्वरूप जानकर फिर सर्वरीतिसे उपदेश करना उचित है।

(१४) जो आदमी परमार्थदर्शी होता है वह मोक्षमार्गके अतिरिक्त और कहीं रमण नहीं करता। और जो मोक्षमार्गके सिवाय और किसी स्थलमें नहीं रमता वही परमार्थदर्शी है।

विशेष—जिसकी दृष्टिका विष दूर होकर उसमें अमृतका उद्गम हो गया है उसे अपनेमें ही परमानन्द मिलता है, इसलिए उसका लक्ष्य उसके अतिरिक्त और किसी जगह ठहरता ही नहीं। और जिसका लक्ष्य उस मार्गमें लग गया है वह परमार्थदर्शी है।

उपदेशकोंकेलिए जानने योग्य बातें

(१५) सच्चा उपदेशक और साधक जैसा उपदेश कुल, रूप और धनसे सम्पन्न आदमिओं को करता है, वैसा ही उपदेश एक सामान्य (रंक) मनुष्यको भी देता है।

विशेष—श्रीमंत, राजा, दलित, गरीब, पतित आदि सब पर सच्चा उपदेशक समभावी होता है उसकी दृष्टिमें यह ऊंच, नीच, न्यून, अधिक

पतित आदि भेदबुद्धि लेशमात्र नहीं होती। क्योंकि सब पर एक जैसा समभाव रखना ही मुनिका लक्षण है।

कोई इसका यह अर्थ न करे कि सबको एक तरहका उपदेश ही दिया जाय, क्योंकि ऐसा करनेसे इसका अनिष्ट परिणाम भी हो सकता है। वहां तो जिसकी जैसी योग्यता और भूमिका हो, उसको उसी प्रमाणमें कहना चाहिए। इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

(१६) (उपदेशकको श्रोताजनोंका अभिप्राय धर्म, विचार आदि जानकर फिर ही उपदेश करना चाहिए, अन्यथा अनजान-पनसे उसकी योग्यतासे विरुद्ध कहा जाय तो) कदाचित वह कुपित हो जाय अथवा मारने धमकाने उठ खड़ा हो, इसलिए उपदेश देनेकी रीति जाने विना किसीको उपदेश देनेमें कल्याण नहीं है।

(१७) जंबू! श्रोता किस ढंगका है? किस मत, पंथ या धर्मको मानता है? किस देवको मानता है? (इत्यादि बातें जानकर उपदेश दे।) इसरीतिसे सत्य उपदेश देकर संसारके ऊर्ध्व, अधः या तिर्छे भागमें (संसारके बंधनोंसे) बंधे हुए जीवोंको जो पराक्रमी पुरुष छुड़ा सकते हैं, उनकी इसलोकमें बड़ाई होती है।

विशेष—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा स्वशास्त्र और परशास्त्रका जानकार दीर्घदृष्टि और समदृष्टि ज्ञानीपुरुष ही उपदेशक होनेके योग्य है।

इसमें लिखेहुए धर्म, मत, पंथ और देवका अर्थ ऐसा दिखाया हैं कि अनुक्रमसे श्रोताका साध्य, उसकी मान्यता, साध्यतक पहुँचनेका मार्ग और उसकी प्रतिष्ठा पात्र वस्तु क्या है उसे समझकर उसके ध्येयको जानकर, उसके योग्य विकासकेलिए मानस शास्त्रसे अवलोकन करके, उसकी पाचकशक्तिके अनुसार उपदेश दिया जाय, वही योग्य गिना जाता है।

यदि उस उपदेशसे साधकका हित न सध सका हो, उसका विकास न हो सका हो, तो उपदेशक को मानना उचित है कि उपदेशमें कहां भूल है, या सुननेवालेमें क्या कुछ कमी है इत्यादि सब कुछ जानकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार इस क्रियाकी रीति भांति की परख करनी चाहिए।

(१८) ऐसे सत्पुरुष सदा अपने जीवनमें ज्ञान और क्रिया इन दोनोंको बल देकर हिंसा(दूषित जीवन)से लिप्त नहीं होते।

विशेष—विवेक और सदाचरण दोनों साधकको दोष से बचाते हैं।

(१९) जो पुरुष कर्मको निर्जरा(दूर)करने में निपुण है, और बंध तथा मोक्षके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जान सकता है वही असल पंडित समझा गया है।

विशेष—जो ज्ञान, बंधनसे मुक्त करनेमें सहायक नहीं होता वह सच्चा ज्ञान नहीं है; और ऐसे पंडित पोथे पण्डित होते हैं। ये स्व और परमेंसे किसी एकका भला नहीं कर सकते।

(२०) जिन्होंने बंध तथा मोक्षके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जान लिया है, और जो(घाति)कर्मको दूर करनेमें सफल हुए हैं, उन कुशल पुरुषों(केवली भगवंतों)केलिए तो फिर बंधन और मुक्तिका प्रश्न ही नहीं उठता (कारण उन्होंने अपनी साधना पूरी करली है।)

(२१-२२) ऐसे संपूर्ण पुरुष जिस मार्गमें प्रवर्तित हुए हैं समझदार साधक उस मार्गमें प्रवर्तित हों, और जहां से वे नहीं गए हैं उस ओर न चलें, एवं हिंसा तथा लोकसंज्ञाको जानकर उन दोनोंका परिहार करें।

विशेष—यहां इन दो वाक्योंका आपसमें संबंध है। जनताको अन्ध अनुकरणकी टेव होती है, और बहुतसे लोग एक समयके एक क्षेत्रके किसी भी हेतुपूर्वक उपदिष्ट विकासमार्गके साधनको त्रिकालाबाधित साधन मान कर गतानुगतिकतासे चलते रहते हैं। इसे रूढ़ि कहते हैं, मगर साधन त्रिकालाबाधित नहीं हो सकता। परंतु लोकसमूह सच्चे ज्ञानके अभावमें इसमार्गके साथ जड़ता से चिमटा हुआ है। इतना ही नहीं बल्कि उसके मोहके कारण उसमें सत्यका आरोपण भी करता है। इसलिए यहां शास्त्र-कार कहते हैं कि लोकसंज्ञासे रूढ़िमत स्वीकार किया हुआ मार्ग विकास का राजमार्ग नहीं हैं, बल्कि सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट जिसमार्गमें आत्मविकास के इच्छुक जाते हों उसी मार्गसे साधकको जाना उचित है। हिंसासे स्वर्ग और मोक्ष मिलता है, ऐसी वेद धर्मके नामसे प्रचलित मान्यता और रूढ़ि-गत व्यवहारके सामने इसमें प्रतीकार किया गया है।

तुम जो कुछ अपनी अपनी कहते हो वह ठीक नहीं है, बल्कि सत्पुरुषों ने जो कुछ देखा है वह सत्य है, और फिर साधकको उसे मानकर अपने हितका कार्य करना शेप रह जाता है सच्चे साधकको लोकरूढ़िके सारासारको और उसकी उपयोगिताको विचारकर जो विकासके मार्गमें अडचन रूप हो उसे छोड़ना चाहिए उसके अपने अन्तरमें सर्वज्ञके वचनमें ही श्रद्धा रखना ठीक लगता है। क्योंकि जिसे परिपूर्ण अनुभव है वह सन्मार्ग बता सकता है, परंतु ये वचन सर्वज्ञके हैं या नहीं ? इसका तोड़ निकालकर उनके नाम से उपदिष्ट सत्योंको विवेक वुद्धिके छलनेसे छानना चाहिए।

(२३-२४) जंवू! असल बात तो यह है कि तत्वज्ञ पुरुषोंको उपदेशकी अथवा विधिनिषेधकी आवश्यकता ही नहीं है, परंतु जो अज्ञानी (आत्मस्वरूपको न जाननेवाला) जीव होता है उसके लिए वह उपयोगी वस्तु है, कारण वे जिस भूमिकापर हैं वहाँ आसक्तिपूर्वक आशा, इच्छा और विषयोंका सेवन करते रहते हैं और इस रीतिसे वे दुःखोंको किसी भी तरह कम न करते हुए

उलटे अधिक दुःखी होकर शारीरिक और मानसिक दुःखोंके चक्करमें ही फिरा करते हैं।

उपसंहार :—ममता मेरापन और ममत्वबुद्धि अपनेपनके आरोपको कहते हैं।

आत्मा और जड़ इन दोनोंका पारस्परिक मिश्रण ही संसार है। विभावदशाको लेकर आत्मा अपने परमात्मस्वरूपको एक छोटे से देह और उससे मिलते जुलते साधनोंमें समा देता है उसीका नाम अहंवृत्ति है। अहंवृत्तिका पदार्थों पर गमन होनेपर पदार्थों के ऊपर ममता जागृत होने लग जाती है और उसके जागृत होनेपर जब ममत्वबुद्धिका आरंभ होता है तब ही पतनका आरंभ होता है।

ममतामें केवल पदार्थके प्रति स्वामित्वभाव नहीं बल्कि उस मिल्कियतमें साधनबुद्धिको अवकाश प्राप्त है। तब ममत्वबुद्धि में तो उस पदार्थके प्रति मोहके अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं। यहां तक कि आत्मभान तकका भी विस्मरण हो जाता है, इसीकारण वह जड़ पदार्थ होनेपर भी चैतन्य उसके हाथों बिक जाता है। और उसमें ही मात्र साध्यकी कल्पना करके उसी में आसक्त हो कर अधःपतनको स्वयं माँग लेता हैं और अहंकारकी पुष्टि करता है। आसक्तिसे चैतन्यकी क्षीणता होती है, चैतन्यकी क्षीणतासे कर्मबंधन होता है और कर्मबंधनसे संसार बढ़ता है, संसारकी वृद्धि ही दुःखका कारण है।

लोकसंज्ञा और हिंसकवृत्तिको जीतकर मौन साधनमें आगे बढ़े, मौनकी साधनाके बाद ही उपदेशकी योग्यता होती है।

योग्यताके अनुसार ही अनुभूत उपदेश देकर लोककल्याण और आत्मकल्याणका समन्वय साधे, कर्मबंधनसे छूटने मात्रका ही लक्ष्य रखकर संयम, त्याग, प्रेम, निर्भयता आदिका आधार ले कर बीचमें आनेवाले बाधक कारणको दूर करते हुए विकासकी सीढ़ीपर चढ़ता जाय, यों करते करते कर्मबंधनसे सर्वथा मुक्त बना जाता है और यही लोकविजय है।

इस प्रकार कहता हूं

लोकविजय नामक दूसरा अध्याय समाप्त।

शीतोष्णीय

३

शीत और उष्ण इन दो शब्दोंके मिलनेसे 'शीतोष्ण' ऐसा समास होता है। इस संबंधका इसमें क्रम होनेसे इस अध्ययनका नाम 'शीतोष्णीय' सार्थक है।

शीत और उष्ण ये दोनों भिन्न और परस्पर विरोधी गुण हैं, परंतु इन दोनोंको वेदने (अनुभव करने) वाला मन तो एक ही है। जो तत्व ठंडकका अनुभव कराता है, वही तत्व उष्णता यानी गर्मीका भी अनुभव कराता है।

जो वस्तु सुखको जन्म देती है, उसीवस्तुमेंसे दुःख भी उत्पन्न हो सकता है। यह अनुभव जीव मात्रमें स्वाभाविक रूपसे होता है परंतु शीत और उष्णता, सुख और दुःख, यह चित्त कई वार इन दोनोंमें से ऐसी किसी सहज स्थितिका भी अनुभव करता है। साधकको ऐसा अनुभव होनेपर सूक्ष्मरीतिसे देखने पर वह जागृत हो जाता है, और 'इस अनुभवमें ही सच्चा आनंद है' ऐसी इसे उत्तरोत्तर प्रतीति भी हो जाती है।

जैनदर्शनमें इस स्थितिको समभाव योग कहा है। समभाव ही विकासकी साधना का पाया है।

पहला उद्देशक

अनासक्ति

समभावकी स्थितिमें रहा हुआ साधक, जब कभी विषयोंके समीप आ पड़े, तो भी वह आत्मापर विषयोंका लेप नहीं लगने देता। राग और द्वेषका विषयोंके साथका संबंध इस साधकको भले प्रकार ज्ञात होता है। ऐसी साधनाको अनासक्तियोगकी साधना कहा जा सकता है। संयम और पदार्थ त्यागके पीछे इस वृत्तिकी ओर सावधान रहनेकी सूचना इस उद्देशकमें करते हुए—

गुरुदेव बोले

(१) (अमुनि) अज्ञानी जन (जागते हों तो भी) सदा सोए हुए पड़े हैं। पर (मुनि) ज्ञानीजन सदैव (आत्माभिमुख) जागृत हैं।

विशेष—नींद दो तरहकी होती है। द्रव्यनिद्रा और भावनिद्रा। द्रव्यनिद्रा केवल देह तथा इंद्रियोंका श्रम निवारणकेलिए है, इस निद्रासे सोनेवाला शीघ्र जाग उठता है, परंतु जो व्यक्ति भावनिद्रामें सोए पड़े हैं, वे जागते हुए भी सुषुप्तिमें हैं। अज्ञानसे प्राप्त होनेवाली चैतन्यकी सुषुप्ति भावनिद्रा है। इस संसारके प्राणी लगभग भावनिद्रामें सोए पड़े हैं। कोई विरले महापुरुष ही अज्ञानका अन्धेरा दूर होनेसे जागृत दीख पड़ते हैं। ऐसी गहरी सुषुप्ति होनेसे ही उसके सामने इस विश्वकी नाट्यशालामें जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, दुःख, संकट आदि अनेक अनुभवपूर्ण नाटक खेले जाते हैं। फिर भी "पश्यन्नपि न पश्यति" की उक्तिके अनुसार आंखें खुली हुई होने पर भी वे

देख नहीं सकते, अर्थात् पाने योग्य अनुभवको प्राप्त नहीं कर सकते, इसी का नाम भावनिद्रा है ।

(२) ओ लोगो! संसारमें अज्ञान ही दुःख है और अज्ञान ही अहितकर्त्ता है, यह निश्चय जानें ।

विशेष—जगतमें सारे दुःख और अहितका मूल वस्तुस्वरूपके सच्चे स्वभाव के ज्ञानका न होना ही है ।

(३) संसारका ऐसा स्वरूप जानकर ज्ञानी पुरुष संयमके जो वाधक शस्त्र अज्ञानीको पीड़ा पहुंचाते हैं, उनसे दूर रहे ।

विशेष—हिंसा, असत्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये शस्त्र संयमकेलिए घातक हैं। ये ही अज्ञानके उत्पादक हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुष इनके संसर्ग से सदा दूर-अलिप्त ही रहता है, और जो इससे अलग रहते हैं, वे ही मुनि और ज्ञानी जन कहलाते हैं ।

(४) जो साधक शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये सब सुन्दर या असुन्दर प्राप्त होते हुए, दोनोंमें समानभाव (राग द्वेष रहित) रख सकता है, वही साधक चैतन्य, ज्ञान, वेद (आगम शास्त्रीयज्ञान,) धर्म तथा ब्रह्मनिर्विकल्पका जानकार समझा गया है, और ऐसा ही साधक विज्ञानवलसे लोकस्वरूपको जान सकता है। एवं ऐसा ही साधक मुनि कहाता है। ऐसा धर्मका जानकार सरल मुनि संसारचक्र तथा आसक्तिका रागादिके साथके संबंधको जानता है, और सुख तथा दुःखकी ज़रा भी पर्वाह न करते हुए, संयममार्गमें उपस्थित रहकर सानुकूल और प्रतिकूल प्रसंगोंको समभावसे सह लेता है। ऐसे धीर मुनि ही जागृत रहकर वैर, विरोध, वैमनस्यादि दूर करके दुःखोंसे भी मुक्त हो जाता है ।

विशेष—जैनदर्शन विश्वदर्शन है, यही भाव इसमें है। जैनसाधु कैसा हो? किसे जैनसाधु कहा जाय? यह इसमें स्पष्ट किया है। चैतन्यको जानना या ज्ञानी कहाना, वेदांतका अभ्यासी या धर्मका धुरन्धर दिखावा करना, और निर्विकल्प ब्रह्ममय स्वरूपकी स्थितिमें होनेकी मान्यता रखना। इनसे पहले उसे मापनेका जो मापकयंत्र है उसे यहां बताया है। ये सब गुण या भिन्न भिन्न गुण धारक वही है जिसे सुख और दुःखमें समभाव है। जो कर्तव्य करतेहुए भी अनासक्त है, उसे चाहे कुछ भी कहो; मुनि कहो, ज्ञानी कहो, साधु कहो, इस धर्मका कहो या अन्यधर्मका कहो। वह वहां चाहे जो कुछ हो केवल व्यक्तिकी पूजा नहीं गुणकी पूजा है। इसमें व्यक्तिका आग्रह न होकर गुणका है। वहां विश्वके सब तत्त्वोंको दाखिल होनेका अवकाश है। यह साधु कैसा होता है? इस संसार को फिरानेकी मूल आसक्ति ही है ऐसा उसे ज्ञान हो। यह संसारचक्र कैसे घूम रहा है उसका भान हो। वह विरल पुरुष अपने मार्गमें आनेवाले प्रसंगोंको चाहे वे सुखद हों या दुःखद ! परंतु उन्हें तटस्थभावसे हँसते मुँहसे स्वीकार कर लेता है। ऐसा साधु जैन साधु कहलाता है।

(५) परंतु जरा और मृत्युके फेरमें आया हुआ और उससे सदा महा मोहसे चकरानेवाला पुरुष धर्मके रहस्यको नहीं जान सकता।

विशेष—महामोह आत्मस्वरूपकी पहचानमें बड़ी रुकावट है। जिस प्रकार आंखोंपर पर्दा या बाधक कारण आजानेसे वस्तुके होनेपर भी वह स्पष्ट नहीं दिखती इसी तरह मोहांध मनुष्य वस्तुके समक्ष होनेपर भी वस्तुस्वभाव-वास्तविक धर्मको देख या जान नहीं सकता-सार असारका विवेक नहीं कर सकता; और उसके परिणामस्वरूप धर्मरहस्यको भूलकर परंपरासे चले आए क्रियाकाण्ड या वस्तुके बाहरी खोखोंको ही वस्तुका वास्तविक धर्म कल्पित करके अधीर होकर गतिमान हो जाता है और उसका आत्मविकास रुक जाता है। यह महामोह क्या वस्तु है और उसका

परिणाम क्या है यह बात विचारणीय रह जाती है। परंतु महामोह कैसे उत्पन्न होता है ? यह गंभीर रहस्य ऊपर वाले सूत्रमें सूत्रकारने स्पष्ट किया है। वह यह कहना चाहते हैं कि जब मनुष्य एक वस्तुमें [मोहित होकर] चिमट पड़ता है तब एक तो उसे उस वस्तुका तीव्र आकर्षण होता है और दूसरे 'वह जाती रहेगी' ऐसा डर होता है। इन दो कारणोंमेंसे ही घबराहट पैदा होती है,और एक ओर वह वस्तु किसी तरह चली न जाय ऐसी चिंता होती है, और है वहां तक उसका उपयोग करनेकी झंखना रहती है। उपयोग कैसा होना उचित है?और इसको अपनी विचार शक्ति से उसे पक्का करना चाहेगा। परंतु जहां घबराहट,चिंता और व्याकुलता हो साधनके चले जानेका डर या साधनका मोह हो,वहां सच्चा विचार किस तरह संभव है ?

इसरीतिसे मनुष्यको जहां तक जरा और मृत्युकी लपेटमें आनेका भय लगता है, वहां तक वह विव्हल रहता है और रहेगा भी। इसीसे जवानी का काल, अर्थात् पदार्थोंकी भोगदशाका काल, इसके मनसे निश्चित हो गया है। और इससे बुढ़ापा और मृत्यु आनेपर यह दशा शायद 'जाती रहेगी' इस डरसे पदार्थके प्रति केवल मोह ही नहीं बल्कि महामोह जाग उठता है, और महामोहमें पड़कर यह जीवात्मा अतिभोजी [खाउ उड़ाऊ] Gluttonous की तरह पदार्थके स्वरूपका नहीं बल्कि पदार्थका ही उपभोग करने लग पड़ता है। यह है संसारके जीवोंकी विव्हलताका मूल कारण !

जब इस जीवात्माको बुढ़ापा, जवानी और मौत ये 'सब स्थितियां अपनी नहीं बल्कि वेष्टन [देह] का परिवर्तनमात्र हैं' ऐसी प्रतीति होगी, या इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो अपने शुद्ध चैतन्यमय और अविनाशी स्वरूपका उसे जब दर्शन होगा तब वह पदार्थोंके प्रति उपभोग करनेके बदले सहज ही अनासक्त रह सकेगा। यह स्थिति ही धर्मके वास्तविक रहस्यवेत्ता साधककी स्थिति है।

देह और आत्माकी भिन्नताके सच्चे ज्ञानके अभावसे महामोह होकर

जो व्याकुलता पैदा होती है उस व्याकुलताका रहस्य जाने विना अन्त नहीं है। इसलिए यदि इस रहस्यको समझकर संयममार्गमें प्रवेश किया जाय, तब ही वह संयम विकासका संपूर्ण साधक वन सकेगा।

(६) (इस संसारमें मोह ही विव्हलताका कारण है ऐसे) विव्हल प्राणिओंको देखकर मुनि सावधानतासे संयममें प्रवर्तमान होकर रहता है।

(७) बुद्धिमान मुनि! (मोहसे भावनिद्रा और उससे उत्पन्न होनेवाले दुःख) ऐसा जानकर तू विव्हल होनेकी इच्छा न करना (अर्थात् सावधान रहना)।

विशेष—महामोहके कारण जो विव्हलता उत्पन्न होती है उसका मूल कारण देह और आत्माकी भिन्नताका ज्ञान न होना है, यही वात समझकर साधकको संयममार्गमें प्रवर्तित रहना चाहिए और ऐसा साधक ही संयमके रहस्यको समझ सके ऐसा ऊपरके सूत्रमें प्रतिपादन किया है। अनुभव भी यही कहता है कि जहां तक आत्माके विशुद्धस्वरूपकी प्रतीति न हो वहां तक सहज संयमकी जागृति भी नहीं होती। और संयमकी सहज स्फुरणाके विना जो संयम देखा जाता है वह संयम आत्मविकासमें सीधी तरह निवड़ नहीं सकता।

(८) जंवू! सारे दुःख आरम्भसे होते हैं यह समझकर विज्ञसाधक जागृत होता है। कारण, प्रमादी और मायावी (कषायवान) प्राणी वार वार गर्भमें आकर जन्म-मृत्युके चक्कर में पड़ता है। परन्तु जो साधक जन्म-मृत्युसे डरकर शब्दादि विषयोंमें राग द्वेष नहीं करता हुआ सरल (समभावी) होकर रहता है वह ठीक तरह मृत्युके भयसे मुक्त होता है।

विशेष—जो क्रिया प्रमाद और कषायसे पैदा होती है, वह क्रिया ही आरम्भ समझा जाता है, यहां यह आशय है कि वृत्तिको देखे विना मात्र

क्रियाके आधार पर जो आरम्भका माप निकाला जाय तो वह ठीक नहीं हैं ।

विपयोंका आकर्पण भी इस प्रमाद और कपायके कारणसे ही है, जो कि कभी कभी ये विपय (चित्तविकारजन्य) देहभावको लेकर क्षणिक सुख उत्पन्न करते हैं। परन्तु इन पोद्गलिक सुखोंका परिणाम तो भयंकर ही होता है। जड़के गहरे संसर्गसे यह जडजन्य सुखकी ओर का आकर्षण कुदरती तौर पर रहता है। इस आकर्षणसे आरम्भादि पापक्रियायें होती हैं, और इस जड़जन्य सुखमें तृप्ति न मिलनेसे जीवनको लम्बा करनेकी झंखना उग्ररूपसे कायम रहती है। इसीसे मृत्युका भय है। इस प्रकार मृत्यु से वही सुखपूर्वक भेट कर सकता है, जो मृत्युके स्वरूपको और सांसारिक पदार्थों के सम्वन्धको ठीक तरह (यथार्थ) जानता है, और जो मृत्युके स्वरूपको जानता है वह ही मृत्युके भयसे निर्भय हो जाता है। और जन्म मरणके फेरेसे छूट जाता है।

(९) जो पुरुष पर(विषयासक्ति)से होनेवाले दुःखोंको जानते हैं वे वीरपुरुष आत्मसंयमको सुरक्षित रखते हुए विषयों में न फंसकर पापकर्मसे दूर रहते हैं।

विशेष—ज्ञान अर्थात् स्वभाव और परभावकी भिन्नताका ज्ञान है। सच्चे ज्ञानके विना सच्चा वैराग्य नहीं पैदा होता। और सच्चे वैराग्यके विना किया हुआ त्याग पापकर्मों से वचा नहीं सकता।

(१०) जो विषयोपभोगके अनुष्ठानको शस्त्ररूप जानता है, वह अशस्त्र (संयम)को जानता है, और जो संयमको जानता है वह विषयोपभोगके अनुष्ठान को शस्त्ररूप जानता है।

विशेष—विपयोपभोग सुखका अनुभव-आत्माका पतन है। इससे विपयासक्ति, फ़िर वह चाहे जिस इन्द्रियका विपय हो, वह आत्माके हननका शस्त्र है। उसे जो यथार्थरूपसे समझता है वह ही संयमकी आराधना करता है और संयमका सच्चा आराधक होता है; वही विपयासक्तिसे

पर रह सकता है अर्थात् विषयासक्ति ही भवभ्रमणका कारण है, विषय नहीं। इससे यह फलित होता है कि विषयासक्ति और संयम ये दोनों साथ साथ नहीं रह सकते।

(११) जंबू! अकर्मा साधूको संसार सम्बन्ध नहीं रहता। कर्मसे ही सब उपाधियां पैदा होती हैं।

विशेष—आध्यात्मिक शब्दोंकी परिभाषामें अनेकानेक शब्दोंके संबंधमें खूब ही गड़बड़ होती आई है और है। ऊपरके सूत्रकी स्पष्टता न की जाय तो कर्म शब्दके संबंधमें ऐसी ही गड़बड़ हो जायगी। आसक्तिसे उत्पन्न क्रिया ही कर्म, और अनासक्तिसे होनेवाली क्रिया ही धर्म है। इसीसे जैन-दर्शनमें धर्मकी व्याख्या भी 'वस्तुका स्वभाव ही धर्म' इस प्रकार की है। और इस रहस्यको जाननेवाला साधक ही संयमी होता है। इस तरह ऊपर वाले सूत्रमें सूत्रकारने साफ़ कहा है कि जो अकर्मा अर्थात् अनासक्त होता है उसमें संसारका संबंध स्वाभाविकतया रहता ही नहीं।

संसार आसक्तिपूर्ण व्यवहारको कहते हैं। अतः उसका संबंध उपाधिमय होना स्वभाविक है। इसी कारण सूत्रकार महात्मा भी यही कहते हैं कि कर्म-आसक्तिपूर्ण क्रियासे ही उपाधियां होती हैं।

सामान्य रीतिसे ऐसे रहस्यपूर्ण और स्याद्वादमय सूत्र यदि हम उस संयमीकी परिस्थितिका अनुलक्ष्य रखकर कहे हुए समझकर उनके अर्थोंको न सुलझाएं तो अर्थके बदले बहुतबार अनर्थ ही होगा।

इसी सूत्रमें कर्म शब्दका केवल 'क्रिया' अर्थ ही निकाला जाय तो क्रियासे छुटे हुएको संसारका व्यवहार रहता नहीं यही अर्थ निकलेगा। जो यही अर्थ निकाला जाय तो ठेट मुक्त हुए के अतिरिक्त कोई भी ऐसा जीव न निकलेगा कि जो क्रियात्मक न हो,और रही मुक्तदशा-सिद्धदशा,इस दशा के लिए तो प्रयोग ही न हो सके। अर्थात् सूत्रमें अकर्माका अर्थ अनासक्त साधक ही उचित रीतिसे घटता है, और आगे आनेवाले सूत्रके वही अर्थ यहां प्रस्तुत हैं, यह स्पष्ट करते हैं।

(१२) इसीरीतिसे साधक कर्मका यथार्थ स्वरूप जानकर और हिंसकवृत्तिको कर्मका मूल समझकर उससे दूर रहे।

विशेष—आसक्ति पूर्वक की गई क्रिया कर्म हैं, और आसक्तिवाली वृत्ति कर्मका मूल है, अर्थात् जिस क्रियामें हिंसकवृत्ति या आसक्ति होती है वही क्रिया धर्मरूपमें परिणमित होती है। और तीव्रकर्मबंधन करती है। यही इस सूत्रका आशय है। कर्मशब्दका आगे किए गए अर्थका समर्थन यह सूत्र इस रीतिसे अधिक करता है।

(१३) ये सब स्वरूप विचारकर(कर्मसे दूर होनेके)सब उपायोंको ग्रहण करके मतिमान् साधक राग और द्वेषका मूलमें से ही परिहार करता है।

विशेष—विषय और विषयोंकी ओर ढलनेवाली वृत्ति पदार्थ और उसे भोगनेकी झंखना इन सब भेदोंका रहस्य जानकर आसक्तिवाली वृत्ति, कि जिससे राग और द्वेष पैदा होनेसे संसारको बढ़ाते हैं उस ओर खूब सावधान रहना चाहिए।

(१४) कारण, बुद्धिमान साधक समझता है कि राग और द्वेष ये दोनों अहितकर हैं। संसारके लोग उनसे ही दुःखी दिखाई देते हैं। प्रत्येक साधकको यही समझकर लोकसंज्ञासे दूर रहकर संयममें परिक्रमण करना चाहिए।

विशेष—जहां राग है, वहां द्वेष है ही ऐसा मानना चाहिए। कारण राग और द्वेप दोनोंका उत्पत्ति स्थान एक ही है। जहां राग द्वेप है वहां संसार भी है, और जहां संसार है वहां दुःख है। हृदयसे ऐसा निश्चय होनेके पश्चात् दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति चाहनेवाला साधक लोगों की प्रवृत्तिकी ओर न ढुलक कर स्व और परके प्रति मोह, वासना या राग न रखकर केवल प्रेममय जीवन बनाए। सत्यके प्रति स्थायी प्रेम जगनेपर

फिर अनुकम्पा, संयम, त्याग, अर्पणता और निर्भयता ये सब क्रमशः पैदा होते हैं।

उपसंहार–दुःखका कारण अज्ञान है। तब स्व और परकी भेदबुद्धिका विवेक ज्ञान ही है,और ऐसा ज्ञानी आसक्तिको दुःखका कारण जानकर अनासक्ति को दृढ़ करनेकेलिए संयमकी आराधना करता है।

इस प्रकार कहता हूं

शीतोष्णीय अध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त।

दूसरा उद्देशक

त्यागमार्गकी आवश्यकता

किस मार्गके ग्रहण करनेसे वैभाविकता टल सकती है ? इसके प्रत्युत्तरमें सूत्रकार त्यागमार्गकी आवश्यकता समझाते हैं। इसमें व्रतोंका विचार आसानीसे समझा जा सकता है। पहले सूत्रमें अहिंसा किस लिए है, यह बताया है। कोई भी साधक जो कि विश्वका अंग है, वह प्रमत्त बनकर विश्वके दूसरे किसी भी प्राणीको पीड़ा पहुंचाकर अपना विकास नहीं कर सकता। जिस सुखकी वाँछा स्वयं करता है वह सुख औरोंको भी चाहिए दूसरोंके दुःखसे अपना सुख नहीं साध सकता। इसमें व्यक्ति और समाजका क्या सम्बन्ध है इसका ठीक ठीक Exect वर्णन है।

व्यक्तिके विकासमें समाजका भी हित है ही। फिर चाहे वह प्रत्यक्ष है या परोक्ष ! कारण व्यक्तित्वकी पराकाष्ठा तक व्यक्ति और विश्वका संबंध रहता है। इस बातकी–अर्थात् विश्वबंधुत्व भावसे भरपूर अहिंसाके गहरे सिद्धान्तकी उपेक्षा करके कोई भी गृहस्थ या त्यागी साधक अपने विकासको साध पूरी नहीं कर सकता।

गुरुदेव बोले

(१) आत्मार्थी शिष्य ! (१) तू इस संसारमें जन्म और बुढ़ापेके दुःखको देख ! (२) जैसे तुझे सुख प्रिय है वैसे ही

सारे संसारके जीवोंको सुख प्रिय है—यही विचार कर तू अपना वर्ताव वैसा ही कर। वंधनसे मुक्त होनेका यह एक उत्तम मार्ग है। यही जानकर तत्वदर्शी साधक पापकर्म (हिंसा) नहीं करता।

विशेष—जन्म और जराका निरीक्षण अर्थात् कर्मके अविचल-अमिट सिद्धांतका इसमें निरीक्षण है। जो क्रियारूपमें परिणमित है उसका परिणाम उस क्रियाके कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है; और उस कर्मको लेकर ही जन्म जरा अर्थात् संसार परिभ्रमण करता है। इसी वातको समझकर अपने और पराएकेलिए उपयोगमय जीवन वनाना चाहिए। अपने और पराएकेलिए सच्चे सुखको पानेकी चावी अहिंसकवृत्ति अहिंसक वर्तावमें है। इस तरह अहिंसा सत्यार्थीका मुख्यसाधन वन जाता है।

(२) पुनः हे मुनिसाधक! जो व्यक्ति जीव हिंसादि आरंभ और गाढ परिग्रहादिके कीचड़में जीवित रहनेवाले और इसलोक तथा परलोकमें केवल कामभोग प्राप्त करनेकी लालसा वाले हैं, वे अपनी उस लालसा द्वारा कर्ममलको इकट्ठा करते रहते हैं और कर्ममलको लेकर वारम्वार जन्म-मरण प्राप्त करते हैं। इसलिए ऐसे जालमें तू मत फंस।

विशेष—यहां यह वताया है कि इसलोक और परलोकमें कामभोग मिलनेसे सुखकी प्राप्ति होती है ऐसी झूटी समझसे कामभोग पानेकी लालसा वाले जीव अनेक प्रकारके हिंसादि आरम्भ करते हैं यह वात तो स्पष्ट है। परन्तु जो लालसाके पोपणकेलिए प्राणीमात्रकी हिंसामें कर्मकांड के नाम पर धर्मके ठेकेदार जो धर्म वताते हैं, परलोकके सुखका लालच देते हैं उनकी अवास्तविकता सिद्ध करते हुए सूत्रकार का कहना है कि:—जीवआत्माके साथ परलोकमें क्रिया या क्रियाका फल नहीं आता, वल्कि क्रिया करते समय या क्रियाके करनेके वाद जो संस्कार (कर्मपरमाणु) वृत्ति

के ऊपर स्थापित होते हैं वह जीवात्माके साथ रहा हुआ संस्कारोंका समूह ही साथ आता है और उन्हें हम कर्म कहते हैं।

(३) पुनः अज्ञानी और कामगुणोंमें आसक्त पुरुष हँसी तथा विनोदकी खातिर दूसरोंके प्राणलेनेकी चेष्टा करते हैं, इस लिए ऐसे बाल जीवोंका साथ न करना चाहिए, कारण ऐसा करनेसे परिणाम स्वरूप अनेक तरहकी उपाधि (खराबी) उत्पन्न होती हैं।

विशेष--प्रमाद और आसक्ति ही हिंसाका मूल है। प्रमादी या आसक्त चाहे जो क्रिया करे वह कर्मबंधन करेगा ही। क्योंकि आसक्तिकी पोषणासे चैतन्यमयअंशोंमें जड़ता मिलती है। जड़ताके बढ़नेसे निर्दयता बढ़ती है, वृत्ति कठोर होती है, दूसरेके प्राणकी आहुति देनेमें भी उसे अच्छा लगता है और दूसरेके दुःखमें भी वे आनन्द लेते हैं। ऐसे क्रूर मनुष्य ज्ञानीकी दृष्टिमें अज्ञानी हैं। उनकी संगतिसे अपने दोष साधकको साधना मार्गमें स्थिर नहीं होने देते। ऐसा संभव गिना जाता है। कारण आंदोलनोंका असर व्यापक होता है, अतः दुष्ट आंदोलनोंसे साधकको बचकर रहना उचित है।

(४) इसलिए सच्चा तत्वदर्शी साधक अपने परमध्येयको अनुलक्ष्यमें रखकर ऐसे अपायों (बाधककरणों) से सचेत रहकर पापकर्म नहीं करता।

(५) परन्तु हे धीर पुरुषो! तुम मूलकर्म और अग्रकर्म के भेदको विवेक बुद्धिसे समझो। ऐसा करनेसे कर्मोंके परिच्छेदनका अनुभव पाकर तुम सहज निष्कर्मदर्शी-निष्कर्मा हो जाओगे।

विशेष--पापकर्म शब्दसे 'पापक्रिया' इतना ही परिमित अर्थ घटानेका सामान्यरीतिसे स्वभाव हो पड़ता है। इसलिए सूत्रकार महात्मा स्वयं ही पापकर्मकी वास्तविक व्याख्या समझाते हुए कहते हैं कि 'कर्म दो प्रकारके

हैं; मूलकर्म और अग्रकर्म ।' कई वार क्रिया के ऊपरसे ही धर्म या अधर्म की व्याख्या की जाती है । यहां सूत्रकार यह कहते हैं कि ऐसी वात नहीं है । क्रिया स्वयं एकान्त धर्म या अधर्मयुक्त नहीं है । (१) जिस क्रियाके पीछे आसक्ति होती है वही मूलकर्म अर्थात् मोहनीय कर्म-जड़वाली आसक्ति पूर्वक क्रिया है; (२) और अग्रकर्म अर्थात् मोहनीयसे इतरकर्म या जो क्रिया स्वयं चाहे शुभ हो या अशुभरूपमें दृष्टि गत होती हो; परन्तु जिसके पीछे आसक्ति न हो वह मूल-कंदवाली क्रिया नहीं है वल्कि अग्र अर्थात् चोटी वाली क्रिया कहलाती है । ऐसी क्रियाएँ जहां तक साधक जीवन है वहां तक रहेंगी ही । परन्तु उसके पीछे आसक्ति न होनेसे ऐसी अग्रकर्म वाली क्रियाओंमें आत्मविकास नहीं रुकता । इतना ही नहीं वल्कि ऐसी क्रियाओंके कारण वंधनेवाले कर्मोंका अंत भी शीघ्र किया जा सकता है । इस भेदविज्ञानके अनुभवके वाद ही साधक विधिनिषेधके रहस्यको प्रगट कर सकता है । कर्मोंके इस भेदको जाने विना अनासक्ति असंभव है । पर इस अनासक्तिको लोकसंसर्ग और पदार्थोंके संगमें रहकर विकसित करना कुछ उत्सर्ग नहीं वल्कि अपवाद है । इस अपवाद मार्गमें कौन साधक जा सकता है इसे अगले सूत्रमें समझाया गया है ।

(६) इसरीतिसे कर्मभेदका ज्ञाता वही साधक मरणसे छूट सकता है जिसे(संसारके)भयका भी संपूर्ण ज्ञान हो चुका है । वह मोक्षका दृष्टा वनकर लोकमें रहते हुए एकांत-रागद्वेष रहित समभावजीवी, शांत, समिति(उपयोग)वान, ज्ञानवान और पुरुषार्थी वनकर, कालकी पर्वाह न करते हुए वीरता पूर्वक आगे वढ़ता है ।

विशेष—इसप्रकार कर्मोंके भेदका जो ज्ञाता होता है उसके जीवन में समभाव, संतोष, उपयोगमयता, विवेकवुद्धिकी जागृती और सतत पुरुषार्थ आदि गुण आसानीसे पैदा हो जाते हैं, और वही ज्ञानी पदार्थोंके संगमें रहकर भी निरासक्त रह सकते हैं । इसकी एक क्षण भी आत्मलक्ष्य विहीन

नहीं होती। इसकी एक भी क्रिया प्राकृतिक नियमके विरुद्ध नहीं होती। इसे जीवन और मृत्यु दोनों दशाएँ समान हैं। 'यह सब कुछ मैं ही करता हूँ इसे स्वप्नमें भी भान नहीं होता। ऐसे ढङ्गसे अनासक्त पुरुषका सारा जीवन प्रकृतिके नियमके आधीन ही वहता है, और ऐसा ही पुरुष विषयों के संगमें होते हुए भी वीरता पूर्वक आगे बढ़ सकता है।

(७) साधको ? इस साधनामार्गमें आगे बढ़ते हुए तुम्हें वृत्ति ठगने लगे तो) पहले पापकर्म बहुत किए हैं, ऐसा मानकर अब तुम्हें सत्य मार्गपर आरूढ़ होकर अधिकसे अधिक धैर्य धारण करना उचित है। संयममें लीन बुद्धिमान साधक सबके सब (पूर्वकृत और पश्चात्कृत) दुष्टकर्मोंका नाश कर डालता है।

विशेष—छठवें सूत्रमें सदुपयोगी-ज्ञानयोगी संगमें भी निर्लेप रह सकता है। अर्थात ज्ञानयोगके पश्चात् ज्ञानमार्ग और त्यागमार्ग तथा त्यागमार्गके बाद अनासक्ति की जो भूमिकाएँ हैं, उनके बदले अनासक्तिकी नई-श्रेणी बनाई है। सूत्रमें यह कहा है कि जिसके पूर्वअभ्यास गाढ़ होकर लालसा और वासनाके संस्कार जागृत होनेवाले प्रसंग बार बार आएँ तो चाहे जितनी वीरता हो तो भी इस वीरताको निमित्त देकर निकम्मा व्यय करके उसकी अपेक्षा संगसे दूर रहना अधिक उचित है। और यही सत्यमार्ग उत्सर्गमार्ग है।

सूत्रकार ये दो मार्ग इसलिए बता रहे हैं कि विलास या कामभोगमें सुखकी प्राप्ति नहीं है। आत्माका जो मूलस्वभाव है उसे फिरसे मार्जित करके पानेकेलिये अवेर या सवेर जीवात्माको पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा वह पुरुषार्थ अर्थात् विभाविक तत्वके त्यागका पुरुषार्थ। परंतु जिस तरह डाक्टर बीमार के रोगको समझकर उसके आरोग्यके लिए मेडिकल और सर्जिकल दो अलग अलग रीतियोंसे रोगीके अनुकूल चाहे जैसे ढंगको अङ्गीकार करता है, ऐसे ही चित्तके रोगकेलिए भी दो मार्ग हैं। एक तो विभाविकताको अधिक पैदा होने देनेसे पहले सर्जिकल नीतिके अनु-

सार काटकर फेंक देना और दूसरी नीति रोगोंमें रहे हुए विभाविक तत्वोंको दूर करनेके लिए इनके सामने विभाविक तत्वरूपी दवाओं को डालकर स्वाभाविकता उत्पन्न करना । जैसे ये दो मार्ग हैं, ऐसे ही या तो साधक लोकसंसर्गमें रहते हुए भी निर्लेप रहकर साधनामार्गमें आगे बढ़े । या फिर एकांतसेवी होकर सीधा ही विभाविकताको तोड़ता तोड़ता लोक-संसर्गसे दूर रहकर साधनामार्गमें आगे बढ़े । परंतु यह तो निश्चित ही हैं कि वारी सवेरी इस भव या-भवांतरमें भी जीवको उसके अपने शुद्धस्वभावकी ओर गये विना छुट्टी नहीं अर्थात् जो आत्माके शुद्धस्वरूपको जानता है वह प्रमादी न बनकर सतत संयममार्गमें संलग्न रहता है उसे अपना आत्म मार्ग न चूकना हितावह है ।

(८) इस मृगतृष्णाके समान सुखके पीछे फिरनेवाले विलासी पामर जीवोंको देखो, जो वेचारे चंचलचित्त होकर छलनोमें समुद्रका पानी भरनेकी चेष्टा करते हैं उसकेलिए औरोंको मारने और हैरान करनेकेलिए तैयार रहते हैं ।

विशेष—सुखको सब चाहते हैं, यदि कामभोगोंसे सुख मिलता तो अनासक्ति या कामभोगोंका त्याग इनमेंसे किसी एक मार्गको किसलिए अपनाया जाता, यहां यही प्रश्न सुलझाया गया है । सूत्रकार कहते हैं कि यदि कोई सुख कामभोगोंसे मिलनेकी कल्पना करता है तो वह मृगतृष्णाके पानीके समान है । जीव उसके पीछे ज्यों ज्यों दौड़ता है त्यों त्यों वह हताश होता है और अपने स्वत्वको गवां बैठता है । चित्तकी चंचलता और जहां तहां धक्के खानेका अनुभव इसबातकी साख पूरता है । हिंसा भी ऐसे कारणोंसे जन्म लेती है । अहिंसा आत्माके विकासका मूल है । अतः अधिकाधिक त्यागकी आवश्यकता उसकी अधिक पुष्टि करता है । और वह डंकेकी चोटसे कहता है कि छलनीमें जैसे पानी नहीं भरा जा सकता ऐसे ही सुखाभासमें सुखकी कल्पना करनेकी आशा भी पूरी नहीं हो सकती ।

(९)लोभवश ऐसे कर्म करके भी अन्तमें (भान होते हुए उस मार्गको छोड़कर) वहुतसे साधकजीव पीछेसे संयममार्गमें उद्यमवान हुए हैं। उनके अनेक दृष्टाँत हैं इसलिए जिस ज्ञानी साधकने एक वार भोगवाँछा तथा असत्यादि दोषोंका त्याग किया है वह साधक(अनेक प्रकारके प्रलोभन मिलते हुए)पाए हुएं भोगोंको निःसार जानकर फिरसे सेवन करनेकी (स्वप्नमें भी) इच्छा नहीं करता।

विशेष—सच्चे सुखकी प्राप्तिकेलिए त्यागमार्ग राजमार्ग है। जिस व्यक्तिने वाहरी पदार्थोंमें सुख माना था, उसको भी सुख प्राप्तिकेलिए यह मानना पड़ा है, यही कहकर यहां इसका प्रतिपादन किया है।

जैनदर्शन कहता है कि भरत आदि चक्रवर्ती छःखण्डके अधिपति थे, फिर भी उनमें उनको संतोष न मिला, और वे अन्तमें तृष्णाकी वेड़ियोंको तोड़कर ही मुक्त हुए। तव ही सच्चे सुखके अधिकारी वने। जिनका यह निश्चय होता है, वह कामभोगकी सामग्रियां होने पर भी अलिप्त रहनेका प्रयत्न करते हैं, और वे उस लेपसे छूटनेपर तो फिर कभी उनकी ओर दृष्टिपात तक भी नहीं करते। कारण उन्होंने अनन्तज्ञानीजनों द्वारा और अपने अनुभवसे यथार्थ स्वरूप समझलिया है।

(१०-११) प्रिय साधक ! संसारके प्रत्येक प्राणीके पीछे जन्म मरण लगा हुआ है(फिर चाहे वह देव है या पशु प्राणी), यह जानकर संयममार्गको अङ्गीकार करो, अर्थात् किसी भी जीवको कष्ट न दो, अन्यके द्वारा न दिलवाओ, और यदि कोई त्रास दे उसे अनुमोदन न दो।

(१२)और स्त्री आदिमें आसक्ति न करके वासनाजन्य सुख(सुखाभास)को धिक्कारो(इच्छा न करो)। एवं ज्ञान,

संयम इत्यादि गुण प्राप्त करके पापकर्मोंसे सदा दूर रहो।

(१३) पराक्रमी साधको! क्रोध और उसके कारणरूप अहंकारको भी नष्ट कर डालो, और लोभसे भी अतिदुःखसे भरी हुई नरक जैसी अधम गतिमें जाना पड़ेगा, यह समझकर मोक्षार्थी साधक! हिंसक वृत्तिसे दूर रहकर शोक संताप न कर।

(१४) इसीप्रकार धीर साधको! (वाहर और भीतरके) परिग्रहको अहितकारी जानकर उसे तुरंत दूर कर डालो और इस संसारके (विषय वांछा रूप) प्रवाहको भी अहितकर जानकर इंद्रियोंको कावूमें लानेका प्रयत्न करो। इस उच्च मनुष्यजीवन जैसे उच्चजीवन पर और साधककी भूमिका जैसे ऊंचे पद पर तुम आ पहुंचे हो, तुम तो किसी भी छोटे या वड़े प्राणियोंके प्राणोंको त्रास न दो। इस प्रकार समस्त लोकका कल्याण चाहनेवाले भगवान महावीर साधकोंको संवोधन करके जो कहते थे वही वस्तु प्रिय जंबू! मैं तुझे स्पष्ट रूपसे कह रहा हूं।

विशेष—पहले कहे गए नौ सूत्रोंमें त्यागकी आवश्यकता और अनिवार्यताके संबंधमें शास्त्रकार द्वारा कहे जानेपर त्यागी कैसा हो, संयमी जीवन कैसा हो आदिका १०से १४ सूत्रोंमें निरूपण किया है। इसमें सत्यको ध्येयरूप वताकर संयम अर्थात् त्यागमार्गमें जानेसे पहले की स्थिति और उसमें भी अहिंसा आदिका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप वताया है।

एवं स्त्रीआदिमें आसक्ति न लानेकी वात कहकर वासनाजन्य सुखोंका विरोध करतेहुए सूत्रकारने ब्रह्मचर्यका निरूपण किया है, और सवसे अखीर में संयमके अल्पांशमें भी जो परिग्रहकी वृत्ति थी उसका परिहार, अर्थात् आंतरिक वासनाका त्याग करनेकेलिए और उस त्यागमार्गमें स्वाद आदि

विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंको जीतनेकी व्यावहारिक साधना बताई गई है।

उपसंहार—इसप्रकार सत्यलक्ष्यीपन, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और इंद्रियजय इन चार मुख्य व्रतोंके पालन करनेकी आवश्यकताका उद्देश बड़ी ही सुंदर रीतिसे समझाया है।

इसप्रकार कहता हूँ

शीतोष्णीय अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त।

तीसरा उद्देशक

सावधानता

इस अध्ययनके पहले उद्देशकमें संयम और चित्तवृत्तिका संवन्ध समझाकर सुख और दुःख ये दोनों मन की वृत्ति Inclination से पर किसी (आनन्दके) संवेदनका सच्चा मार्ग दर्शाया है, और दूसरे उद्देशकमें आसक्तिसे विराम पानेकेलिए त्यागमार्ग की आवश्यकता और त्यागका स्वरूप कहा है। अब सूत्रकार महात्माने 'त्याग अर्थात् निष्क्रिय रहने की दशा नहीं है बल्कि प्रतिपल उसमें उपस्थित होते हुए अनेक प्रलोभन और संकटों के अन्दर मानस को समतोल रखने अथवा सत्क्रियामें जागृति रहनेकी भूमिका है' ऐसा समझाकर त्यागका गूढ उद्देश्य इस उद्देशकमें और अधिक स्पष्ट किया है।

संकटोंको सहना और पापकर्म न करना, केवल निष्क्रिय बनना ही नहीं है। यदि देहका निष्क्रिय रखना मानलें तो क्या कुछ मन निष्क्रिय थोड़े ही होगा ? वहाँ तो सक्रियता रहेगी ही। अतः अधर्मकी क्रिया छोड़ कर धर्मको क्रियामें लगे रहना उचित है। एक क्षणमें एक ही उपयोग रहता है। अधर्मकी क्रिया और धर्मक्रिया ये दोनों एक साथ नहीं होती। जहां योग है वहां प्रवृत्ति तो है ही। इससे निवृत्ति-निष्क्रियता न होकर बल्कि निवृत्ति होना संगत होगा।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू ! अवसरको पाया समझकर कोई भी त्यागी प्रमाद न करे।

विशेष—पदार्थोंसे या विषयों से अलग रहे तो क्या त्यागी हो जाता है, ऐसी भ्रांति बहुतसे समझदार साधकोंमें भी घर किये हुए है; पर सूत्रकार महात्मा यहां इस भ्रमको दूर करके समझाते हैं कि पदार्थोंका त्याग केवल निमित्तों का त्याग मात्र है। वह त्याग उपादान सत्वकी शुद्धिकेलिए ही उपयोगी सिद्ध हो इसलिए है। इससे अब तो साधनाके उत्तम अवसरको पाया जानकर उलटा भले प्रकार जागृति रखना उचित है अर्थात् साधकको एक क्षणका भी प्रमाद न करना चाहिए।

प्रवृत्तिवाले साधकको निष्क्रियता पीड़ा नहीं पहुँचाती जितनी निवृत्तिमान्को पीडित करती है। सर्वत्र निवृत्तिकी चाह करनेवाला साधक यदि इंद्रियों और चित्तपर सावधानी न रक्खे तो पहलेकी अध्यास की हुई और बीजरूप रही हुई वासनाओंको वह दुगने जोरसे बाहर प्रगट कर देती है अर्थात् निवृत्तिवाले साधकको चित्तके धर्मो पर खूब ही लक्ष्य रखना होता है। अनुभव भी यही कहता है कि जो साधक पदार्थ त्यागको त्याग मानकर ग़ाफ़िल रहते हैं--प्रमत्त हो गए हैं उन्हें पछताना पड़ता है। पदार्थ विषयों का त्याग अर्थात् त्यागके संकल्पको जमाना है। संकल्प शक्तिके बाद साधना से सहज त्यागपर जमकर स्थिर होना ही त्यागकी सिद्धि माना गया है।

(२) इसी प्रकार जैसे अपनी ओर देखता है, उसी दृष्टि से दूसरेंको देखो। इस दृष्टिको पा लेनेपर वह न किसीको मारता है और न किसीका दूसरेके द्वारा घात कराता है।

विशेष—यहां जो अहिंसाका प्रतिपादन किया है वह अहिंसा विश्वैक्यके अर्थमें है। त्यागी साधक आत्मवत् सबको देखता है अर्थात् त्यागीके मानसकी गहराईमें भी किसीसे व्यक्तिपरत्व द्वेष, तिरस्कार या घृणा न

हो इतना ही नहीं; बल्कि यह मेरेसे अधम-हल्का, अल्पगुणी है उनमें ऐसी भावना तक नहीं होती। त्याग अर्थात् एक छोटेसे झरनेका विश्वके महासागरमें मिल जाना है। अपने व्यक्तित्वको विश्वके व्यक्तित्वमें समर्पण करना है। परन्तु व्यक्तित्वके आगे बिना व्यक्तित्वका समर्पण संभव नहीं है! अर्थात् पहले व्यक्ति विकास करे और फिर समर्पण हो।

व्यक्तित्वको विश्वत्वमें समर्पित करना ही त्यागीकी साधना है। जैसे एक छोटी सी निर्झरिणी सागरमें मिल जानेके बाद अपने स्वादिष्ट और रोचक गुणको भी अर्पण कर देती है और इसमें फिर स्व और पर जैसा कुछ नहीं रहता, ऐसे ही त्यागी साधक पदार्थके प्रति अपनी स्वामित्व, ममत्व, अहंत्व इत्यादिको छोड़कर अपने आपको विश्वमें अर्पण करता है। वहां वह समस्त चैतन्योंके साथ चैतन्य स्वरूपमें एकताका अनुभव करता है। व्यक्तिरूपसे भिन्न भिन्न होने पर भी यह अपना है यह पराया है ऐसी भेद बुद्धि चली जाती है। महासागर जैसे महाविश्वमें एक छोटासा आंदोलन भी उससे अवेद्य-अज्ञात नहीं है, इसलिए यह विशेष जागृत रहता है। विश्वकी प्रत्येक क्रियाके साथ उसका सुमेल है यह ऐसे बोलता रहता है इसलिए वह मन, वाणी और कर्मसे विश्वमें सत्यका प्रयोग कर छोड़ता है।

अब उसे कोई भी चेष्टा विश्वकेलिए गुप्त रखनेको नहीं रह जाती। वह अनुभव करने लगता है कि जो पिंडमें है वही ब्रह्मांडमें है, जो अपने में है वही सर्वत्र है। ऐसा उसे अपरोक्ष अनुभव होने लगता है। यह अपरोक्ष अनुभव ही अहिंसाकी पराकाष्ठाका होनेवाला सहज अनुभव है।

(३) आत्मार्थी शिष्य गुरुदेवको विनीतभावसे संबोधन करके पूछता है कि गुरुदेव! (किसी) दूसरेकी या आपसकी लज्जासे दबकर या आसपासके संयोगोंके आधीन बहुतसे साधक वृत्तिमें पाप होनेपर भी क्रियारूपमें पापकर्म करते नहीं देखे जाते, तब क्या उसे त्याग कहा जा सकता है?

गुरुदेव बोले

प्रिय शिष्य ! वहां तो समताकी उपेक्षा है। जहां लोकैषणा है वहां समता कैसे टिक सकती है ? कारण समभावका संबंध आत्माके साथ है। अतः सच्चा साधक समभावसे ही आत्माको प्रसन्न रखता है।

विशेष—"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाकरणीयम्" अर्थात् विश्वके साथ ऐक्य रखना। जगत् क्या कहता है ? वह कैसे चलता है ? उसके क़दममें क़दम रखकर चलनेमें समझदारी है ऐसी उसकी दृष्टि नहीं है। बहुतसे त्यागी साधक भी यही जानकर व्यवहार करते देखे गए हैं और फ़िर भी बाह्य रीतिसे ये पूरे त्यागी ही दीख पड़ते हैं। तो भी औरोंकी या और गृहस्थोंकी शर्मसे आपसकी या साधकोंकी शर्म लगनेसे शायद इस क्रियाको देखकर और लोग मेरी निन्दा करेंगे या मेरी प्रतिष्ठाको धक्का पहुँचेगा, ऐसी अनेक समाजैषणा या लोकैषणाकी ख़ातिर डरकर जो पाप कर्म नहीं करते वे कुछ आदर्श त्यागी नहीं हैं। असलमें जहां पूर्ण समता है वहां त्याग है। जिस त्यागमें निर्भयता और स्वाभाविकता नहीं है वह त्याग विकासमें उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

त्यागसे पदार्थोंके प्रति तिरस्कार पैदा नहीं होता, तथा आवेशजन्य किंवा मानसजन्य (माना हुआ) आनन्द पैदा नहीं होता, बल्कि आत्मामें सन्तुलन पैदा हो जाता है। और यह संतुलन ही आत्माके सहज आनन्द का यथार्थ अनुभव है।

(४) इसलिए ऐसा ज्ञानवान् साधक समभाव-आत्माके समतोलनको अपना सर्वोत्कृष्ट ध्येय बनाकर कभी ज़रासा भी प्रमाद न करे, और आत्मरक्षक एवं सदैव धीर बनकर देहको संयम यात्राका वाहन और साधन समझकर उसका उपयोग करे।

विशेष–बहुतसे त्यागी और तपस्वी स्वेच्छासे ही कठिन तपश्चार्याओं तथा शुष्कवृत्तिसे प्रसन्न रहकर जीवित रहते हैं, परंतु शुद्ध ध्येय विना अकेला देहदमन जीवनमें शुष्कता-सूखापन उत्पन्न कर देता है। या फिर वृत्तिका प्रवल प्रत्याघात होता है तव अश्रद्धा उत्पन्न कराता है। म० बुद्ध जैसे वहुतसे तपस्वियोंका अतिदेहदमन मूखा प्रमाणित होनेका अनुभव जगतको मिला। यहां सूत्रकार महात्मा यही समझा रहे हैं। देहके ऊपरका विलास जिसप्रकार आत्मघातक है उसी तरह देहकी ओर लापवीही रखना भी जीवन रसको चूसनेवाला सिद्ध हो सकता है। इसलिए साधनमें आत्मरक्षा और धैर्य इन दोनोंको सामने रखकर देहरूपी साधन व्यवस्थित, सुघड़ नियमवद्ध, संयमी और कार्यसाधक निमटे ऐसी रीतिसे उसे वचाकर रखना यह साधनाका एक उपयोगी अंग है। अमुक हद तक शरीरवलके साथ मनोवलका भी संवंध है। शरीरकी विल्कुल उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस रीतिसे साध्यसाधककी योग्यता और साधना का सदुपयोग, इस प्रकार त्रिपुटीका प्रत्यक्ष वर्णन दिया है। और इनका समन्वय साधनेकी सूचना की है।

(५) साधक अतिमोह या सामान्यतया सवरूपोंमें विरक्त रहे।

विशेष—शरीर रक्षाकेलिए रसोपभोग एक आवश्यक तत्व है, और ऐसा रसोपभोग इंद्रियों और विषयोंमें है ऐसा मानकर कोई रूप या रसादिक विषयोंमें आकर्षित होनेसे पहले इतना विचार करे तो ठीक हो। इस सूत्रको रचकर सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि रूप कुछ स्वयं सुन्दर नहीं है वल्कि सौंदर्यका एक प्रतिविंव है यह सौंदर्य प्रकृतिकी जगद्व्यापी देन है, और वह सहज है पदार्थमात्रमें सौंदर्यका कोष भरा पड़ा है। परंतु जिसतरह पदार्थका पदार्थत्व लुटाया या खाया नहीं जाता, इसीतरह यह सौंदर्य कुछ लुटने या खाने की वस्तु भी नहीं है। यह सौंदर्य केवल निरीक्षणीय-अनुभवनीय वस्तु है। जिसरीतिसे देहकी छायाको पकड़नेकेलिए

उसके पीछे दौड़नेवाला मुसाफिर ज्यों ज्यों भागता है त्यों त्यों छाया अतिदूर होती रहती है और निराशा तथा श्रमसे वह दुःखित हो जाता है। इसीतरह रूपमेंसे सौंदर्य लूटनेकी लालसा रखनेवाले मानवोंकी यही दशा होती है। इसलिए इस सूत्रमें सूत्रकार महात्मा कहते हैं कि रूपमें रसोपभोगकी प्राप्ति नहीं है। रूपकी तरह इंद्रियोंके प्रत्येक विषय के संबंधमें समझना चाहिए। परंतु यह रूप आंखका विषय है, और आंख एक ऐसी इंद्रिय है कि उसकी गति और चपलता अति तीव्र होती है। उसका आकर्षण भी उतना ही उग्र और उसकेलिए निमित्त भी प्रतिपल उतने ही मिलते रहते हैं। दूसरी इन्द्रियोंको जो प्रलोभन सहज नहीं होते वे आंखको सहज रीतिसे और विना प्रयत्न प्राप्त हो जाते हैं। दूसरी इंद्रियोंके अनुभवके वाद भी मनको तात्कालिक असर पहुँचता ही हो ऐसा कुछ निश्चित नहीं है। परंतु आंख तो निरन्तर जागृत होने से एक वस्तुको देखा कि झटपट मनमें उसका प्रतिविंव पड़ेगा, चित्तपर संस्कार जमेंगे, और एक वार जहां मनका वेग ढला कि फिर तो रह रह कर उसी ओर खिंच जायगा, इसलिए आंखके विषयरूप रूपकी प्रधानतासे निर्देश किया है। इस वस्तुका सारा विश्व अनुभव कर रहा है, परंतु जो जागता है वही देख सकता है, वही जान सकता है। इस प्रकार जाननेपर वाहरके चोले पर राग कैसे होगा? अर्थात विराग ही पैदा होगा। इस भावसे उत्पन्न वैराग्यका नाम सहज वैराग्य है।

(६) इसीरीतिसे आगति(आगमन)और गति(गमन)का स्वरूप जानकर(या संसारका रहस्य समझकर)जिन महापुरुषोंने(आत्मसमतोलसे)साधनके द्वारा राग और द्वेष दूर किया है, वे समस्त लोकमें किसी से भी छिद भिद या भस्म न हो सकेंगे (यह तो मात्र देहधर्म है और वह देहभावसे उत्पन्न होता है। आत्मज्ञान होनेपर देहभान जीर्ण-पुराना हो जाता है, और देह,भान नष्ट होनेपर देहधर्म अपने आप विरम जाता है। ऐसे

उच्चकोटिके साधकको शस्त्र छेद भेद नहीं सकते या आग उसे जला नहीं सकती)।

विशेष—पूर्वसूत्रोंमें लौकिक वासनाका वास्तविक स्वरूप दरसाया गया है। इस सूत्रमें आगमन शब्दसे संसार स्वरूप देकर किसी भी ऋद्धि समृद्धि या सिद्धिकी झंखना करना यानी संसार बढ़ाना इस प्रकार पारलौकिक और इहलौकिक कामनाओंसे मिलती जुलती बात सूत्रकार कह रहे हैं। त्याग या तप द्वारा स्वर्गलोक मिलता है ऐसी वासना-रखकर बहुतसे साधक त्याग और जप तप करते हैं या पारलौकिक सुखको हेतुपूर्वक ऐहिक सुखका भोग देते हैं, और बहुतसे साधक तो योग-बलसे तथा त्याग-तपश्चरणसे सिद्धिओंके उत्पन्न करनेका ध्येय रखते हैं। यहां सूत्रकार कहते हैं कि हर एक क्रियाका परिणाम तो होता ही है, परंतु जिस क्रियाके पीछे भौतिक सुख, ऋद्धि या सिद्धि पानेकी इच्छा है उसमें भी अर्पणता या त्याग है,यह नहीं कहा जा सकता। त्याग,तप,और योगबलका एक ही हेतु होना घटित है, और वह मात्र राग और द्वेपका घटाना है। जहां ऐहिक, पारलौकिक या अलौकिक किसी भी सिद्धिकी इच्छा है, वहां रागके अंशोंको संपूर्णतया क्षय करनेकी भावना है यह कहा नहीं जा सकता।

समता योगकी ज्यों ज्यों साधना होती है त्यों त्यों राग और द्वेप घटता जाता है,राग द्वेप कम होने पर आत्मवेदन देह होते हुए आत्मभावमें सहज रीतिसे प्रवेश होता जाता है। ऐसे योगी पुरुपको कोई शस्त्र छेद भेद या जला नहीं सकता, इसका अर्थ यह है कि देह पर होनेवाला कोई भी प्रभाव उसकी अपनी आत्मीय एकाग्रतामें रोक, टोक नहीं कर सकता। यह दशा अध्यात्मयोगिओंकी सहज दशा है। योगी इस भूमिकापर सहज रीतिसे स्थिर होते हैं। देहको लेश मात्र भी कष्ट न हो ऐसी सिद्धियां उन्हें प्राप्त होते हुए भी वे उन्हें तुच्छ समझते हैं। जगत्‌में उनकी ये सिद्धियां स्पष्ट दिखाई देनेपर उनकी ओर लोकाकर्षण खूब बढ़ता है। फिर भी उनके मनको वे सिद्धियां केवल तुच्छ मालूम होती हैं, वे न

कभी उनका उपयोग करते हैं और न करनेकी इच्छा रखते। वे तो केवल कर्मजन्य परिणामको जानकर देहकष्टको समभावसे सह लेते हैं। उनकी आत्माके ऊपर देहदुखका प्रभाव जरा भी नहीं होता।

(७) जंबू ! इस जगतमें वहुतसे ऐसे (अज्ञानी) प्राणी भी होते हैं जो भूत वा भविष्यकालकी घटनाओं (पहले मैं कौन था, अब क्या हूं मेरा क्या होगा, आदि जीवनके उपयोगी विपय) को याद नहीं करते, और इस जीवात्मा पर जड़कर्मके प्रभाव से क्या क्या हुआ है, और क्या क्या होनेवाला है, इसे नहीं विचारते। फिर वहुतसे तो यह भी मानते हैं कि इस आत्माको जैसा सुख या दुःख होगया है वैसा ही भविष्यमें भी होगा।

विशेष—वहुतसे साधक बुद्धि होते हुए भी विचार तक नहीं कर सकते। विचार करनेके अनुकूल समय भी उन्हें नहीं मिलता या पूर्वाध्यासोंके वश होनेसे वह अनुकूल समय नहीं मिलता, परन्तु असल वात तो यह है कि उन्हें नए विचारोंके अभावसे ही मार्गका मिलना कठिन हो जाता है। कईवार एक ही विचारकी किरण घोर नींदसे जागनेकेलिए काफ़ी है। इसलिए सूत्रकार विचारकी आवश्यकता वताते हैं और कई वार विचार होते हुए कर्मके अचल नियमके अविश्वाससे या उसकी पद्धतिकी पूरी समझके विना जो स्पष्ट मार्ग नहीं मिलता उसे वताकर विचारके साथ श्रद्धा और गहरे मननकी आवश्यकताको समझाते हैं।

(८) परन्तु तत्वज्ञ पुरुप इस तरह न कहते हैं न मानते हैं (वे तो यह कहते हैं कि कर्मकी परिणति-परिणाम विचित्र होनेसे कर्मानुसार सुखदुःख होगा ही) इसलिए पवित्र चरित्रवाले महर्पि साधकको इस तथाकथित वस्तुको यथार्थ विचारकर कर्मवंधनोंका क्षय करना चाहिए।

विशेष—यहां कर्मके अटल नियमका प्रतिपादन किया गया है। कर्मका सिद्धान्त गीताने भी माना है। कर्मसिद्धान्त ईश्वर या शक्तिपर अवलंबित नहीं है बल्कि स्वाभाविक है। मानसिक, वाचिक या कायिक कोई भी ऐसी क्रिया नहीं है जिसका परिणाम न हो। 'क्रिया ही फलवती' का सिद्धांत सर्वव्यापक तथा अनादि अनन्त है, परन्तु जगतके बहुतसे मनुष्य कर्मके अटल नियमको स्वीकार नहीं करते। शुद्ध समझ पूर्वक की गई स्वीकृति उसी समय मानी जाती है जब मानपूर्वक जीवन निर्माण होता हो। कई बार ऐसा बन जाता है कि कर्मका परिणाम साक्षात् नहीं दिखाई देता जैसे एक मनुष्य दुष्कर्म करते हुए सुखी देखा जाता है जब कि दूसरा मनुष्य सत्कर्म करते हुए भी दुःखी दीख पड़ता है, परन्तु यह तो केवल ऊपरका बाहरी रूप या कर्मके कालकी अपक्वताके कारण दीखता है। वास्तविक रीतिसे कर्म उसके कर्ताको नहीं छोड़ता, संस्कार-रूपसे वह स्थायीरूप धारण किए रहता है। और जीवात्माको उसका फल देता रहता है, फिर चाहे वह इस जन्ममें फल दे या अगले जन्म में। परन्तु जीवनमेंसे जब विभाविकता चली जाती है तब उसे स्वाभाविकस्थिति और प्रकृतिका अचल नियम समझमें आता है। अमुक स्थितिमें पहुँचे विना यह बात कदाचित न भी समझ सके, परन्तु हम जहरको जहर समझकर भी नहीं समझ सकते। ऐसे तो बहुतसे विषय हैं कि जिनका जहां तक हमें साक्षात्कार न हो वहां तक स्वीकार भी करना पड़े। चाहे स्वानुभव होनेतक यह हमारी अपनी शोधका विषय ही रहे। तब भी समय आनेपर यह सत्य हमें अवश्य मिलेगा। ऐसा विश्वास हमें रखना ही पड़ता है कि जिससे इस तरह करते करते हमारी शोध पूरी हो जाय।

(९) योगी साधकके मनमें पुनः सुख क्या है? और उदासीनता क्या है? (इतने पर भी साधना यह कुछ सिद्धदशा नहीं है अतः) कदाचित् ऐसा प्रसंग आ जाय तो उस प्रसंगको

अनासक्तभावसे वेद(सह)ले। साधक हास्य तथा कुतूहल इत्यादिको छोड़कर इन्द्रियों, मन, वाणी और कायाको कछुवा जिस तरह अपने अंगोंको छुपाकर रखता है, उसी तरह सदा निग्रह कर रक्खे।

विशेष—कछुआ जैसे शरीरको न भेदा जा सके ऐसी पीठके रक्षणके नीचे दवाकर वाहरके आक्रमणोंसे वचता है इसी तरहकी सव वाजी जीत कर संगोपकर आत्माभिमुख होनेके सतत पुरुषार्थको साधक ढाल वनाकर वाहरके आक्रमणोंसे वचता है। कछुवेका दृष्टांत शक्तिओंको केन्द्रित करने और इंद्रिय जय पानेको सूचित करता है।

(१०) जीव! तू स्वयं ही अपना मित्र है वाहर के मित्रोंको क्यों ढूंढ रहा है? (किसलिए बाहरके मित्रकी इच्छा करता है?)

विशेष—तुझे जो कुछ चाहिए, या अनन्तकालसे जिसकी चाह कर रहा है, उसे कोई दूसरा नहीं दे सकता, वल्कि वह तुझे अपने अन्तरंगमें ही मिलेगा, और वहां ही सव है जिसे तू तलाश करता है वह स्वयं तू ही है। प्रत्येक आत्मा अनन्तत्वको खोज रहा है। आत्मस्वरूपके अतिरिक्त किसी भी स्थलमें अनन्तत्व नहीं है। फिर भी वह अनन्तत्व स्वयं ही है, इसका इसे भान तक नहीं है अर्थात् यह वाहरकी शरणको ढूंढ रहा है और ज्यों ज्यों यह वाहरके शरणको लेनेकेलिए मंथन करता है, त्यों त्यों वासना और तृष्णामें फंसकर स्वस्वरूपसे वह दूर होता जा रहा है। वाहरके पदार्थ अन्तवान् हैं। अन्तवानमें अनन्तत्वको खोजना ही अज्ञान और दुखका मूल है।

(११) जो साधक कर्मको दूर करनेवाला है वही मुक्ति पानेका अधिकारी है, और जो मुक्ति पानेका अधिकारी है, वही कर्मको भगाने(नाश करने)में समर्थ है।

विशेष—परन्तु कोई इतना घोखकर या पढ़कर कर्मबंधनसे छुट्टी पानेकी इच्छा करे या अपनेको मुमुक्षु अथवा सत्यार्थी मान बैठे तो वह वहां भूल करता है। सूत्रकार कहते हैं कि जो सत्यार्थी होता है वह सत्यपुरुषार्थी भी होना चाहिए। वीर्य (आत्मबल) के सदुपयोगके विना कर्मसे मुक्ति पाना तो दरकिनार रहा, परन्तु कर्मसे मुक्तिपानेका अधिकार भी प्राप्त नहीं हो सकता।

(१२) पुरुष! अपने आत्माको विषयमार्गमें (जड़जन्य भोगाकर्षणमें) जानेसे रोककर रख। इस प्रकार करनेसे तू दुखों (के बंधन) से छूट सकेगा।

विशेष—इतना कुछ भलिभांति समझनेके बाद भी जहां तक सत्यकी ओर झुकनेमें बाधक कारण अड़ते हों वहां तक सत्यमार्गकी ओर मुड़ना अशक्य है अर्थात् सबसे पहले किसमार्गमें पुरुषार्थ करना उचित है यहां यही बताया है। विषयोंकी ओरका झुकाव और आत्माभिमुखता ये दोनों एक साथ नहीं टिक सकते। ये दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं। इतना कुछ जानते हुए सयाने समझेजानेवाले साधक ही यहां एक या दूसरे प्रकारसे भूलभूलैयामें पड़ते हैं। विषयोंकी ओरके झुकावको रसोपभोग, सौंदर्यपिपासा, स्नेह, प्रणय, प्रेम और ऐसे ऐसे अनेक आकर्षक नाम देकर वासनाजन्य संस्कारोंको वह दृढ़ करता रहता है। सूत्रकार कहते हैं कि इस विषयमार्गके मोड़से पीछे हटो। यद्यपि पूर्वाध्यासोंको लेकर वृत्ति उस ओर खींचे यह संभव हैं, परन्तु इन अध्यासोंको नवीन दृष्टिसे एक वार देखकर फिर शुद्ध करो। वृत्ति चलीजाय, तब भी आत्माको उसमें न मिलने दो। आत्मा जब इन क्रियाओंमें मिलता है तब ही पतनका आरम्भ होता है और वे अध्यास दृढ़ स्वरूप पकड़ लेते हैं तथा ज्यों ज्यों अध्यास मजबूत होते हैं त्यों त्यों जन्म मरणका चक्र बढ़ता है और राग द्वेष पुष्ट होते चले जाते हैं।

(१३) पुरुष! तू सत्यका ही सेवन कर; क्योंकि सत्यकी

आज्ञामें ही लगे हुए बुद्धिमान साधक संसारको पार करते हैं और धर्मको यथार्थ रीतिसे पालन करते हुए कल्याणको प्राप्त करते हैं।

विशेष—तब फिर आत्माको किस मार्गकी ओर झुकना चाहिए ? यह प्रश्न रह जाता है इसलिए इस सूत्रमें 'सूत्रकार' इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि आत्माको सत्यकी ओर ले जाओ। सत् अर्थात् होना यानी जो जैसे है उसे वैसे ही होना, इसका यही अर्थ है। वस्तु जैसे स्वरूपमें हैं उसी स्वरूपमें उसकी ऊपरी उपाधिओंके सामने न देखते हुए उसका मुख्यस्वभाव देखकर, उसमें भक्तिपूर्वक वर्ताव करते रहना, अर्थात् सत्यमय जीवन बनाना। ऐसे सत्यार्थीको सत्यमय बननेमें ही उसका कल्याण है। सत्यकी पूर्णसाधना ही विकासकी पराकाष्ठा है। यह कहकर यहां मोक्ष, स्वर्ग, मुक्ति या ऐसा कोई ध्येय नहीं है, बल्कि सत्यको ही ध्येय बनाना उचित है यही बताकर दूसरे ध्येयके नीचे विकृतिको निभनेकी संभावना होने के कारण केवल सत्यको ही ध्येय बनाने पर जोर दिया गया है।

(१४) राग और द्वेषसे कलुषित होनेवाले बहुतसे (कहाने-वाले) साधक इस क्षणभंगुर जीवनकेलिए कीर्ति, मान या प्रतिष्ठा पानेकेलिए पापकर्म करनेमें संलग्न रहते हैं, और वे पापकर्म द्वारा (भी) पाई हुई कीर्ति आदिसे बहुत प्रसन्न होते हैं।

विशेष—साधनामार्ग पर चलनेसे विषयलिप्सा उपशम हो गई हो यों समझनेवाले बहुतसे साधक मिल जाते हैं। परन्तु ऐसे साधकोंको भी कीर्ति, मान, पूजा, प्रतिष्ठाका भूत चिमट जाता है और उन्हें सत्यमार्गमें जानेसे रोके रखता है। सूत्रकार कहते हैं, कि यह भी राग द्वेषका महान कारण है, इसके फंदेमें फंसा हुआ साधक एक या दूसरे प्रकारका

संसार बढ़ाता है। सारांश यह है कि साधक जीवनका ध्येय या श्रेयार्थीका लक्ष्य किसी भी तरहके बाह्य आकर्षणकी ओर न जाकर केवल आत्माभिमुख अर्थात् सत्यकी ओर ही होना उचित है। इसमें यदि ऊपरके सूत्रके संबंधको समझा जाय तो सत्य साधनाका पहला स्थान है, और वही ध्येय है ऐसा अवश्य दिखाई देगा।

(१५) इसलिए साधक अपने साधना मार्गमें दुःख या प्रलोभन आ पड़नेपर व्याकुल न हो। और प्रिय जंबू! मैं विश्वास पूर्वक कहता हूँ, कि समदृष्टिवंत और मोक्षार्थी साधक लोकमें रहते हुए लोक और परलोक संबंधी सब प्रपंचोंसे दूर रह सकता है।

विशेष—साधनामार्गमें साधकको कई बार अनेक प्रसंगोंमें भय और लालच आया करते हैं। सूत्रकार महात्मा कहते हैं कि ऐसे समय साधक विह्वल न होकर संसारके आकर्षणोंसे दूर रहे। जिसे सत्यमार्गकी इच्छा है उन्हें ऐसे अनुभवोंका होना स्वाभाविक है, और ऐसे अनुभव विकासके निमित्तोंका एक भाग है, यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यदि प्रलोभनके निमित्तोंमें मनकी चंचलता हो तो चपलताके आधीन होकर पतन होना सुलभ हो जाता है। यह पतन इतना भयंकर है, कि इसके चक्कर से बचकर उन्नतदशा पर जाना अतिकठिन है। इसी प्रलोभनके निमित्तकी अपेक्षा संकटके निमित्त इष्ट हैं, ऐसा ज्ञानिओंका अनुभव है।

यद्यपि आनेवाले संकटोंको-किसी प्रकार की मानसिक वृत्तिके प्रतीकारके सिवाय-सहन करनेमें भी कुछ आत्मसामर्थ्यकी अपेक्षा नहीं है, यह भूलनेका बात नहीं है। एक चालाक नट डोर पर चलता है। उसके आसपास एक ओर गहरी और भयंकर खाई है, तब दूसरी ओर पत्थरोंके ऊंचे पहाड़ हैं। ऐसे समयमें ही उसकी कार्यदक्षता की परीक्षा होती है। जिसने सत्यदृष्टि साध्य की है, जिसका एक ही लक्ष्य है, जो

दूसरे अनेक दुर्निमित्तोंके सामने होतेहुए उसके सन्मुख अनिमेषदृष्टि तक नहीं करता या मन पर भय, राग या वैरका असर नहीं पड़ने देता वही साधक सावना या वैरका प्रभाव नहीं होने देता वही साधक साधना मार्गको धीरे धीरे निर्भय रीतिसे पार करता है।

सच्चा मोक्षार्थी और समदृष्टिवान साधक लोकमें रहते हुए लोका-लोक के प्रपंचसे मुक्त हो सकता है । यह कहकर सूत्रकार वताते हैं कि संसार वाहर कहीं न होकर आत्माके साथ है, परन्तु उसकेलिए एक तो सच्ची दृष्टि और दूसरे मोक्षार्थीपन ये दोनों तत्व चाहिए। वहुतसे साधकोंमें मुमुक्षुभावना तो जगी हुई होती है, परन्तु समदृष्टि विवेक-वुद्धि जाग्रत न होनेसे वे सत्यमार्गमें अपनेका पुरुपार्थका और प्रवृत्त नहीं कर सकते, अर्थात् दृष्टिमें समताका आराधन सबसे पहले करना चाहिए । जितना ममत्व, अभिमान, वाह्यप्रशंसा और कृत्रिम वस्तुपर ढलती हुई वृत्तिसे दूर रहा जाय, उतनी ही समदृष्टिकी साध पूरी कर सकता है।

उपसंहार—त्याग करनेके वाद भी प्रमाद क्षम्य नहीं है। सबको अपने समान मानकर प्रत्येक क्रियामें उत्तरदायित्व पूर्वक जाग्रत रहना अप्रमाद है। समभाव प्राप्त हुए विना जीवनमें अप्रमादका तानाबाना नहीं पूरा जा सकता । जहां वाह्यदृष्टि है वहां शुद्ध-समभाव टिक नहीं सकता । यानो समभाव ही साधनाका प्रधान लक्ष्य रहना उचित है।

देह संयमयात्रा का साधन है, साधना इन्द्रियों और मनके द्वारा सफल होती है, अर्थात् विषयोंके वेगका संयम साधनामें पूर्ण आवश्यक है और वह अस्वाभाविक भी नहीं है। आत्मानन्द चखनेके अनन्तर वाह्यदृष्टि अपने आप विरम जाती है ।

एक साधक कर्मके विचित्र परिणामोंको समझकर ही सरलतासे सहता है। वह जानता है कि जो साधक कर्मका कर्ता है उसे ही परिणाम भोगना है। आत्मार्थीका एक लक्ष्य सत्य है। विषयोंके वेगको दवाए बिना सत्यके लक्ष्यको प्राप्त करना अशक्य है। समदृष्टिवान् और मोक्षार्थी साधक सत्य-लक्ष्यी बनकर सत्यकी पूर्णताको पाता है।

इस प्रकार कहता हूं

शीतोष्णीय नामक अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।
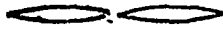
चौथा उद्देशक

त्यागका फल

शीतोष्णीय अध्ययनके तीन उद्देशकोंमें त्यागकी आवश्यकता, त्यागका स्वरूप और त्यागमें अप्रमत्तताका स्थान इसप्रकार क्रमपूर्वक वर्णन आनेपर अब सूत्रकार चौथे उद्देशकमें त्यागका परिणाम बताते हैं।

त्यागकी पहचान अमुक वेश, अमुक दर्शन, अमुक पंथ या अमुक संप्रदायसे नहीं होती; कषायोंका शमन ही त्यागीके त्यागके आदर्शका मापक दण्ड है। जहां जितने अंशमें कषायों-की उपशांतता या क्षय है वहाँ वह उतने ही प्रमाणमें त्यागी है। जिस त्यागीकी छाया कषायोंको हलका करनेके बदले बढ़ाए तो वह त्याग कोई त्याग नहीं है।

गुरुदेव बोले

(१) अन्तेवासी जंबू! जो साधक ऊपर बताए गए त्यागका उपासक है, वह क्रोध, मान, माया और लोभको अवश्य वम देगा, अर्थात् वह आदर्श त्याग उस साधकके कषायोंको घटाएगा ही। इस तरह (अनुभव हीन पुरुषका नहीं वल्कि) अपने पूर्वकालीन सकल कर्मोंका अन्त करनेवाला, कर्मके आनेके द्वार वन्द करके कर्म वन्धनसे सर्वथा मुक्त

होनेवाला, और इसीसे सर्वज्ञ पदको पानेवाले सिद्धपुरुषोंका यह साक्षात् अनुभव है ।

विशेष---जिस प्रकार जहर पीनेसे मनुष्य मरता है और अमृत पीनेसे अमर होता है, यह पदार्थोंके परिणामका अनुभव है, इसीप्रकार त्यागका फल कषायोंके घटनेरूप परिणाममें स्वभावसिद्ध है, यह अनुभूत पुरुषोंका अटल विश्वास और निश्चय है । यद्यपि अनन्तकालका जिसके साथ इस जीवात्माका अभ्यास है उन कषायोंका सर्वथा तत्काल आत्मासे अलग होना अशक्य है, तो भी जो क्रिया कम या अधिक परिमाणमें संसारके मूलकारणरूपी कषाय हानि करे वही उस क्रियाको धर्मक्रियाकेरूपमें पहचाना जा सकता है । जितने अंशमें संयम, त्याग या तपश्चर्या फले फूले उतने ही अंशमें कषाय घटते ही हैं । इसीकारणसे व्यक्ति व्यक्तिमें होनेवाले कषायोंमें तारतम्य होता है । एक व्यक्तिका क्रोध उसे मुलगा डालता है, इतना ही नहीं बल्कि समाज या देश तकके दुःखका निमित्तरूप बनकर महाअनर्थ पैदा करता है । तब दूसरा व्यक्ति निमित्तके वश होकर भूलसे क्रोध तो कर डालता है परन्तु सहज बार वह क्रोध शांत होकर कई बार स्नेहके रूपमें तत्काल बदल जाता है । और क्रोधके कारण उसे खूब पछतावा भी होता है । इसका कारण उन उन व्यक्तियोंकी आत्मकलुषता और आत्मशुद्धि है ।

जैनदर्शनकारोंने एक एक कषायके चार चार अवांतर भेद बताकर समझानेका प्रयास किया है । उनके नाम इस प्रकार हैं (१) अनंतानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानी,(३)प्रत्याख्यानी, और (४) संज्वलनी । ये भूमिकाएं अनुक्रमसे तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और नरमरूपसे होती हैं । इसभांति चारकषायोंके १६ भेद समझने चाहिए । इस तरह कषायोंका त्याग ही पदार्थत्यागका हेतु बनता है । ज्यों ज्यों क्रोधादि शत्रु घटते हैं त्यो त्यों अन्तःकरणकी शुद्धि होती जाती है । अन्तःकरण पवित्र होनेके बाद ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है । आत्मसाक्षात्कारके बाद समस्त विश्वका साक्षात्कार होना सहज है ।

(२) जो एक को जानता है वह सवको जानता है, और जो सवको जानता है वह एक को जानता है।

विशेष—जो सव पर्यायोंकी अपेक्षासे एक को जानता है वह सवको जान सकता है। सव पदार्थोंको संपूर्ण रीतिसे तव ही जान पाता है जव कि निजस्वरूपको जानता है। इसप्रकार समझना ऊपरके सूत्रका भावार्थ है। जो स्वभाव एक का है वही स्वभाव अनन्तका है। एकका वास्तविक स्वरूप जाननेके अनन्तर अनन्तका स्वरूप जानना सहज है। अनन्तता और एकतामें शब्दप्रयोगके भेदके सिवाय और कुछ भेद नहीं है। आत्माका अपना स्वरूप अनन्त है, और विश्वका स्वरूप भी अनन्त है। जिस त्यागीने अपनी अनन्तताको पालिया है वह एकताको पा चुका है। और जिसने एकताको पाया उसने अनन्तताको साध लिया है। 'पिंडे सो ब्रह्मांडे' वाक्यको अक्षरशः इस रीतिसे समझा जा सकता है। विश्व और व्यक्तिका भेद जहां तक अहमत्व, ममत्वादिका आग्रह है वहीं तक रहता है। जहां व्यक्तिका आग्रह गया कि चैतन्य और जड़का भेद झट समझमें आ गया। वहां अखिल विश्वका भेद हस्तसिद्ध हुआ जानना। कारण जो स्वरूप चैतन्य और जड़में दीख रहा है वही विश्वमें है। संख्या और वलके भेदोंकी तरतमता जानने या समझनेमें जरा भी वाधक नहीं है।

सवका यह भेद केवल अनुभवगम्य होनेसे सर्वथा संतोष न हो सकेगा। फिर भी तर्क द्वारा जो कुछ समाधान मिलता है, उसके द्वारा श्रद्धा रखना ही शेष रह जाता है। हम सामान्य रीतिसे किसी भी पदार्थके किसी एक धर्म या गुणको इन्द्रियद्वारा जानलें परन्तु वह कथन केवल औपचारिक है, वास्तविक नहीं। जैसे कि नारंगीको आंखोंसे देखनेवाला यह कह देता है कि मैंने नारंगी देखी है, परन्तु नारंगीका उसने सिर्फ रूप देखा है; रूपके उपरांत उसमें रस, गंध, स्पर्श, घनत्व, लघुत्व,गुरुत्व इत्यादि वहुतसे गुण हैं उनका उसने अनुभव नहीं किया है।

एक इन्द्रियसे या सव इन्द्रियोंसे अथवा मनसे एक साथ किसी भी पदार्थ की संपूर्ण पर्याय सव स्थितिएं और सव गुणोंको देखा या जाना नहीं जा सकता। क्योंकि पदार्थोंके सव धर्मोका एक दम निर्णय करना इन्द्रियोंका विषय नहीं है। यह ज्ञान उनकी शक्ति पर निर्भर हैं। यद्यपि पदार्थोंके सव धर्मोका मूल तो एक ही है, परन्तु वह केवल आत्मगम्य हैं बुद्धिगम्य नहीं। इसमें एक आत्मसाक्षात्कार अथवा अनन्तताका साक्षात्कार ही आत्मा द्वारा अपेक्षित है। जव आत्मा कर्म लेपसे सम्पूर्ण शुद्ध होता है अर्थात् वह केवल ज्ञानगम्य वनता है तवही अनन्तता का साक्षात्कार होता है, यह केवल संपूर्ण ज्ञानकी स्थिति हैं। उस स्थितिको यदि शब्दोंके द्वारा व्यक्त करना हो तो सर्वज्ञ शब्दसे हो सकता है। वेदज्ञान भी यही कहता है कि "यः सर्वज्ञः स सर्वविद्" अर्थात् जो सर्वज्ञ है वह ही पदार्थोंका संपूर्णतया ज्ञाता है, अथवा जो पदार्थमात्रके सव धर्मोका ज्ञाता है वही सर्वज्ञ हैं। सारांश यह है कि एक आत्मधर्मकी चावी हाथ लगी, कि सवपदार्थोंकी और सवधर्मोकी चावी हाथ लग गई। इस प्रसंगको एक साधारण दृष्टांतसे इस रीतिसे समझाया जा सकता है।

जैसे कोई आदमी किसी नगरकी ओर जाना चाहता है उसके मार्गमें अनेक उलटे टेढे रास्ते फटते हैं, परन्तु प्रत्येक स्थलपर उन उन स्थलोंके तख्तीपर नाम लिखे हैं। जानेवाला साक्षर होनेपर भी जव तक उन वोर्डो-की ओर नहीं देखता, और उसे जिस मार्गसे जाना हैं उस ध्येयका मेल नहीं साधलेता तव तक वह अनेक छोटी वड़ी पगडंडिओं द्वारा परिभ्रमण करते हुए अपने इच्छित स्थान पर नहीं पहुँच सकता; यद्यपि वह अनेक मार्गोसे जाते हुए रास्तेमें चलते चलते दूसरे अनेक दृश्योंका अनुभव अवश्य करेगा, परन्तु उसे अक्षरोंके निकाल(निर्णय)की मूल चावी न मिले वहां तक उसे ध्येय सिद्धि न होनेपर अनन्त परिश्रम उठाना पड़ेगा, परन्तु जिसे वह चावी मिल जाती है तो वह केवल अपने इच्छित पथमें

ही नहीं पहुँचेगा वल्कि चलते चलते उस मार्गमें वह दूसरे मार्गोंका अनुभव भी कर सकेगा। इसरीतिसे जिसे पदार्थोंके धर्मको पहचाननेकी चावी मिलती है वह अपने इष्टमार्गमें सुखपूर्वक जा सकेगा। इतना ही नहीं वल्कि उसे उस चावी द्वारा जगतके विविध पदार्थ और उनके विविध धर्मोंका सहज भान हो सकेगा।

आजका विज्ञान चाहे जिस स्वरूपमें परिणत हो, परन्तु उसका ध्येय पदार्थोंके धर्म(स्वभाव)की मूल कुंजी को शोधना है। वह तालिका मिल गई कि एक एक पदार्थमेंसे अनेक धर्म और अलग अलग स्थितिओंका अनुभव और उपयोग हो सकेगा। जैसे वहुतसे शास्त्रके वाचक आजतक 'शब्दस्य शक्तिरस्ति' यह कहा करते थे, परन्तु वह शक्ति कहां है? इसके मूलको विज्ञानने स्पष्ट किया, तव वैज्ञानिक प्रयत्न द्वारा उस शक्तिको जान सके और उस शक्तिका विविध उपयोग भी कर सके। रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन इत्यादि शोधक शक्तिके परिचयसे दृश्यमान हैं। इससे यह समझा जाता है कि चाहे कोई एक ही विषयका अभ्यासी क्यों न हो परन्तु यदि वह वस्तुके ऊपर रही हुई विविध अवस्थाओंको नहीं वल्कि ये अवस्थाएं जिससे उत्पन्न हैं उन तत्वोंका स्वरूप जाने तो उसे प्रत्येक पदार्थके स्वरूपको अनुभव करनेकी मूल चावी हाथ लग जायगी। परन्तु ऐसा शोधन वृत्तिओंके विरामके विना सुलभ नहीं। और वृत्तिओंका विराम तो वृत्तिओंके अभ्यासके विना जाग्रत नहीं होता, इसलिए वृत्तिओंके अभ्यासकी योजनाकेलिए ही धर्मसंस्थापक धर्मतत्वका निरूपण करते हैं।

इसलिए जो सत्यार्थी होगा वह विविध पदार्थोंकी निस्सारताके वाहरी स्वरूपको जाननेके वेकार प्रयत्नमें नहीं पड़ता, वह तो पदार्थके आन्तरिक स्वरूपको जाननेकेलिए ही प्रयत्न करेगा। और उसकेलिए कई कई जीवन समाप्त हों तव भी उसके मूलकी ही शोध करेगा। और अपनी आत्मा द्वारा सारे विश्वको जान लेगा। इस खोजमें धर्मतत्व अद्भुत सहाय करता

है। जैनदर्शन भी धर्मकी यही व्याख्या करता है कि वस्तुका स्वभाव ही वस्तुका धर्म है।

(३) प्रमादीको सबसे-सबप्रकारसे भय रहता है अप्रमादीको कहीं-या किसी ओरसे भय नहीं होता।

विशेष—परन्तु सर्वज्ञ होनेतक या पूर्णसिद्धि होनेतक साधकको साधनाके सबकालमें अप्रमत्त रहना है। शायद कोई साधक साधनाको सिद्धि मानकर गाफ़िल न हो जाय! इसीलिए सूत्रकार महात्मा फिरसे अप्रमत्तताका इस सूत्रमें स्मरण कराते हैं। अनुभव भी यही कहता है कि यदि वृत्तिकी ठगाईमें आकर साधक बेपर्वाह बन जाय, तो अतिपुरुषार्थ द्वारा प्राप्त फल भी एक क्षणमात्रमें गवां बैठेगा, और ऐसे दृष्टांत भी कम नहीं है इसलिए प्रत्येक साधक अप्रमत्तताका निरन्तर ध्यान रक्खे।

फिर सूत्रकार यहां यह भी कह देते हैं कि प्रमाद और भय दोनों सहचारी हैं। प्रमाद अर्थात् आत्मस्वरूपकी स्खलना-आत्माकी शक्तिका अविश्वास जाग पड़ना है जिसे आत्मविश्वास नहीं, वह कभी किसी भी क्षेत्रमें निर्भय नहीं हो सकता, न रह सकता। वहां वहम, जड़ता, दंभ आदि सब निभाये जाते हैं, और वहां धर्म, व्यक्तित्व, संयम या त्याग नहीं टिकता, इस बातकी साक्षी अनुभव भी देता है।

(४) जो एकको झुकाता है वह अनेकको झुका देता है; और जो अनेकको नमाता है वह एकको नमाता है।

विशेष—जो अपनेको जीत लेता है वह जगत पर विजय पाता है, और जो साधक जितने अंशमें जगतको जीत सकता है, उसने उतने ही अंशमें अपनेको जीत लिया। यह कह कर सूत्रकार दो वस्तुएं बताते हैं। एक तो आत्मविश्वास और दूसरी बात वृत्ति पर विजय। आत्मामें अनन्त शक्ति है इसलिए जो साधक आत्माको साध लेता है वह अनन्तशक्तिओं को भी साध लेता है इसका यह आशय है कि जिसके द्वारा आत्मप्राप्ति न हो उसे साधनाका मार्ग ही नहीं कहा जा

सकता। वृत्तिपर विजय पाए विना आत्मप्राप्ति लभ्य नहीं। इसलिए संयम और त्यागमार्ग राजमार्ग बताया है। इस रीतिसे वृत्तिकी विजय ही त्याग का आदर्श है और वृत्तिको जीत लिया कि लोकका विजय और साथ ही इसीसे आत्मदर्शन होता है। जहां आत्मदर्शन है वहां भय और इच्छा दोनों का ही अन्त हो जाता है। परन्तु जहां वृत्तिकी आधीनता है वहां संसारकी पराधीनता और दुःख सब कुछ है।

(५) इसोसे वीर साधक संसार संबंधी दुःखको जानकर संसारके संयोग जोड़नेवाले तत्त्वों(आसक्ति आदि)को वम देता है और उन्हें वम(उगल)कर महायान-उत्कृष्ट मार्ग यानी सत्य-याम संयमार्गकी ओर जाता हुआ क्रमपूर्वक उत्तरोत्तर आगे आगे बढ़ता है(परमपद–निर्वाण को पाता है)उसे फिर जीवित रहने की आकांक्षा नहीं रहती।

विशेष – इस सूत्रमें वीरसाधककी वीरताका उपयोग समझाया है। पाशविक वल या विलासमें काम आनेवाली वीरता वीरता नहीं; बल्कि संसारभावके मूलको उखाड़ फेंकनेवाले पुरुषार्थमें ही सच्ची वीरता है। ऐसी वीरता संयम और त्यागमें उपयोगी है। और वह त्यागी वीरताके परिणाममें जीवन-इच्छा या जिसका संसारके जीवमात्र पर असर होता है उन तकको जीत लेता है। जहां तक जीवनमें कोई भी ध्येय वाकी है वहां तक जीवनकी झंखनाका अन्त नहीं होता। सिद्ध करना और वीरताकी पराकाष्ठा को पहुँचाना, ये दोनों एक साथ ही सधते रहते हैं।

(६) जो एक पर विजय पाता है वह सबको खपाता है, और जो सबको खपाता है वह एक पर विजय पाता है।

विशेष—आसक्ति पर विजय कैसे मिले? इस प्रश्नका इस सूत्रमें उत्तर है। जो एक मोहनीय कर्म पर विजय पा लेता है, वह सब पर विजय पा सकता है; कारण मात्र एक मोहनीय कर्म ही संसारका मूलकारण

और आत्मप्रकाशमें वाधा डालनेवाला प्रगाढ आवरण है। मोहनीयकर्म के वश होकर आत्मा जो कर्म करता है उस पर विजय पानेके वाद दूसरे कर्मोंके ऊपर कावू पानेमें कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

(७–८) यदि वुद्धिमान साधकको आज्ञामें श्रद्धा तो है, वह लोकका यथार्थ स्वरूप जानता है। जो संसारका यथार्थ स्वरूप जानता है उसे अन्यका, और दूसरे आदमीको उसका भय नहीं रहता।

विशेष—यहां आज्ञामें श्रद्धा होना वताकर सूत्रकार महात्मा यह वताना चाहते हैं। कि जव तक सत्पुरुषोंकी आज्ञामें श्रद्धा नहीं होती तव तक साधनामें निश्चयता नहीं आती। यदि आज्ञामें श्रद्धा न हो तो आज्ञा का यथार्थ पालन हो ही नहीं सकता। अर्पणताके विना आज्ञाका पालन नहीं होसकता। समर्पण श्रद्धाके वाद ही होता है। इनका परस्पर गहरा संवंध है, इसीलिए अनुभवी पुरुष कहते हैं कि "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं" आत्मज्ञान श्रद्धासे ही पैदा होता है। सवसे पहले श्रद्धाकी आवश्यकता है। श्रद्धाके वाद ही सच्चा ज्ञान जागता है। और ऐसे ज्ञानके वाद ही शांति साध्य वनती है।

यद्यपि श्रद्धा हृदयकी वस्तु है फिर भी वह सच्ची रीतिसे तव ही जागती है जव सद्वुद्धि पूरी तरह विकसित हो। निरभिमानता आई और आज्ञामें अर्पणता होने जितनी वुद्धिकी रचना पूर्ण हो गई। सत्पुरुष, सत्शास्त्र और सुवुद्धि द्वारा किया हुआ निश्चय इस त्रिपुटीके मेलसे सच्ची श्रद्धा सजग होती है, श्रद्धा केवल तर्क वुद्धिसे या मात्र मनकी वृत्तिके ऊंचे आवेगसे नहीं आ सकती। इसकेलिए तो हृदय और सद्वुद्धि दोनोंकी तैयारी होनी चाहिए। या फिर जिज्ञासा, वैराग्य और विवेकका संमिश्रण चाहिए। क्योंकि सच्ची श्रद्धा द्वारा ही आत्मज्ञानका विकास होता है। और यह आने पर ही फिर भय विरम जाता है। जो स्वयं निर्भय होता है उससे जगत् भी निर्भय

ही रहता है। यह स्थिति साहजिक एवं संपूर्ण अहिंसाकी है। जो कुछ भीतर है उसका ही प्रतिबिंब बाहर दीखता है अन्दरकी वृत्ति ही बाहरकी क्रियाका मूलकारण है। स्थितप्रज्ञ और भक्तसाधक स्वयं लोकसे नहीं डरता और लोक उससे नहीं डरता। कारण वह स्वयं निर्भय है और जो स्वयं निर्भय होता है वही औरोंको निर्भय बना सकता है।

(६) शस्त्र एक दूसरेसे चढ़ते, उतरते, तीक्ष्ण, सामान्य, तेज या नरम हो सकते हैं, परन्तु अशस्त्रमें चढ़ाव उतराव नहीं होता।

विशेष—यहां शस्त्रसे आत्माको बाधा पहुँचानेवाले विरोधी तत्वोंसे मतलब है आसक्ति और उससे पैदा होनेवाले रागादि शत्रुओंसे आशय हैं। एक वासना मिटती है,तो दूसरी वासना पैदा हो जाती है। यदि एक वासना सामान्य होती है तब दूसरी विशेष होती है! कोई वासना मंद होती है तो कोई तीव्र। इसी से वासनाओंमें अनेकरूपन और विविधपन है परंतु अशस्त्र यानी आत्माकी सहजदशामें ऐसी कुछ भिन्नता नहीं होती। इस वस्तुको नीचे लिखे दृष्टांतसे ठीक रूपसे समझा जा सकता है।

एक मनुष्य क्रोधसे, दूसरा मानसे, तीसरा घृणासे, चौथा विषयासक्ति से और पांचवां लोभसे इस प्रकार विविधरीतिसे आत्माका हनन कर सकता है। क्रोध, अभिमान, घृणा, विषयासक्ति और लोभमें ही तरतमता बताने वाले अनेक कारण और क्रियाएं होती देखी जाती हैं परन्तु आत्माकी सहजदशा यानी समभाव या शुद्धप्रेममें इस प्रकारके भेद नहीं हैं। वे तो सब स्थितिमें और सब स्थानोंमें एकाकार और एक ही स्वरूपमें रहते हैं। प्रचंडक्रोधी भी किसी पर क्रोधी तो किसी पर स्नेही होता है। इस प्रकार विविध रूप बनेंगे और बनते हैं। परन्तु समभावी या शुद्धप्रेमी साधकको तो सर्वत्र वही तत्व दिखाई पड़ेगा। वह शत्रु पर भी प्रेम और समभाव ही रक्खेगा एवं मित्र पर भी वही अमृत बरसायगा। सारांश यह है कि पतन के मार्गोंमें विविधता है। लेकिन सहज विकासके मार्गमें इस तरहकी

विचित्रता नहीं है। ज्ञानी हो या मूर्ख, भक्त हो या कर्मकांडी कोई भी क्यों न हो, आत्मविकासके मार्गमें जो प्रवेश करते हैं वे सब समान हैं, वहां भिन्नता नहीं है।

(१०) जो क्रोधको छोड़ता है, वह मानको छोड़ता है,जो मानको छोड़ता है वह मायाको छोड़ता है; जो मायाको त्याग देता है, वह लोभको छोड़ता है। जो लोभको छोड़ता है, वह रागको छोड़ता है, जो रागको छोड़ता है वह द्वेषका त्याग करता है। जो द्वेषको त्यागता है वह मोहको त्यागता है,और जो मोहको छोड़ता है वह गर्भसे छुट्टी पा जाता है। जो गर्भसे मुक्त होता है वह जन्मसे मुक्त होता है। जो जन्म से मुक्त होता है वह मरणसे मुक्त होता है। जो मरणसे मुक्त होता है वह नरकसे मुक्त होता है। जो नरकसे मुक्त होता है वह तिर्यंच गतिसे मुक्त होता है और जो तिर्यंच गतिसे मुक्त होता है वह दुःखसे मुक्त होता है।

विशेष - त्यागके फलका उपसंहार करते करते सूत्रकारने कपाय और उससे होनेवाली स्थितिसे लेकर भवभ्रमण तक सबका सब क्रम वर्णन किया है।

इस सूत्रमें समस्त प्राणी समाजकी चिकित्सा की गई है। जड़ और चेतन जीवात्माके संबंधका इसमें खूब वर्णन है। साथ ही संसारके मूलभूत कारणोंकी रहस्यपूर्ण समीक्षा है।

यहां क्रोधका स्थान पहले रखनेमें भी रहस्य है। क्रोधका क्रियारूपमें जो अनुभव होता है वह स्वयं क्रोध नहीं है बल्कि क्रोधका परिणाम है। गुस्सा या आवेशका आना ही क्रोध है। यह आवेश पदार्थके प्रति रहने वाली आसक्तिके परिणामसे उत्पन्न होता है। गीतोपनिषद्में भी कामसे क्रोध, क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश, बुद्धि-

नाशसे आत्मघात, आत्मघातसे अयुक्तता, अयुक्ततासे विध्वंस, भावनाके विध्वंससे संपूर्ण अशांति और अशांतिसे दुःख यही क्रम दिया है। परन्तु कोई भी साधक इस क्रमको पैंडीरूप(Step)समझकर प्रथम पहली कक्षा फिर दूसरी फिर तीसरी कक्षामें पहुँच जाता है इस तरह न समझ बैठे! कारण इस क्रमको समझनेवाला बहुतवार भूलमें पड़ जाता है। यद्यपि बहुतसे मनुष्योंको अपलक दृष्टिसे देखें या उसकी क्रियाकी परीक्षा करें तो वे क्रोधी तो नहीं दीखते पर मानी देखे जाते हैं। कोई अभिमानी देखे गए हैं तो क्रोधी नहीं होते। परन्तु यह प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली स्थिति वास्तविक स्थिति नहीं है। उनमें जो कुछ नहीं दिखाई देता वह मात्र निमित्त कारणोंकी अनुपस्थिति(Absence)के कारण हैं। मूल-कारणके नाशकेलिए नहीं। जो एक क्षेत्रका दुर्गुण है वह निमित्त मिलने पर दूसरे क्षेत्रका दुर्गुण बनजाता है। यह स्वाभाविक है।

जिसमें एक सद्गुण स्वाभाविकतासे अधिक जाग्रत होता है, उसको सब क्षेत्रोंमें उन सद्गुणोंका प्रकाश पड़ना चाहिए। फिर निमित्तोंकी अपेक्षासे कम या ज्यादह प्रमाणमें दिखाई देना अलग बात है। यदि ऐसा न हो तो वास्तविक विकास न गिना जाय। धर्मको भी ऐसी विज्ञान बुद्धिसे परीक्षा करके देखना चाहिए। जो साधक धर्मस्थानमें झूठ नहीं बोलता, परन्तु जीवनव्यवहारमें यानी कपड़ा मापते समय या माल लेते देते हुए झूठ बोलता हो, तो अच्छे प्रकार समझलो कि उस साधकने धर्म की आराधना नहीं की है ऐसा माना जायगा। एक क्रिया होती है तब दूसरी उसके साथ और परम्पराके हिसाबसे साथ ही होती है। घड़ीका एक मुख्य चक्र फिरने लगता है तो सब चक्र और उसकी सूइयां उसके साथ ही फिरेंगी। इसी भांति एक क्रिया ठीक हो जाय तो सारे जीवनमें शुद्धिका संचार हुए विना नहीं रहता।

(११) इसीलिए बुद्धिमान साधक(आवेशका मूल जलाकर इस रीतिसे) क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा मोहसे

अलग होकर गर्भ, जन्म, मरण, नरकगति और तिर्यंचगतिके दुःखोंसे निवृत्त होता है। इन शस्त्रोंसे विरमा हुआ और अशस्त्र (त्याग)द्वारा आगे बढ़कर संसारको पार करता है। सर्वज्ञ पुरुषोंका यह अनुभवपूर्ण वाक्य है।

विशेष—सर्वज्ञोंके वचनको कहकर यहां सूत्रकार सत्पुरुषोंकी आज्ञा की आधीनता स्वीकार करनेकी प्रेरणा देते हैं। साथ ही यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सत्पुरुषोंकी आज्ञा स्वयं श्रद्धास्पद बन सकती है। कारण वह आज्ञा निर्व्याज और निस्स्वार्थ होती है। इसमें केवल लोककल्याणका ही उच्चतम उद्देश्य है।

(१२) इस प्रकार पहले कार्योंके मूलकारणोंको छेदकर (आगेके आनेवाले कर्मोंके द्वारोंको रोककर) फिर पूर्वकृत कर्मों का अन्त किया जा सकता है।

विशेष—सब प्राणी सुख और आत्मस्वरूपकी झंखना करते हैं और उसे पानेकेलिए भिन्न-भिन्न दिशामें कोई बाह्य भौतिकक्षेत्रमें, कोई मानसक्षेत्रमें और कोई आध्यात्मिक क्षेत्रमें अलग अलग प्रयत्न भी करते हैं फिर भी यह जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह क्यों नहीं मिलती ? इसका इस सूत्रमें बहुत ही बारीकीसे खुलासा किया है। इस सूत्रमें पहले कर्मोंके मूलकारणों को छेदना बताकर सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि जहां तक बाधक-कारणोंका नाश न हो वहां तक इष्टसिद्धि नहीं होती फिर चाहे कितनी और चाहे जैसी सुन्दर ये क्रियाएं दीखती हों। तब भी उसमेंसे सन्तोष नहीं मिलता। जैसे कि कोई ध्रुवकांटेको हाथमें लेकर चाहे जितनी कठोर प्रतिज्ञाएं ले तो भी वह तो उत्तर दिशाभिमुखी ही रहेगा। चाहे अंगुली सें उसे पूर्वदिशाभिमुखी रखनेका प्रयत्न ही क्यों न करें, तब भी उस स्थान पर अंगुली रहेगी वहां तक ही वह पूर्वदिशाकी ओर रहेगा। और अंगुली उठाई कि वह घूमकर झट-पट उत्तरदिशाकी ओर मुड़ जायगा। इसीप्रकार चाहे कोई साधक सैंकड़ों वर्ष तक यत्न करे तब भी जहां तक

उस मूलकारणको जानकर वह वाधक कारण दूर न किया जाय तव तक उस स्थितिमें कुछ फेर नहीं पड़ता। परन्तु जव वह पहले उसके वाधक कारणको शोध लेता है या जव उसे ध्यान आ जाय कि ध्रुवकांटे पर रहे हुए लोहचुम्बक नामक धातु उसे उत्तर दिशामें आकर्षित कर रहा है ऐसे उसके ऊंचे ऊंचे डूंगर(पहाड़)हैं इसीसे वह उस दिशाकी ओर झुकता है। यही जानकर उस धातुको ऊपरसे हटादे तव वह मनुष्य उस कांटेको इच्छित मार्गमें फिरा सकता है। इस रीतिसे जो साधक अपनी होनेवाली भूलका मूल शोधकर उसे जहां तक दूर न करदे तव तक वह इच्छित पथमें आगे वढ़कर ध्येयकी प्राप्ति नहीं कर सकता।

(१३) पश्यक यानी दृष्टाको उपाधि क्या हैं, उत्तर, नहीं है और फिर नहीं है। तव उसका प्रयोग भी नहीं है।

विशेष—अव सूत्रोंका उपसंहार करते हुए यहां पश्यक यानी दृष्टाका साक्षात् स्वरूप वताते हैं। पश्यक-दृष्टा, दृष्टासे अभिप्राय देखनेवाला नहीं हैं। वल्कि स्वरूप देखनेवाला। इसे रंग मंच पर वेशकी भावभंगी करने वाले नटके साथ इसकी तुलना करें तो यह कहा जा सकता हैं कि नट चाहे तो राजाकी भूमिकाका नाटककर दिखावे या भिखारीकी भूमिकाका। परन्तु दोनों स्थितिओंमें उसे अपने स्वरूपका यह वोध है कि वह स्वयं नट है। राजा या भिखारीके वेशका उसके ऊपर प्रभाव नहीं होता। जो अपने स्वरूपका भाव होनेपर दृष्टा वन गया है, ऐसे साधनासिद्ध पुरुषको अच्छे या वुरे प्रसंग या दृश्योंके साथ संवंध होते हुए उसे अच्छा या वुरा असर चिमट नहीं सकता। इतना ही नहीं, वल्कि उस स्थितिकी प्रशंसा का वर्णन किया जा सके ऐसी भी स्थिति न होगी। यह कह कर वह स्थिति केवल अनुभवगम्य है ऐसा वताया है। त्यागके परिणामसे होने वाले कषायोंका शमन इसरीतिसे दृष्टा होनेका भान कराता है।

उपसंहार:—कषाय ही भवभ्रमणका मूल है अर्थात् जितने अंशमें कषायोंका शमन होगा। उतनी ही अनासक्ति या त्याग

की सफलता होगी। कषायोंके शमनसे आत्मशुद्धि होती है, आत्मशुद्धिकी पराकाष्ठाका प्रमाण सर्वज्ञताकी प्राप्ति है। क्यों कि जो एक को संपूर्णरूपसे जानता है, वह समस्तको पूरी तरह जान सकता है यह नैसर्गिक नियम है। महान् आत्मा ही इस सत्य मार्गके पारको पा सकता है। साथ ही सर्वज्ञ बन सकता है। जीवितकी आकांक्षाका त्याग, पूर्ण निर्भयता और सत्यकी अखंड आराधना वीरताका लक्षण है। जिस साधककी एक मार्गमें शक्ति होगी वह दूसरे मार्गमें भी प्रवृत्त हो सकेगा।

ज्ञानके मूलमें श्रद्धाके अपूर्व बलकी प्राप्ति होती है। सत्पुरुषोंके दिखाए हुए सत्यमार्गमें प्रवर्तन करनेकी तत्परता श्रद्धाका चिन्ह माना गया है। श्रद्धावानकेलिए आत्मोन्नतिका मार्ग अधिक सरल है।

इस प्रकार कहता हूं

शीतोष्णीय नामक तीसरा अध्ययन समाप्त।
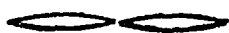
सम्यक्त्व

(४)

सम्यक्त्व अर्थात् सत्यता, तीसरे अध्ययनमें त्याग और त्यागके फलस्वरूप सत्प्राप्तिसे संबंधित Fact वृत्तांत कहा गया। जब तक सत्यमें जिज्ञासा न हो तब तक त्यागमें प्रवेश करना संभव नहीं। इसलिए त्यागकेलिए जिसतत्वकी आवश्यकता है या यों कहो कि जो तत्व त्यागका आधार है, वह सत्य है। परन्तु इस अध्ययनमें सूत्रकार महात्मा सत्यको उस रूपसे अपना लक्ष्य बनाकर उसके साधनोंका वर्णन करते हैं।

पहला उद्देशक

अहिंसा
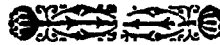
पहले अध्ययनमें वर्णित सूक्ष्म अहिंसामें विवेक दृष्टि मुख्य रक्खी गई थी। यहाँ कथित अहिंसामें जीवनके सर्वक्षेत्रमें व्यापक अहिंसाकी मौलिक दृष्टिसे है। पहले अहिंसाका विवेक आता है और फिर अहिंसाकी आचरणीयता आती है। पर अहिंसा को पहला स्थान किसलिए दिया गया है, इस उद्देशकमें सत्यके मुख्यसाधनरूप अहिंसाके साथ मिलती जुलती बातें हैं। तब यह दूसरे व्रतमें क्यों नहीं दिया? पहली दृष्टिसे यह प्रश्न उठना ठीक जँचता है। पर अहिंसाका स्वरूप इतना अधिक सर्वतोमुखी और सर्वव्यापी है, कि इसीके आधारपर जीवनके विकासके साथ मिलते जुलते सब प्रश्नोंसे निकलनेका मार्ग Way out आजाता है अर्थात् अहिंसामें और सब व्रतोंका गौणरूपसे समावेश हो जाता है। यही कारण है कि उसको पहला स्थान दिया है। इसी कारण सूत्रकार यह भी कहते हैं, कि जिस धर्ममें विश्वके सूक्ष्म या स्थूल, चर या अचर सब प्राणियोंके प्रति समभावसे वर्तावमें आनेवाली अहिंसाकी उदार व्याख्या हो, वही धर्म सच्चा और सनातन होनेका दावा कर सकता है।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू ! मेरी बात सुन ! मैं कहता हूं कि जितने तीर्थंकर हो गए हैं, जो वर्तमानमें हैं और भविष्यमें होंगे, वे इसी रीतिसे बताते और वर्णन करते हैं, कि दो इंद्रियादि सब प्राणी, वनस्पति आदि सब भूत, पंचेंद्रियादि सब जीव तथा पृथ्वी आदि सब सत्वोंका हनन न करे, उनके ऊपर अनियमितरूप से शासन न करे। उन्हें ममत्वभावसे अपने अधिकारमें न लें, संताप न दे और न मारे।

विशेष—अहिंसा चाहे जैसी हो, तब भी वह सावन है, और वह सावन सबकाल, सबक्षेत्र, सबद्रव्य, और सबभावमें एक ही रूप होता है ऐसा एकान्त नहीं। इसलिए पहले तो अहिंसाका रहस्य विवेक पूर्वक सुलझाना चाहिए। और फिर आचरणमें लाना चाहिए। जो रहस्य समझमें न आवे तो अहिंसाके सिद्धान्तका विकृत परिणाम दो रीतिसे आएगा, जो कि आजकल बहुतसे स्थलोंपर दिखाई देता है। एक तो धर्मकी आडमें होनेवाली हिंसाके रूपमें, दूसरे धर्मके बहाने बेसमझीसे होने वाली अहिंसाका अजीर्णरूप यानी एक ओर देवी-देवोंके नाम पर पशुओंकी बलि दी जाती है और दूसरी ओर सूक्ष्मजंतुओंकी दया करनेवाले आदमी मानवजातिके प्रति भी सहानुभूतिसे बहुत दूर देखे जाते हैं। इन दोनोंको सूक्ष्मरीतिसे देखा जाय तो किसीकी वृत्ति और किसीकी क्रियामें हिंसा देखी जा रही है तो किसी वृत्तिकी अपेक्षा क्रियामें अधिक हिंसा सिद्ध होती है और किसीकी क्रियामें कदाचित प्रत्यक्ष न दीख पड़ता हो तो भी वृत्तिमें हिंसा पाई जाती है। परन्तु जहां हिंसाका सच्चा स्वरूप समझा गया हो वहां ऐसी स्थिति नहीं होती। सूत्रकार यही कहते हैं।

सामान्यरीतिसे हिंसा अर्थात् किसी जीवको मार डालना, इतनी ही

व्याख्या मानी जाती है। परन्तु यह व्याख्या सूत्रकारके मतसे अपूर्ण है। और इससे कोई भी जीव चाहे छोटा हो या बड़ा, उसके ऊपर अनुचित स्वामित्व रखना, ममत्व रखना, दमन करना, अधिकारमें रखना या उसका मन दुखाना भी हिंसा है। हिंसाको इस प्रकार समझनेके बाद अहिंसाकी व्याख्या कितनी उदार हो जाती है उसे आसानीसे समझा जा सकता है। अहिंसाका उपासक मनसे भी किसीके भावोंको दुखाना न चाहेगा, अपने आश्रयमें रहे हुए जीवों पर अत्याचार न करेगा। आधीन रहनेवाले नौकर चाकर या पशु भी अपने समान सुख चाहते हैं। उनमें भी चेतना शक्ति है, प्राणतत्व है, देहादि साधन हैं, व्यक्त या अव्यक्त मनःशक्ति है जीनेकी इच्छा और सत्यकी जिज्ञासा भी है। यही समझ कर अपनेको उनका मालिक न समझकर पालक, पोषक या पिताके रूपमें समझे, और उन पर बालकके समान व्यवहार करे। यही सच्ची अहिंसा है। परन्तु जहां परिग्रहकी भावना, आसक्ति या ममता है, वहां शुद्ध अहिंसा असंभव है। जो सच्चा अहिंसक होता है, उसके प्रत्येक काममें विवेकबुद्धि जाग्रत रहती है। वह कायर एवं विलासी नहीं होता। किसी भी कार्यमें वह अपना स्वार्थ दूसरेका भोग देकर न साधेगा। इस प्रकारकी भावना रहित अहिंसा अहिंसा नहीं हो सकती।

(२) यही धर्म पवित्र, सनातन और शाश्वत (नित्यवर्ती) है। इससे ही संसारके दुःखोंको जाननेवाले (हितकारी) तीर्थंकर भगवानने, सुननेको तैयार रहनेवाले, या न रहनेवाले गृहस्थों, रागियों, त्यागियों, भोगियों और योगियोंको सबको समान बताया है।

विशेष—व्यापक अहिंसाके पालनमें समस्त प्राणाजातकी रक्षा और निर्भयता समाविष्ट होनेसे उसमें विश्वशांतिका मूल है। पहले सूत्रसे यही परिणाम निकलता है। इस सूत्रमें कहा है कि इस प्रकारके विश्वप्रेमके

संस्कारोंको स्थापित करनेवाला धर्म ही सच्चा और सनातन धर्म गिना जाता है।

धर्मकी सत्यता प्राचीनता काल(समय)से नियतकरना भूल है। काल या संयोगोंके ऊपर धर्मका निर्माण नहीं होता। धर्मके निर्माणका आधार प्रत्येक जीवके अलग अलग जीवन विकास पर निर्भर है। जीवनके क्षेत्र और भूमिकामें ज्यों ज्यों विविधता दीखती है त्यों त्यों उसपात्रके विषयमें धर्ममें वैसा ही वैविध्य होता है और ऐसा होना उचित भी है।

इसीसे कहा है, कि धर्मतत्व कुछ अमुक साधक अमुक संप्रदाय या अमुक समाजकेलिए ही नहीं है। सूर्यकी किरणोंके समान प्राणीमात्रमें उसका दीपक सदाकाल जलता रहता है। मानवजातमें बुद्धि और पुरुषार्थ का स्वाधीन विकास होनेसे उसमें यह तत्व अधिक विकसित होना संभव है और इससे उनको उद्बोध देते हुए कहा है, कि गृहस्थ या त्यागी इस मतको माननेवाला या दूसरे मतको माननेवाला और भोगी या योगी सबकेलिए धर्मपालन करना समान और अनिवार्य है।

यद्यपि धर्म भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भूमिका तथा मानवप्रकृतिके लिए अपेक्षित होनेसे उसमें विकासभेदसे तरतमता हो सकती है, परन्तु जगत में कोई भी जीवितव्यक्ति धर्मतत्वसे न तो अलग हो सकता है और न अलग रह सकता है।

इसरीतिसे जीवमें जितने अंशमें धर्मका स्थान, धर्मकी व्यापकता और धर्मकी विविधता होगी, उतने ही अंशमें अहिंसाका भी स्थान, व्यापकता और विविधता होना स्वाभाविक है। इससे किसी भी क्षेत्र या भूमिकामें वसनेवाले विकासके इच्छुक मनुष्यको उसका पालन करना संभव और सुशक्य है।

(३) यह धर्म सत्य—निस्संदेह है और मात्र जिनप्रवचनमें ही वर्णित है।

विशेष—मात्र जिनप्रवचन कहनेका प्रयोजन यह है, कि जैनधर्म

अमुककुल, जाति या समाज नहीं है। जैन शब्द गुणवाचक है। जैनके गुणको जो आदमी धारण करे वही जैन है फिर चाहे वह किसी जाति कुल या समाजका ही क्यों न हो। इसीलिए समस्त जगतकी अपेक्षासे सूत्रकारने धर्मतत्वकी तथा अहिंसाकी व्यापकताका वर्णन किया है। और उस कालमें जैनतत्वका अनुसरण करनेवाले वर्गके सिवाय इतर प्रवर्तित धर्म, मत या पंथोंमें अहिंसाकी इतनी उदार व्याख्या न होगी और न अंधविश्वास रूढ़ि तथा अज्ञानताको लेकर देवी-देवताओंके निमित्तसे होने वाली हिंसा 'अधर्म नहीं है वल्कि धर्म है' ऐसे विकृतधर्मका प्रचार हो रहा होगा, यह आशय उपरोक्तसूत्रके कालसे फलित होता है।

(४) अतः प्रज्ञसाधक निर्दोष धर्मका यथार्थस्वरूप जानकर श्रद्धा करनेके वाद [उसके पालनमें] आलसी न वने, और उसे समझकर ग्रहण करनेके वाद उस धर्मका प्राण जाने तक त्याग न करे।

विशेष—सदोषता और धर्मकी आपसमें कोई रिश्तेदारी या संवंध नहीं है। जिसक्रियामें जिससमय दोष हो उसक्रियामें उससमय धर्म नहीं हो सकता। सूक्ष्मंहिंसा भी धर्मके नामपर क्षम्य नहीं है। संस्कारिताका धर्म समझकर ऐसे सद्धर्मपर श्रद्धा रखना कहा है। उस धर्ममें कुछ देश क्षेत्र, संप्रदाय या मत वाधित न होनेसे श्रद्धा होना अशक्य नहीं।

ऐसा धर्म सुरक्षित रखनेपर उच्चकोटिका जीवन व्यवहार किया जा सकता है अर्थात् उसधर्मका पालन अशक्य नहीं है। मात्र सच्ची जिज्ञासा और सच्ची विचारणा होनी चाहिए। कभी कोई यहां तक भी कह वैठता है, कि ऐसे धर्मके पालन करनेमें "मैं धर्मको समझता नहीं, मैंने अमुक प्रकारके आध्यात्मिक ग्रन्थोंका अभ्यास नहीं किया, या मुझमें धर्मपालन करने या क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है" ऐसा वचाव करनेका अवकाश नहीं रहता। वचाव की ऐसी युक्तिमें सच्चा कारण नहीं होता। आलस और प्रमाद ही इस तरहका वचाव कराता है। अर्थात् विकल्पोंके चक्कर

में न फंसकर सबको किसी भी क्षेत्र या भूमिकामें रहकर क्रमपूर्वक सद्धर्म का पालन करना चाहिए। धर्मपालनमें प्राण जानेकी पर्वाह भी न होनी चाहिए।

(५) साधक आंखों दिखते रंग रागमें (न दबकर) वैराग्य धारण करे।

विशेष—इस सूत्रमें अहिंसाके उपासकोंको पदार्थोंके प्रति मोह घटाना बताया है। जहां मोह है, वहां प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हिंसा होना संभव है। अहिंसाके सूत्रका उच्चारण करनेसे, या अहिंसक गिने जानेवाले धर्ममें सम्मिलित होकर थोड़ीसी बाह्य रूढ़िगत प्रचलित अहिंसक क्रिया करनेसे ही कोई अहिंसक नहीं बन जाता, बल्कि अहिंसाके पालनेकेलिए अपनी रूढ़ मान्यताओं और आदतोंका भोग देना पड़ता है। ऊपरकी टीपटापका मोह घटानेका प्रयत्न करना पड़ता है, तब ही जीवनमें आदर्श अहिंसाका ताना बाना तना जाता है। यह मोह जीवनके साथ जकड़ा हुआ प्रगाढ़अंधेरा है। यह सुविचारके दीपक विना नहीं जा सकता। यानी मोह घटानेके लिए साधक विचार करे कि यह बाहरसे दिखनेवाला विश्व विचित्र रंग भूमि है। कहीं हास्य, रुदन, सौंदर्य, भयंकरता, प्रेम, निर्दयता, स्वाभाविकता, कृत्रिमता आदिके अनेक दृश्य इसमें क्रमश: (एकके बाद एक) बदलते नजर आते हैं तथा एक ही स्थानपर क्षण क्षणमें नए नए रूप देखे जाते हैं। इन दृश्योंको देखकर साधक उनमें तन्मय न होकर उनके कारणोंकी खोज करे। और प्रत्येक पदार्थको समदृष्टिसे देखकर उसके मूलकारण और स्वभावका पृथक्करण करके उसमें सद्बोधका पाठ लेकर सद्वृत्तिका विकास करे।

(६) अंधअनुकरण भी न करे।

विशेष—जिसकारणसे बाहरी चमकदमक और मोहका होना शक्य है, वही मुख्यकारण यहां समझाया है। अंधअनुकरणमें सच्ची समझका अभाव होता है। जो लोग अंधानुकरण करते हैं, उनकी

स्वतन्त्रबुद्धि क्षीण होती रहती है अर्थात् वह अपने सुखके सच्चे मार्गका विचार करनेसे वंचित रहते हैं, और मोहको दूर करनेसे होनेवाले सुखकी कल्पना भी वह नहीं कर सकते और मोह तो किसी और की प्रेरणासे नहीं वल्कि अपने पैदा किये विचार और विवेकसे ही घटता है।

(७) जिसमोक्षार्थी साधकमें लोकैपणा-बहिर्मुखदृष्टि (वाह-वाही प्राप्तकरनेको इच्छा) नहीं होती; उस साधकमें (एक सत्प्रवृत्तिके सिवाय) दूसरी कोई प्रवृत्ति नहीं होती (अथवा दूसरा अर्थ यहां यह भी घटसकता है कि जिसमें पहले कही हुई हिंसकवृत्ति नहीं है, उसमें सत्प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती)।

विशेष—लोकैपणा ही संसारका मूल है। मैं वाहर अच्छा दिखावा करूं, इसप्रकारकी आसक्तिसे ही पापवन्धनकी क्रिया होती है। यह लोकैपणा ज्यों ज्यों घटती जायगी त्यों त्यों साधककी प्रत्येकक्रिया तथा प्रवृत्तिमें शुद्धिका तत्व वढ़ता जायगा। ऐसा लोकैपणारहित शुद्धमनुष्य न किसीका अनिष्टचिंतन करता है न चाहता, वह तो अपना जीवन हल्का वनाकर मात्र परकल्याणके शुभ आशयसे ही प्रवृत्तिका सेवन करता है, अर्थात् इसकी प्रवृत्ति कर्मवंधनका कारणभूत नहीं होती।

(८) आत्मार्थी जंवू ! मैंनें भगवान् द्वारा कही गई जो मूल वातें हैं, वे देखी सुनी और अनुभूत भी की हैं।

विशेष—तत्वदर्शी पुरुष जिनभावोंको अपने परोक्ष अनुभूत स्वानुभवसे जानते हैं उन्हें ही कहते हैं, और वे अनुभवके उद्गार ही स्व और पर या दोनोंको लाभदायक होते हैं। इससूत्रमें यह समझाया गया है, कि उपदेश कौन दे सकता है, किसका उपदेश उपयोगी, सफल और सामने वालेके हृदयपर विश्वास पैदा करनेवाला सिद्ध होता है वही।

(९) जो संसारमें आसक्त हो कर फंसे रहते हैं, वे जीव संसारमें वारंवार परिभ्रमण करते हैं।

विशेष—अनासक्ति और विकास ये दोनों एक साथ नहीं टिक सकते। यदि धर्म विकासका साधन हो तो उसमें बहिर्मुखदृष्टिका होना ठीक नहीं।

(१०) अतः तत्वदर्शी धीरसाधक इन प्रमादी जनोंको धर्मसे विमुख जानकर दिनरात उद्यमी होकर साधनामार्गमें सावधान बनकर रहता है।

विशेष—अप्रमाद ही अमृत है, यही धर्म है। प्रमाद अध्यात्ममृत्यु है। इस रोगका चेप इतना बुरा है कि उसके रोगीमात्रको ही नहीं बल्कि उस रोगीके संसर्गमें आनेवाले प्रत्येकको गर्दनसे पकड़लेता है और पतनके गढ़ेमें धकेल देता है। और इसलिए धर्ममार्गको यथार्थ समझकर श्रद्धा-दृढ़निश्चय पूर्वक अपने मार्गमें अप्रमत्त रहे, यही सम्यक्त्वका परिणमन है।

उपसंहार—अहिंसाका जीवनके प्रत्येक क्षेत्रसे संबंध है। सत्य और सनातन धर्मका पालन, अहिंसाके जीवन व्यापी आचरणमें है। वह अहिंसा कि जिसका संबंध प्रत्येक कर्म, मन और वाणीके साथ है। यदि वह जीवन में ओतप्रोत हो जाय, तो उसके द्वारा केवल व्यक्तिका ही नहीं बल्कि समाज, राष्ट्र और विश्वका भी विकास होता है, और यह सबकेलिए अनिवार्य होकर श्रद्धास्पद बने।

कृत्रिमविलासमें हिंसाकी संभाव्यता है। हिंसा और धर्म एकसाथ नहीं जुड़ सकते। बहिर्मुखदृष्टि आत्मविकासका आवरण और कर्मबंधनका मूल है। इसीसे आसक्तिको वेग मिलता है।

अहिंसाको जीवनमें वुननेकी शक्यताकेलिए आसक्ति और पूर्वाध्यासोंसे पर रहना आवश्यक है। इसमें जागृती जीवन-विकासमें उपयोगी साधन वनकर रहती है और जागृतोसे प्रवृत्ति और वृत्तिमें शुभसंस्कार स्थापितकरनेका अवसर मिलता है।

इसप्रकार कहता हूँ

सम्यक्त्व अध्ययनका पहला उद्देशक समाप्त।
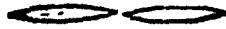
दूसरा उद्देशक

अहिंसा और धर्म

सूत्रकार अहिंसाका स्वरूप वताकर यहां धर्म और व्यवहार का मेल साधकर कहते हैं, कि जहां अहिंसा नहीं है वहां धर्म नहीं है।

गुरुदेव बोले

(१) आत्मार्थी जंवू ! सुन; जो आस्रव (कर्मबंधन) के हेतु हैं, वे संवर (कर्म रोकने) के हेतु भी हो सकते हैं, और जो कर्म क्षय करनेके हेतु हैं वे कर्मवांधनेके हेतुरूप भी हो जाते हैं।

(२) अथवा जितने कर्म क्षीण करनेके हेतु हैं, उतने ही कर्म वांधनेके हेतु भी हैं; और जितने कर्मवांधनेके हेतु है उतने ही कर्मक्षयके हेतु भी हैं।

विशेष—जव धर्म या व्यवहारमें निमित्तोंको ही महत्व दिया जाय, और यह महत्व भी इतना अधिक वढ़ जाय कि उसमें उपादानको तो लगभग भुला हीं दिया जाय, तंव धर्म जीवनव्यापी क्षेत्र रहनेके वदले कर्मकांड, शुष्कत्याग, अथवा ऐसे ही कुछ वाह्य आचरणमें समाप्त होता हुआ देखा जाता है। वास्तविक रीतिसे देखते हुए कर्मकांड तो मात्र निमित्तकी पूर्तिकेलिए हैं। और उनका हेतु उपादान (अंतःकरणस्थित संस्कारों) की शुद्धिके लिए होना चाहिए। जो निमित्त उपादनकी शुद्धि में उपयोगी सिद्ध न हो, उन निमित्तोंको महत्व देना निरर्थक है, इस वात का प्रतिपादन ये दोनों सूत्र खरी चोट लगाकर करते हैं। सारांश यह है,

कि बाहर दिखनेवाला संसार कुछ संसार नहीं है, वल्कि संसार तो अन्तर की वासनामें है, अर्थात् वाह्य संसार कोरलेसा काला नहीं है वल्कि इस का जैसा जो उपयोग या दुरुपयोग कर सकता है, उतनी और वैसी उसके उपादानकी शुद्धि अशुद्धिका मात्र निमित्त वनता है।

ऊपरके दोनों सूत्र अनासक्ति योगके सूचक हैं। 'परिणामे वंधो, परिणामे मुक्खो(मन एव मनुष्याणां, कारणं वंधमोक्षयोः)यह भाव भी यहां वहुत स्पष्ट होता है। विश्वमें एक भी निरर्थक वस्तु नहीं है। पदार्थ मात्रसे ज्ञान मिलता है। एक ही पदार्थ एकके लिए अमृतरूप है, और दूसरेकेलिए विष। मिथ्यादृष्टि जीव जहां जाकर पापकी गठड़ी वांधता है, वहां सम्यक्त्वी जीव कर्मवंधके वदले छूट जाता है। कोशा जैसी लावण्यमयी और चतुर वेश्याके विलासगृहमें वड़े काल तक दिनरात रहते हुए भी श्रीस्थूलभद्र निर्विकार रहे। एक ओर विकारोत्तेजक वासना का तीव्रवातावरण, और दूसरी ओर शांतमूर्ति योगीश्वरकी अडिगता। इन दोनोंके उग्रद्वन्द्वमें अन्तमें योगी विजय पाता है और वेश्या पर अपने सच्चरित्रकी अखंड छाप डालता है। इसरीतिसे कर्मवन्धके स्थानमें उसे तोड़नेका उल्लेख जैन ग्रन्थोंमें मिलता है। इसी तरह वहुतसे जीव ऐसे भी हैं जो उत्तमकोटिके पवित्रवातावरणमें भी अपनी गंदी वासनाकी प्रवलता से पापिष्ठ वृत्तिसे कर्मके तीव्रवंधन वांधते हैं।

सारांश यह है कि निमित्तोंकी अपेक्षा उपादानका अधिक प्रावल्य है। जिसका उपादान पवित्र है, उसे निमित्त चाहे जैसे मिलें तव भी उसकी पवित्रता नहीं जायगी। और जिसका उपादान अपवित्र होगा, वह पवित्र निमित्तोंसे भी पतन पायगा। अतः साधक उपादानको पवित्र वनानेका प्रत्येक साधनामें प्रयत्न करे। और उसी ध्येयसे आगे वढ़े। परन्तु इससे कोई यह न समझ वैठे, कि अनासक्तिकी शिक्षा लें तो कर्मवंधनके स्थानमें तटस्थ, मध्यस्थ या समभावी रहा जा सकता है। यह मानकर कोई साधक अपनी ही कसौटीकेलिए स्वयं ऐसे स्थानकी योजनाका सहारा ले।

कारण 'अनासक्ति' कहनेमें जितनी सरल है उतनी आचरणके व्यवहारमें विकट है।

(३) इन पदों (उपरोक्त रहस्यों) को संपूर्ण रीतिसे समझने वाले तीर्थंकर देवोंके वचनके अनुसार इस संसारके जीवोंको इसरीतिसे कर्मोंद्वारा बंधते हुए देखकर कौन साधक सद्युमी न होगा ?

(४) प्रिय जंबू ! ज्ञानी भगवान संसारमें रहते हुए सरल बोधो (मुमुक्षु, सुपात्र, भूमिका योग्य) और बुद्धिमान पुरुषोंको ऐसी रीतिसे धर्म कहते हैं, जिससे वे क्लेश, शोक और परिताप के स्थानमें तथा क्रोधादि–विषयादि या निन्दादि दुष्टदोषोंके वातावरणमें होनेपर भी धर्माचरण कर सकें। जंबू ! यह अनुभवसे प्राप्त सत्य है।

विशेष—ऊपरके सूत्र में दो भावनाएँ हैं। एक तो लोकसंगमें रहते हुए अनासक्त रहकर विकासकी साधना की जासकती हैं। और दूसरी भावना यह है कि, ऐसे संसारीजनोंको अपने विकासका मार्ग ज्ञानी ही बता सकते हैं। जिसने अनुभव किया है, जिसने विविध दृष्टिकोण समझे हैं, जिनमें अनेकांतता है और विश्वैक्य है, ऐसे पुरुष ही सच्चा ज्ञान दे सकते हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके विकासके मार्ग भी अलग अलग होने चाहिए। ऐसा भाव इनसे स्पष्ट निकलता है। संसारमें रहते हुए भी धर्माचरण किया जा सकता है। यह कहकर यहां धर्म और व्यवहारका तालमेल Concord सरल रीतिसे साधा गया है। आगार या अनागार किसी भी मार्गका इसमें एकपक्षीय आग्रह नहीं है। आग्रह केवल विकास का है। परन्तु उसकी रीतभात वतानेवाला पुरुष पूरा ज्ञानी होना चाहिए। जिसे लोक मानसका विशाल अनुभव ही न हो यदि ऐसे पुरुष उपदेश देने

बैठ जायँ तो कदाचित उनके द्वारा महाअनर्थ भी हो जाय। ऐसा भाव सूत्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(५) जंबू ! कितना आश्चर्य ! जो ये सब जीव मौतके मुंहमें आ पड़े हैं। ऐसे प्राणोकेलिए मृत्यु न आवे ऐसा निश्चय तो कुछ नहीं है, फिर भी आशामें वहते हुए उलटे स्थानवाले प्राणी कालके मुंहमें पडे पडे भी 'मानो कभी मरना ही न होगा,' इस प्रकार पापक्रियामें मस्त–सरावोर रहा करते हैं [कर्मवंधनोंसे] विचित्र जन्म परम्परा वढ़ाते हैं। और फिर उसी आशाके जाल में फंसे पड़े रहते हैं।

(६) इस संसारमें ऐसे भी वहुतसे भारीकर्मी [मोहमूढ़] होते हैं, जिन्हें नरकादि दुःख भोगनेका मानो नाद ही नहीं लगा है। इस प्रकार वे घोर पापकर्म करके फिर दूसरी वार ऐसे स्थानोंमें उत्पन्न होकर इस प्रकारके दुःख सहा करते हैं।

विशेष—पहलेपहल कैदमें जाते हुए मनुष्य डरता है, परन्तु यदि दो चार वार जेलमें चला गया हो, तो उसकेलिए वह एक सहज घटना हो जाती है। इसीभांति जिसे अतिदारुण दुःखोंका परिचय है, वह जीवात्मा इतना अधिक विभाववश हो गया है, कि फिर मानो उसे दुःखका डर ही न रहा हो। इसके कहनेका कारण यह है, कि जीवात्माको अपने किए कर्मका अच्छा वुरा अनुभव वारम्वार होता है, तो भी वह अपना मूढ़वृत्तिको सुधारनेका प्रयत्न नहीं करता। इससे ज्ञानी पुरुष यह अनुमान करते हैं कि कदाचित वह परिचय पाकर लतखोरा होगया होगा (यद्यपि यह एक औपचारिक वाक्य है), नहीं तो अपने आप वार वार किसलिए फँसता फिरे ? कईवार कुछ भी न करनेकी आलसी वृत्तिके कारण जो जीव इनशब्दोंको दुहराया करते हैं, कि हम क्या करें ? हमें अनुकूल संयोग ही नहीं मिलते, या फिर हम भारीकर्मा हैं,

ऐसे लचर बचाव किया करते हैं, उन्हें इससूत्रमें मीठा उद्बोधन किया है।

(७) अतिक्रूरकर्म करनेसे जीव अतिभयंकर दुःखवाले स्थानमें उत्पन्न होता है। और जो जीव अतिक्रूरकर्म नहीं करते, वे वैसे दुःखीस्थानमें उत्पन्न नहीं होते।

विशेष—जीवात्मा जिसप्रकारके कर्म करता है वैसे वैसे आकारमें चैतन्य विकृत होता जाता है, और वह विकृत चैतन्य कर्मोंके वश होकर जिसप्रकारके कर्मोंके योग्य वातावरण होता है वैसे वैसे निकृष्ट या नीच स्थानोंमें संयोजित हो जाता है। इतना स्वरूप जानकर जो साधक अधम कृत्य करते हुए डरता है, वह अधम स्थानमें जाना पड़े ऐसा कलुषित मानस नहीं घड़ता।

(८) इसप्रकार जो सत्य श्रुतकेवली पुरुष कहते हैं, वही सत्य केवलज्ञानी पुरुष कहते हैं, और जो सत्य केवलज्ञानीपुरुष कहते हैं वही सत्य श्रुतकेवलीपुरुष भी (इस संसारके जीवोंको सद्बोध देनेकेलिए) कहते हैं।

विशेष—जैनदर्शनमें दशपूर्वसे लगाकर चौदह पूर्वतकके ज्ञानके धारीको श्रुतकेवली कहते हैं। ये सत्पुरुष तीर्थंकरोंके उपदेशके अनुसार वर्ताव करते हैं। इसीलिए सत्पुरुषोंकी वाणीमें सर्वज्ञदेवकी वाणीकी एकवाक्यता बराबर कायम रहती है। ऐसे समयज्ञ और सद्वर्तनवाले महापुरुषोंकी शिक्षाका अनुसरण करना साधकका मुख्यकर्तव्य है।

(९) इसजगतमें कोई श्रमण तथा ब्राह्मण सत्य और सनातनधर्मसे विरुद्ध प्रलाप करते हैं, जैसे कि "हमने देखा है, हमने सुना है, निश्चित किया है, तथा प्रत्येक दिशासे ठीक तरह निर्णय किया है कि (धर्मके निमित्त) प्राण, भूत, जीव, या सत्व इन चार प्रकारके किसी भी जीवको, मारने, दबाने,

पकड़ने, दुःखी करने या प्राणहीन करडालनेमें कोई दोप नहीं होता।" सचमुच ऐसा मिथ्याप्रलाप करना उन अनार्योका ही वचन है।

विशेष—छोटे या बड़े किसी भी जीवको जरासा कष्ट भी पहुँचाना हिंसा है। धर्मके नामसे तो हिंसा हो नहीं सकती। यह विल्कुल स्पष्ट और सत्य है, यह जानते हुए उसकालमें धर्मके निमित्त देवीदेवताके सामने हिंसा करना अज्ञान और अन्धस्वार्थी श्रमण तथा ब्राह्मण प्रचार करते थे। यह विधिविधान अव भी मूर्खलोगोंमें ध्वंसावशेपके रूपमें रह गया है। महावीर भगवानने उस प्रथाका अन्त करनेकेलिए भरपूर प्रयत्न किया था और सच्ची आर्यभावनाका प्रचार किया था। इसमें इस ऐतिहासिक तथ्यकी ध्वनि है। इसलिए आर्य और अनार्य ये दोनों गुणनिष्पन्न संज्ञाएँ हैं, यह भी स्पष्ट समझमें आ जाता है।

(१०) जो आर्यसाधक होते हैं, वे तो यह कांड देख कर ऐसे मौकेपर यही कहते हैं; कि ओ दयापात्रो! तुम्हारा वह देखना, सुनना, मानना, निश्चित जानना, तथा सव दृष्टि-कोंणोसे कसोटीपर कसना सव दुष्ट (असत्य अनर्थकारी) है, कारण तुम यह कहते हो कि "जीवोंको मारनेमें कुछ दोष नहीं" परन्तु यह तुम्हारा कहना अनार्य लोगोंका अनुसरण करनेके समान ही है।

विशेष—जातिसे अनार्य गिने जानेवाले लोगोंकी अपेक्षा जो क्रियासे अनार्य हैं वे वड़े भंयकर हैं। क्योंकि वे तो वेचारे पुण्य पाप या धर्मा-धर्मको कुछ समझते ही नहीं, इसलिए वे भूल करते हैं। परन्तु जो धर्मको समझते हैं, फिर भी धर्मके नामपर अधर्मका मार्ग पकड़ते हैं, इसलिए वे उपर्युक्त अनार्योंसे ज्यादह दोपी हैं। अनार्य तो मात्र स्वयं ही पाप करते हैं और संसारकी धारामें डूबते हैं परन्तु आर्यके नामपर

अनार्यत्वमें वरतनेवाले स्वयं डूवते हैं और उनका अनुगमन करनेवाले दूसरे व्यक्तियोंको भी डुवोते हैं। इससूत्रमें यही कहा है कि किसी भी हेतुके कारण हिंसा करना यह आर्यके स्वभावमें न होना चाहिए।

(११) और हम तो कहते हैं, वोलते हैं और वर्णन भी करते हैं, कि–किसी भी प्राणी को किसी भी प्रयोजनसे मारना, दुःखदेना, संताप देना, पीड़ित करना या प्राणरहित करना नहीं, और इस (अहिंसक) रीतिसे वर्तावमें दोष नहीं है। यह वचन आर्यपुरुषोंका है।

विशेष—महापुरुषोंने विकासकी जो साध पूरी की है,, वह किसी दूसरे प्राणीका भोग लेकर नहीं, वल्कि दूसरोंको वचाकर की है। इस भावनाका प्रचार करना और तदनुसार वर्तावकरना ही आर्यत्व है। इसीमें आर्यधर्म है। किसी दूसरेका नाशकरके स्वार्थाध और अत्याचारी वनकर विकास साधना, ये दोनों परस्पर विरुद्ध वातें हैं। आर्यभावनाका यहां अच्छा परिचय मिलता है। आर्यसंस्कृति अर्थात् जैन या वेदसंस्कृति नहीं वल्कि आर्य यानी संस्कारीपुरुष और आर्यत्व अर्थात् संस्कारिता समझना चाहिए।

(१२) प्रत्येक मतावलंवीके धर्मशास्त्रोंमें क्या क्या कहा गया है, इसे ठीकतरह इसप्रकार प्रत्येक मतके अनुयायियोंसे प्रश्न किया जाता है कि (शास्त्रवादके वहाने झूठे झगड़े खड़े करके किसलिए इसमतके संस्थापकोंके रूपमें अन्याय करते हो?) ओ पर वादियो! अच्छा वताओ तुमको सुख वुरा लगता है या दुःख? यदि तुम्हें दुःख अप्रिय है, तो तुम्हारे जैसी चेतनावाले सव प्राणिओंको भी दुःख ही महाभयंकर और अनिष्ट लगता है। यह सिद्ध होता है, इसलिए आप उसी प्रकारका वर्ताव करो।

विशेष—इससूत्रमें कहा गया है कि—जैसा जो स्वयं अपने लिए चाहता है, वैसा ही वह सब जगत् केलिए चाहता है अर्थात् अपने और परायेकी एकवाक्यता साधनेकेलिए धर्मकी उत्पत्ति होती है और उससे प्रत्येक धर्म फिर उसका चाहे जिस धर्मसंस्थापकने निर्देश किया हो, परन्तु यदि उसे धर्मके रूपसे पहचाना जाता हो, तो उसमें अहिंसाकेलिए सबसे पहला स्थान होना ही चाहिए। फ़िर प्रत्येक धर्मके अभ्यास और अनुभवके पश्चात् भी हम यह कहते हैं,कि हिंसा धर्मका लक्षण कतई नहीं है। परन्तु धर्मके नामपर प्रचलित किए हुए अनर्थ हैं। यह समझाकर सूत्रकार कहते हैं कि वास्तविक धर्म वह है कि जिसमें अहिंसाके सिद्धांतोंको संपूर्ण आदर और उच्चतम स्थान प्राप्त है।

यहां प्रश्न हो सकता है, कि यदि अहिंसा ही धर्म है, तो धर्म, पंथ, मत, आदि भेद किसलिए? विश्वपर एक ही धर्म छा जाय तो यह व्याकुलता मिटे। परन्तु यह बात कहनेमें जितनी सुन्दर हैं उतना शक्य नहीं। अलग अलग साधनोंका होना अस्वाभाविक नहीं है। सत्य एक ही है। फिर भी दशों दिशाओंमें व्यापक है। मत, पंथ और संप्रदाय तथा वाडाबंदी के सब इसी के विविधस्वरूप हैं। एक किरण दूसरी किरणके साथ लड़े झगड़े इसके बदले जितनी एकताकी साध पूरी की जा सके, उतनी ही वह फले और अनन्ततत्वमें जा मिले, इसलिये जो साधक ज्योति और अनन्तत्वके पुजारी हैं, वे चाहे जिस विभागमें रहकर चाहे जहांसे इसतत्वको पाकर आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु जो एक किरणसे ही अनन्तताकी कल्पना करलेते हैं, वे कदाग्रह और साम्प्रदायिकतामें कट्टर रहकर अपनेको भूल जाते हैं। और औरोंको भी भ्रममें डाल देते हैं। प्रज्ञसाधक तो संकुचिततामें न फंसकर अपने समान सबको सर्वत्र देखता है, और आगे बढ़ता है। सम्यकत्वका भी यही सार है।

इससूत्रमें एक यह विशेषता चांदसे अमृत की तरह प्रगट होती है, कि किसी भिन्न मतवालों को उसने मिथ्या नहीं माना या अपने दर्शनका

प्रलोभन देनेकी प्रेरणा नहीं की । मात्र उनकी मान्यतामें जो भूल है, उसे मानसशास्त्रकी दृष्टिसे कसकर बताता है । यहीं जैनदर्शनके स्याद्वादका प्रत्यक्ष अनुभव होता है । जो दर्शन जितना व्यापक होता है, वह उतना ही उदार और स्वाभाविक होता है । जिसने नैसर्गिक दर्शन पचाया है ऐसे महापुरुषोंको अपने अनुयायी बढ़ानेकी लालसा नहीं होती । बल्कि उसने तो जो स्वयं सत्यकी अनुभूति ली है वही अनुभूति जगतकी थालीमें परोस दी है । जगत उसमेंसे जितना लेना चाहे ले । यह बोधपाठ नैसर्गिक धर्मके माननेवाले प्रत्येकसाधकको जीवनमें ओतप्रोत करने योग्य है ।

उपसंहार—कर्मबन्धनका मुख्य आधार कुछ बाहरका स्थान, क्षेत्र या क्रिया पर अवलंबित नहीं है, बल्कि वह तो आंतरिक वृत्तिपर है । बाहरसे दिखनेवाली कर्मबंधनकी क्रिया भी ज्ञानी पुरुषोंको कर्मसंवर या कर्मनिर्जराकी कारणभूत बन जाती है ।

कर्मबन्धनका कारण समझकर साधक पुरुषार्थी बनता है । मृत्युका भय रखनेसे मृत्युको जीता नहीं जा सकता । वीरपुरुष तो कर्मबन्धनको वृत्ति बदलकर छुड़ा सकता है । और व्यापक अहिंसाको भी वही पा सकता है ।

प्रगट दृश्यमानधर्म, मत, पंथ तथा संप्रदायोंकी योजना अहिंसाके प्रचारकेलिए ही होना चाहिये । मानव मानवके बीचमें अन्तर डालनेकेलिए नहीं है बल्कि जो बात सारे विश्वके जीवोंके साथ प्रेमकी श्रृंखला का अनुसंधान करे वही तो धर्म है । जहां यह दिखाई न दे वहां मानना चाहिए कि धर्म नहीं है बल्कि धर्मका विकार है । धर्मविकार अधर्म जितना अनर्थकारी ही साबित होता है इसलिए इसे सर्वथा दूर करना चाहिए ।

परन्तु विकृत विचार या विकृतमान्यताओंका खंडन सत्यार्थी सत्यको संभालकर ही करता है। सत्यार्थीकी शैली खंडनात्मक न होकर मण्डनात्मक ही होती है। इसकी कोई भी प्रवृत्ति, विवेक, वुद्धि, वचनमाधुर्य या अनुकंपाभावसे खाली नहीं होती। इसे चाहे अधर्मपर तिरस्कार हो परन्तु अधर्म-कर्ता पर तो प्रेम ही होता है। स्याद्वादका आराधक या सनातनधर्मका साधक इतना रहस्य ठीक तरह विचारेगा।

इस प्रकार कहता हूं

सम्यक्त्व अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त।

तीसरा उद्देशक

तपश्चरण

सूत्रकारने पहले उद्देशकमें अहिंसाको सत्यका साधनरूप बताकर दूसरे उद्देशकमें शुद्धअहिंसा की समीक्षा की है और हिंसाका प्रबल विरोध बताया (दर्शाया) है। अब इस उद्देशकमें अहिंसाके पालन करनेकेलिए तप यानी इच्छाका निरोध और संयम अनिवार्य होना चाहिए, यह समझानेकेलिए तपश्चरण-का रहस्य बताते हैं।

चित्तके मलविक्षेप भी इससंसारके सुखका बाधककारण हैं। यह आत्मस्वरूपके दर्शनका आवरण है। इस रोगको दूर करनेकेलिए जो कि एक अद्वितीय रसायन है, उसे जैनदर्शनमें तपश्चर्या कहा है। उस तपश्चर्याका प्रकार एक नहीं है, अलग अलग जीवोंके भिन्न भिन्न रोगोंकी समीक्षा करके ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीरने उसके बारह भेद बताये हैं। इस रसायनके सेवनकरनेसे जीवात्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है। इस रसायनके सेवन करनेवाले साधकको जो पथ्य पालना है उसे समझानेके लिए—

गुरुदेव बोले

(१) साधक! धर्मभ्रष्ट, अधर्मप्रचारक या सद्धर्मके विरोधक बर्तावकी ओर तू बिल्कुल ध्यान न दे। जो अधार्मिकों-

की ओर उपेक्षा बुद्धि रखते हैं(और शाँतिपूर्वक अपने साधन-मार्गमें लगे रहते हैं)वे ही सच्चे आदर्श विद्वान हैं ।

विशेष—दूसरे उद्देशकमें विरोधी मत, धर्म या पंथकी झूठी मान्यताओंका विरोध किया, परन्तु इससे कोई साधक व्यक्ति खंडनात्मक या कलुषितवृत्तिमें न पड़ जाय, इसलिए इस पहले सूत्रमें फिर चेतावनी दी है, कि तू इसके व्यक्तिगत वर्तावके सामने कुछ भी ध्यान न दे । मात्र अपने धर्ममें स्थिर हो, अर्थात् आत्माभिमुखी वन ।

जो साधक व्यक्तिगत या समाजगत खंडनमें पड़जाते हैं, उनसाधकोंकी साधना खंडित हो जाती है । चित्तके मल, विक्षेप तथा आवरणोंको दूर करनेकेलिए केवल उन्हें अपना स्पष्टधर्म निश्चित कर लेना उनका अपना मुख्यकर्तव्य है, सूत्रकार यह वात कहना चाहते हैं यह अध्ययन भी सम्यक्त्वका चल रहा है ।

देव, गुरु, और धर्मकी श्रद्धाकी भी इतनी मर्यादा है, परन्तु उस रहस्यको न समझकर जो साधक व्यक्तिगत खंडनमें पड़जाता है तव अन्त:करणकी शुद्धिका कार्य करनेके वदले उलटा मल वढ़ाता है । इसलिए, वहिर्मुखवृत्तिको सवसे पहले वन्द करना चाहिए, तव ही आत्माभिमुख प्रवृत्तिकी ओर मुड़ा जा सकता है ।

यहां अधार्मिकोंकी तीनभागोंमें कल्पना की है, उसमें वृत्तिके परिणामकी तरतमताका गंभीर मर्म समझाया है । धर्मभ्रष्टमें अज्ञान और आसक्ति दोनों होती हैं । अधर्मप्रचारकमें प्राय: अज्ञान होता है, परन्तु सद्धर्मके विरोधकमें मात्र अज्ञान ही नहीं वल्कि वृत्तिकी मलिनता और साथ ही शक्तिका दुरुपयोग भी होता है । साधक सवकी ओर उपेक्षा रखकर स्वलीनता अर्थात् स्वाभिमुख दृष्टि रक्खे ।

(२) साधक ! तू ठीक विचार कर कि जो पापकर्मको दु:खका कारण जानकर उन असदाचरणोंका त्याग करनेकेलिए, शरीरशुश्रूषाकी कुछ भी पर्वाह किये विना, धर्मके ज्ञाता और

अन्तःकरणका शुद्ध तथा सरल होकर कर्मबन्धके तोड़नेका प्रयत्न करते हैं। सचमुच वे ही उत्तम विद्वान हैं, इसप्रकार प्रत्येक तत्वदर्शीने कहा है।

विशेष—अब अन्तर्दृष्टि पानेके पश्चात् क्या करना चाहिए,यही बताते हैं—असत्प्रवृत्ति ही पापकर्म है, और पापकर्मका परिणाम ही दुःख है अतः दुःखके आत्यन्तिक क्षयकेलिए असत् का त्याग और सत्यका स्वीकार जो असदाचरणके त्यागसे ही जन्म पाता है, उसे अपने जीवनमें ओत-प्रोत करना चाहिए। ऐसे असदाचरणके त्यागमें यदि देहकी ओर लापर्वाही रखनी पड़े तो भी वहां सत्यशोधकको सत्यके आगे देहका मूल्य कुछ भी नहीं होता, देह वैसे पहले विकासका अनुत्तर साधन है। अतः उस ओर जरा भी उपेक्षित न होनेकी सूचना की है। यहां उसकी मर्यादाको बताया है। साधक देहकी शुश्रूषा अवश्य करता है, परन्तु यदि वह विकासकेलिए उपयोगी हो वहां तक, विकासको होमकर नहीं। इसीदृष्टिसे विलासनिरोध और इच्छानिरोधरूप तपश्चर्याकी आवश्यकता है।

(३) ये तत्वदर्शी पुरुष दुःखनाशके उपायको तथा मूल-कर्मके स्वरूपको जाननेमें कुशल, शारीरिक और मानसिक दुःखके प्रबल चिकित्सक और यथार्थ रीतिसे मितभाषी होते हैं। तथा वे रूपपरिज्ञा (विवेकबुद्धि) से पदार्थके स्वरूपको जानकर (सच्चा मार्ग ग्रहण करके) खोटेका त्याग करनेवाले होते हैं।

विशेष—तत्वदर्शी पुरुष मात्र विद्वान होते हैं अतः उनके ऊपर श्रद्धा रखनी चाहिए, यही नहीं, बल्कि उन्होंने अपना साधक जीवन विकसित करनेकेलिए अनुभव प्राप्त किया है इसलिए उनके वचन श्रद्धेय और आचरणीय हैं। यह बतानेकेलिए सूत्रकार तत्वदर्शीके गुणोंका वर्णन करते हैं। इसरीतिसे विद्वानकी जो व्याख्या प्रचलित है, उसकी

अपेक्षा कुछ जुदी ही प्रतीत होती है। जहां वर्ताव और वाणीमें समरूपता (एकवाक्यता)है, वहां ही विद्वत्ता है। और ऐसे तत्वदर्शियोंको ही तत्व वतानेकी योग्यताके रूपमें स्वाकार किया है। इसका कारण यह है कि ऐसे महापुरुष ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, वस्तु,स्वभाव तथा स्व और परके भेद-ज्ञानके अनुभवी होनेसे सत्यमार्गका यथार्थ निरूपण और भान करा सकते हैं।

(४) अत: इस जगतमें सत्पुरुषोंकी आज्ञा पालन करनेंका इच्छुक पंडित साधक अनासक्त होकर(इच्छाका निरोध करके) अपनी आत्माको यथार्थ(ज्ञान पूर्वक)जानकर तपश्चरण द्वारा शरीरको साधनाके क्षेत्रमें स्थापन करे।

विशेष—आत्माभिमुख दृष्टि प्रगट करनेकेलिए यहां तपश्चर्याकी आवश्यकता बताई है। जिस क्रियासे अनासक्ति पैदा हो, उस क्रियाको तपश्चर्या कहते हैं। इसीसे इच्छानिरोध तपकी व्याख्या स्पष्ट है। महा-पुरुष इस दृष्टिकोणसे ही शरीरको कसनेकेलिए कहते हैं। अर्थात् तपश्चर्या का हेतु देहदमन न होकर वृत्तिदमन है। वृत्तिदमन तपश्चर्याका मापक यंत्र गिना जाता है। जितने अंशमें वृत्ति अधिकार(काबू)में आ जाय उतने अंशमें तपश्चर्या सफल समझी जाती है।

(५) इसलिए साधको ! अपनी दुष्ट मनोवृत्तिको(तप द्वारा) कृश करो, जीर्ण करो।

(६) कारण जिस प्रकार हरी लकड़ियोंकी अपेक्षा सूखी लकड़ियां और सूखी लकड़ियोंकी वनिस्वत पुरानी लकड़ियोंको आग शीघ्र जला देती है। इसीतरह जो आसक्ति रहित और आत्मनिष्ठ अप्रमत्त साधक होगा, उसके कर्म शीघ्र जल जायंगे।

विशेष—हरी लकड़ियोंको सुखाना, अर्थात् पहले तो क्रियामें होने वाली भूलोंका पश्चात्ताप और संयमका ताप देना; फिर निमित्तमात्रके

त्याग द्वारा आसक्तिके बीजको जीर्ण कर देना; और आसक्तिका बीज पुराना होनेपर उसे आगसे छुआ देना अर्थात् अनासक्तिको जगानेका प्रयोग करना। इसक्रमके पालन करनेमें श्रम कम होता है। और सफलता साध्य है। परन्तु क्रमके उल्लंघन करनेमें न सफलता होती है न संतोष। तब सिद्धिकी तो बात ही क्या ? इससे अप्रमत्तता, अनासक्ति और आत्म-निष्ठा सुरक्षित रखकर आगे बढ़ना चाहिए।

(७) परन्तु साधक ! मनुष्यभवकी आयु (इस साधनाकाल का समय) बहुत कम है। और कितनी है ? इसका विश्वास भी नहीं किया जा सकता। अत: धैर्यका सेवन करते हुए सबसे पहले क्रोधको [अपनी आत्मासे] दूर कर।

विशेष—ऊपरकी बातको फिरसे दृढ़ करनेकेलिए सूत्रकारने यह सातवां सूत्र कहा है। यहां मनुष्यभवकी आयु कम बताकर सतत जागृति रखनेकी सूचना की है। एक भी क्रिया उसके परिणामकी जानकारी के सिवाय उदारणीय या आचरणीय नहीं। जिस क्रियाका परिणाम विचारते हुए उसमें स्वार्थ, अभिमान या ऐसे ही महादोष प्रतीत होते हों, तो चाहे वह क्रिया कितनी ही सुन्दर क्यों न हो उसे मैं भी न करूं। यदि साधकमें ऐसा विवेकज्ञान जाग उठे,तो उसीका नाम जागृति है। परन्तु सतत जागृति रखते हुए साधकको अपने सामने अपनी जो भूलें दीख पड़ें, उन भूलोंको देखकर वह निर्बल, पामर खाउउडाउ या उतावला न बन जाय ! इसलिए साधकको फिरसे सावधान करनेकेलिए सूत्रकार कहते हैं, कि देखो, शायद कभी जागृतिकी धुनमें साहस न कर बैठना ! दुष्टवृत्तिको जीर्ण करनेके साधनमें धैर्य रखना। भूलें करनेवालेकी अपेक्षा बहुत बार भूलें जाननेके बाद उनके भयसे भान भूलनेवाला अधिक चक्करमें पड़ जाता है। वह अपनी साधनाको भी चूक जाता हैं। और साथ ही आत्मश्रद्धाको भी खो बैठता है। इसलिए भूलोंको जाननेकेबाद भूलें जल्दी निकल जायं या तुरन्त निकाल डालूं ऐसी मानसिक शूल या भ्रांतिमें जल्दी न

करते हुए विवेक बुद्धिसे सब तरह कसना, पर अधीर न होना। यह कह कर आगे भूलका मूल क्रोध है, आवेश है, अतः सबसे पहले क्रोधको अपनी आत्मासे निकाल डाल, ऐसा कहा है।

वैसे यहां क्रोध परिहारकेलिए कहा गया है परन्तु क्रोधके साथ और भी आत्माके शत्रु हैं, जिन्हें जाननेकी खास आवश्यकता है। क्रोधका स्थान पहले किस लिए है? इस हेतुका विचार पहले उद्देशकमें आ चुका है।

(८) आत्मार्थी जंबू बोले, भगवन्! क्रोधादि दोष कैसे दूर हो सकते हैं? इसके उत्तरमें गुरुदेव कहते हैं कि साधक! इस जगतके जीव क्रोधादिसे कैसे दुःख भोगते हैं, उसके कटु विपाकको कैसे भोगेंगे इसका स्वरूप समझकर अपने समझकी कसोटी कर।

विशेष—क्रोध दोषका मूल है। दोषोंको कहनेसे दोष नहीं घटते। यह बताकर यहां दोषनिवारणका सुन्दर मार्गदर्शन किया है। कई वार साधक अपने दोषोंको दूर करना चाहता है, परन्तु इसे दोषोंको दूर करने के मार्गका स्पष्ट पता नहीं होता, जिससे बहुत वार दोष घटनेके बदले बढ़ते हैं,ऐसा अनुभव होता है। कारण ऐसे प्रसंगमें उनके हृदयमें दोषोंके प्रति अरुचि Disgust सी बढ़ जाती है, जिससे कि वह विव्हल हो जाता है। ऐसी विव्हलतामें दोषोंके प्रति घृणा हो जाती है, परन्तु विवेक बुद्धि नहीं होती। और जहां तक विवेकबुद्धि द्वारा वृत्तिपर उसका पुष्ट प्रभाव नहीं पड़ता, अर्थात् वृत्ति न बदले वहां तक निमित्तोंके हट जानेपर भी दोष नहीं घटते और वह एक क्षेत्रमें नहीं तो दूसरे क्षेत्रमें देखे जाते हैं। इससे परिणाममें साधना और श्रम दोनों निष्फल हो जाते हैं।

अतः दोषोंको दूर करनेकेलिए दोषोंके उत्पत्तिस्थान ठेठ वृत्तितक विवेकबुद्धिको पहुँचाना चाहिए। वस्तुका परिणाम और स्वरूपकी स्पष्ट विचारणा ही विवेकबुद्धिका स्वरूप है। परिणामकी शुद्धविचारणा भूल से बचाती है, और कदाचित चित्तके तीव्र आवेग वश भूल हो जाय, तो

भी वह भूल विकासमें बाधक नहीं होती तथा आगे भी नहीं बढ़ती। कारण भूलका परिणाम आनेसे पहले परिणामको उसने अपने मन द्वारा सह लिया है। इससे वह समभाव रखना चाहे, तो रख सकता है, साथ ही जागृती भी रह सकती है। इस सूत्रमें स्वरूप विचार पर बहुत बल दिया है। यदि पदार्थ उलझन पैदा करता हो, तो पहले उसका वास्तविक स्वरूप देखो और अपनी बुद्धिकी कसोटी करो।

वस्तुका भोग करते समय उसके अलग अलग अंशोंको देखनेकी बुद्धि के अभावके कारण ही वस्तुकी ओर लालसा और वस्तुके वियोगमें आवेश या द्वेष पैदा होता है। अर्थात् स्वतंत्र विवेकबुद्धिसे वस्तुका अवलोकन करना सीखो।

(६) फिर जो आदमी कषायोंको उपशमाकर पापकर्मसे निवृत्त हो गए हैं, वे कैसे वासना रहित(शान्त) और परमसुख में निमग्न रहते हैं, उनका भी अनुभव करो।

विशेष-इससूत्रमें सूत्रकार महात्मा बहुत कुछ कह गए हैं। आंतरिक या बाह्य शांतिका मूल जगतके बाह्य पदार्थोंमें या शरीरमें नहीं है। बाह्यपदार्थ या शरीर जो सुख दुःख शान्ति या अशांति पैदा करते हैं, उसका कारण यह न होकर बल्कि अपने भीतर रहनेवाली वृत्ति ही है। परन्तु इस बातको सुनकर तू बैठा न रह। वे यह भी कहते हैं, कि उसे जीवनका परम सिद्धांत बताकर स्वयं अनुभव कर।

सिद्धांत अर्थात् अंतःकरणकी स्थिरता होनेपर प्रतिबद्ध मान्यता रहती है। सिद्धांत आवे तो उसके पीछे शक्ति भी आयगी और साथ ही उसका अनुभव भी होता है। वृत्ति विजयका प्रयोग किये बिना यह अनुभव सहज प्राप्त होनेवाला नहीं है। तो भी ऐसा किए बिना छुटकारा नहीं। यहां ऐसी ध्वनि है। जहां तक अपने शुद्धविचारोंकी स्वयं स्फुरणा और उस पर विवेकबुद्धिपूर्वक चिमटे रहनेकी कृतज्ञता न जाग जाय वहां तक उस साधकके जीवनमें सिद्धांतशक्ति या अनुभव जागृत नहीं होता।

और स्थिरता रहित लोगोंकी तरह ऐसा साधक जहां तहां लोग झुकाएं वहां ही झुक पड़े। इसरीतिसे विचारोंका ठीक होना विकासका पहला चिन्ह है।

जगतके महापुरुषोंकी शांतिका वीज जिज्ञासा पूर्वक पदार्थकी अवलोकन बुद्धिसे उत्पन्न होता है। अर्थात् उन पुरुषोंकी शांतिसे भी श्रद्धा पैंदा करके अपनी आत्मामें भी वैंसी ही शाँति भरी है इसका अनुभव कर; इस प्रकार सूत्रकार कहते हैं।

(१०) ऊपरके दोनों पहलुओंको देखकर वुद्धिमान और तत्वदर्शी साधक कदापि प्रवल निमित्त मिलने पर भी किसी पर क्रोध नहीं करता।

विशेष—यहां 'प्रवल निमित्त मिलने पर" इस पदके लगानेका प्रयोजन यह है, कि निमित्त कुछ स्वयं महान नहीं है। निमित्तों द्वारा जो कुछ क्रिया होती है, उसमें निमित्तकी महत्ता नहीं है, वल्कि मुख्यतया उपादान ही मुख्यकारण भूत है। वृत्ति स्वयं ही अन्तरमें रहकर वाहरके निमित्तोंको खड़ा किया करती है। अथवा निमित्तोंके वश होती है। इस वृत्तिके दूपित आवेगका नाम ही क्रोध है। विवेकबुद्धि और आत्माभिमुखता की भी यह एक कसोटी है।

उपसंहार—परमान्यता या परभूमिकाके धर्मकी ओर उपेक्षा रखकर स्वधर्मकी श्रद्धाकी शिक्षा लेनी चाहिए। जिसविद्याके संस्कार जीवनके समस्ततत्वोंको संस्कारी वनाते हैं, यही सच्ची विद्या है। तत्वदर्शी पुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा रखनेसे जीवन प्रफुल्लित और विकसित होता है। आत्माभिमुख दृष्टिके विकासकेलिए देहदमन, इंद्रियदमन, और वृत्तिदमन इन तीनोंका दमन करनेकी आवश्यकता है।

जिस विलासमें क्रोधादि शत्रुओंकी उत्पत्ति होती है वह विलास दुःखप्रद है। अतः आप अपनी सच्ची दृष्टि जागृत करो। और उससे पदार्थों और जगतको अवलोकन करके विज्ञताकी कसोटी करो।

कषायोंके उपशमनमें शांतिका मूल है। जगतके सब महापुरुषोंने इसी मार्गको स्वीकार किया है। आपका भी यही मार्ग सबप्रकारसे कल्याण कर्ता होगा।

इस प्रकार कहता हूं

सम्यक्त्व अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।
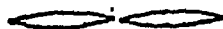
चौथा उद्देशक

तपश्चर्याका विवेक

सत्यकी आराधनामें तपश्चर्याकी आवश्यकता है, इसप्रकार तीसरे उद्देशकमें व्यक्त करनेके वाद कहते हैं कि:—तपश्चर्याका हेतु तब ही फल देता है, जव वह साधक उतनी योग्यता पर पहुंचा हो। संयम अर्थात् आवश्यकताओंको घटाना, यह तपश्चर्याका पहला स्वरूप है। इससे उसकी आराधना करनेसे पहले यानी संयमी बननेसे पूर्व जो साधक तपश्चर्या करता है, उसे तपश्चरणका वास्तविक लाभ नहीं मिलसकता।

गुरुदेव बोले

(१) आत्मार्थी जंबू! साधकवृत्तिके पूर्वाध्यास (कर्मसंगको लेकर बहुतकालसे आत्मामें रही हुई जड़भावजन्य ममता) के प्रभावसे निवृत्त होकर और मानसिक शाँति पाकर फिर ही क्रमपूर्वक पहलें कुछ कम और फिर कुछ विशेष, इसक्रमसे तपश्चरणकी वृद्धि करते हुए दमन करे।

विशेष—देहको कसनेका प्रयोग देह दमन है। यह भी तपश्चर्याकी एक विधि (विभाग) है। परन्तु संयम और त्यागका आचरण करते हुए सहज रीतिसे जो तपश्चर्या होती है, वही वास्तविक तपश्चर्या है। जो तपश्चर्या लोकरूढ़ि, वेसमझी या ऐसे ही किसी निमित्तवश की जाती है, वह सफल नहीं हो सकती। जितने अंशमें तपस्वीके मन, वाणी और

कर्ममें उपशम-शान्तिकी वृद्धि हुई हो उतने अंशमें तपश्चर्या फलीफूली समझी जाय।

(२) और इसीलिए वीरसाधकको निश्चल और शाँत मनसे (जीवनके अन्त तक) अपने स्वरूपमें प्रेम धारण करके आत्मलीनताकी शिक्षा पाकर समिति तथा ज्ञानादि हितकारक सद्‌गुणोंको साथ रखकर सदैव यत्नपूर्वक स्थिरतासे सद्वर्तनमें रहे।

विशेष—कर्म क्षीणकरनेके प्रयोगोंमें जिन गुणोंकी आवश्यकता है, उन्हें यहां बताया है। जिसका मन घड़ी घड़ी अव्यवस्थित हो जाता हो, निमित्त मिलते ही घबरा जाता हो, वह साधक वृत्तिविजयका अनुष्ठान करनेकेलिए लेशमात्र भी योग्य नहीं है। साधक सदैव स्वाभिमुख अर्थात् अपने मनका द्रष्टा होकर रहे। वह अपने मन पर निमित्तोंका लेशमात्र भी असर न होने दे। जो साधक प्रतिपल इतना जागृत रहता है, वही अनुष्ठानादिमें प्रवेशकरनेकी योग्यता धारण कर सकता है।

(३) मोक्षार्थी शिष्य! इसीलिए भगवान् कहते हैं कि:-मोक्षार्थी और वीर साधकोंकेलिए भी यह मार्ग बहुत विकट है।

विशेष—बहुतसे समर्थसाधकोंने साधना मार्गमें प्रविष्ट होकर मूलमें ही चक्कर खाए (चकरा गए) हैं ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। इसीलिए प्राथमिक साधनाकेलिए कठोर विधिविधान और दुष्कर नियमोंकी योजना की गई है। और यह सहेतुक भी है। क्योंकि वीरपुरुषोंकी वीरता और मोक्षार्थी की मुमुक्षुता दुष्ट वृत्तियोंके वेगको जोशदिलानेवाले निमित्तोंके मिलते ही कई बार दबते हुए किंवा नष्ट होते हुए देखा जाता है। इसलिए किसी सामर्थ्य या शक्तिके अहंकारमें नियमोंका तिरस्कार करके स्वच्छन्दताका पोषण न करें। बल्कि साधना मेंसतत जागृत रहें।

अग्निमें जलजाना,पहाड़से गिरकर जीवनका अन्त कर डालना,या जीवन भर निर्वस्त्र और शुष्कवृत्तिसे रहना शक्य है, परन्तु पूर्वाध्यासोंसे छूटनेका प्रयत्न करनेकेलिए शुद्ध श्रद्धा रखना और वृत्तिको जीतना वीरोंकेलिए भी दुश्शक्य है। इस प्रकार सूत्रकार वर्णन करते हैं। अनुभव भी इस वातकी शाक्षी देता है।

(४) साधको ! अपने शरीरमें माँस और रक्तको इस तरह न बढ़ाओ, कि अहंकार और काम वासनाको उत्तेजना मिले, वल्कि तपश्चर्या द्वारा देहदमन करो। जो ब्रह्मचर्य (आत्म-स्वरूपका लक्ष्य अथवा काम परित्याग) में रहकर शरीरका तपसे दमन करते हैं; वे ही वीरपुरुष मुक्तिपानेके अधिकारी होनेसे माननीय गिने जाते हैं।

विशेष—कोई वीरताका अर्थ समझे विना शरीरको पुष्ट करनेमें वीरता न मान वैठे इसलिए सूत्रकार कहते हैं, कि शरीरकी पुष्टिसे वीरता पैदा नहीं होती। वल्कि वीरता तो चैत्यन्यका गुण है। ब्रह्मचर्य, संकल्पवल और वृत्तिविजय पर वीरताका आधार है। सच्चे वीरकेलिए वृत्तिविजय ही सच्ची विजय है। इसीलिए यह अहंकार तथा काम वासनाओंको जीतनेकेलिए शरीर और मन इन दोनोंको कसता है। शरीर और इन्द्रियोंकी अतिपुष्टता कईवार वृत्तिको उद्दंड कर देती है। इसप्रकार केवल पूर्वकर्म ही नहीं वल्कि नये कर्म करके विलासमें सुख मान कर विलासको वढ़ाना यह आत्मविश्वासमें त्रुटि होनेका ही परिणाम है। जहां आत्मविश्वास न हो; वहां उसे उत्पन्न करनेकेलिए वाह्य त्याग की भी आवश्यकता है। यह कहकर यहां वाह्यतपकी आचरणीयता वताई है।।परन्तु वह तप विवेकपूर्वक और ध्येयका भान पूर्वक अनुभव होना चाहिए।

(५) जंवू ! बहुतसे साधक पहले तो नेत्रादि इंद्रियोंको (शब्दादि विषयों पर जाते हुए) रोककर साधना मार्गमें जुड़ते

हैं परन्तु (वासनापर काबू करनेका प्रयत्न चालु रखनेसे) पीछे से मोहवश होकर विषयोंकी ओर आसक्त हो जाते हैं। ऐसे बालजीव किसी भी बंधनसे या किसी भी प्रपंचसे छूट नहीं सकते। और ऐसे अज्ञानी जीव मोहरूपी अंधकारको लेकर तीर्थंकरदेवकी आज्ञा (सद्धर्म) का आराधन भी नहीं कर सकते।

विशेष—यहां यह दर्शाया है, कि जो साधक बाह्यतपश्चरणका हेतु नहीं समझ सकता उसका तपश्चरण निरर्थक है। पदार्थपर जानेवाली इंद्रियोंको रोकनेकी प्रतिज्ञा तो मात्र साधनाका प्रयोग है, कुछ साधनाकी सिद्धि नहीं है। दृढ़संकल्पकी वाड़ रचना ही प्रतिज्ञाका हेतु है। परन्तु प्रतिज्ञा प्राप्त साधक 'बहुत कुछ कर डालता है' इसके गर्वमें आकर असावधान रहे तो उसकी स्थिति चिन्ताजनक हो जाती है। तीर्थंकरकी आज्ञापालन की महत्ता इसे आभारी है।

तीर्थंकरकी आज्ञा अर्थात् शासनके दृढ़ नियम पालनेकेलिये साधककी महामूल्यवान प्रतिज्ञा है। वृत्तिकी आधीनतामें परवश रहनेवाले साधकका प्रतिज्ञाका स्मरण ही नहीं रहता। और कदाचित रहे, तो भी उसवृत्तिके आवेशमें उसे ठोकर मार देता है। वृत्तिका आवेश ठंडा होनेपर शायद उसे अपनी भूलका कुछ भान हो, परन्तु इस समय वह यह मानता है कि आगे फिर ऐसा न होने दूंगा। परन्तु वह मात्र उसका वाणीविलासरूप ही है। कारण वृत्तिपर काबू न पाना और पतनके निमित्तोंसे बचे रहना इसतरह साधककी विजय नहीं होती। और यदि अपवादरूपसे घड़ी भरकेलिए हो भी जाय तो भी परिणाममें उसका पतन ही है। इसमें जरा भी संदेह नहीं।

(६) प्यारे जंबू ! जिसने पूर्वभवमें धर्मसाधना नहीं की, और भविष्यमें धर्मसाधना करनेकी योग्यता भी प्राप्त न की,

वह वर्तमान कालमें धर्मसाधना करनेके योग्य किस तरह हो सकता है ?

विशेष--अत्यन्त प्रयत्न करते हुए भी कई वार साधककी आन्तरिक मनोदशा ऐसी विचित्र होती है, कि वह वृत्ति विजयमें वारम्बार निष्फलता का अनुभव करता हैं। उसका कारण उसके पूर्वकर्म भी हैं। सूत्रकार इस सूत्रमें ऐसा कहते हैं। क्रिया मात्रका फल ही यह सिद्धांत निर्णीत करता है। तव क्रियाके फलकेलिए पुनर्भव होना सहजरीतिसे समझा जाता है। इसी रीतिसे संस्कारों पर ही धर्मपालनका आधार है। अतः संस्कारोंकी शुद्धि हो सके ऐसी क्रिया करते हुए वृत्तिपर कावू पाना शक्य है।

सुन्दर साधन और संयोग मिलने पर जिसने वृत्तिको कावूमें नहीं किया, वह साधक साधनामें वैठकर भी सफल नहीं हो सकता। युग युगके सतत प्रयत्नके वाद ही जड़ वृत्तिका प्रतिपल होनेवाले पराभवको जीतने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। साधनाका मार्ग जितना वाहरसे सुन्दर, सरल और सहज साध्य लगता है, उतना ही वह ऊंचाईमें जाकर कठिन और उलझनभरा अनुभूत होता है। फिर भी उस मार्गमें गए विना इष्टवस्तुकी प्राप्ति नहीं। अतः देर सवेरमें उस मार्ग पर चले विना छुटकारा नहीं होता है।

(७) प्रिय जंवू ! इस ओर दृष्टि डालः—पापवृत्ति द्वारा इस जीवात्माको वध, वंधन आदि भयंकर दुःख और असह्य वेदना भोगनी पड़ती हैं, यह समझकर जो परमार्थी और ज्ञानी पुरुष ऐसी वृत्तिसे दूर रहनेकेलिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं, उनका व्यवहार कितना सच्चा, सुन्दर और प्रशंसनीय है।

विशेष—चरित्रशील पुरुषोंका वातावरण ही उनकी अन्तरवृत्तिकी पवित्रताकी साक्षी देता है; हृदय पवित्र हुआ कि वर्तमानमें पवित्रता ही पवित्रता आयगी यह कहकर सूत्रकार दो वातें वताते हैं। पहले कईवार पूर्वकर्म मानकर वहुतसे साधक नवीन पुरुषार्थसे दूर रहते हैं,उन्हें तत्वदर्शी

का यह दृष्टांत देकर प्रेरणा देते हैं। दूसरे जिनका वर्ताव सुन्दर और सच्चा होता है, वे ही तत्वको समझते हैं।

(८) अतः साधको ! तुम भी बाहरके प्रतिबंधोंको काटकर पापकर्मोंसे दूर होकर मोक्ष(कर्मबन्धनसे मुक्त होने)की ओर लक्ष्य रखकर साधनामें आगे बढ़ो।

विशेष-बाहरके प्रतिबंध काटनेका अर्थ है परिग्रह तथा विषयोंसे अलग रहना। वृत्तिविजयकी बातें करनेसे शायद कोई बाह्यत्यागकी आवश्यकता न भूल बैठे। इसलिए अनेकांती महात्मा बाह्यत्यागकी महत्ता बताते हैं।

(९) किये हुए कर्मोंका फल अवश्य ही मिलता है। यह जानकर तत्वज्ञ साधक कर्मबंधनके हेतुओंसे सदैव दूर रहे।

विशेष—कर्मका यह सिद्धान्त है कि क्रियाके कर्ताको ही क्रियाका फल भोगना पड़ता है। इस नियममें किसीकेलिए कोई अपवाद नहीं होता। जो जैसा करता है वह वैसा फल पाता है। इस सिद्धांतकी ओर सदा लक्ष्य रखकर साधक यदि क्रियामात्रमें विवेकबुद्धि रखता है तो तीव्रबंधन पड़नेवाले कर्मकरनेसे उसका अन्तःकरण उसे बचा लेता है।

(१०) जो साधक सचमुच वीरभावसे सत्प्रवृत्तिमें लगने वाला, ज्ञानादि गुणोंमें रमण करनेवाला, सदैव उद्यमशील, कल्याणकी ओर ध्यान देनेवाला, पापसे परिनिवृत्त और लोक को यथार्थ सत्यसे देखनेवाला था वह पूर्व,पश्चिम,दक्षिण, उत्तर आदि सब दिशाओंमें रहकर सत्यसे ही चिपटा रहा था।

विशेष—इससूत्रमें सत्यकी कठोरता और सत्यके पीछे लगे रहनेकी अडिगता बताई है। सत्य सर्वव्यापक है, सत्यकी साधना अमुक ही स्थलमें होती है ऐसा कुछ बंधन नहीं है और जो सत्यको ठीक तरह समझते या पहचानते हैं, वे चाहे जहां और चाहे जैसे संयोगमें भी सत्यका पालन कर सकते हैं। सत्यके आग्रहकेलिए वे सब कुछ होम देते हैं। सत्यके

सिद्धान्तके पीछे इन्होंने अपने जीवनके जीवन विता दिए हैं। परन्तु सत्य की साधनामें जरा भी ढीले नहीं पड़े। सत्यवान साधकको उसकी वृत्ति सत्याग्रहके वदले कदाग्रहमें न घसीट ले जाय इसकेलिए सत्यवानके सद्‌गुणोंका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं, कि सत्यार्थीको सदा सत्यवान वीर, अप्रमत्त, सत्पुरुषार्थी, विवेकी, आत्मार्थी, और पापभीरु होना चाहिए।

(११) उपर्युक्त गुणोंवाले सत्पुरुषोंका अभिप्राय मैं सवको बताता हूं कि "तत्वदर्शी पुरुषको उपाधियां नहीं रहतीं।

विशेष—सूत्रकार सव साधकोंको अनुभवपूर्ण प्रतीति देते हैं, कि तत्व जाननेके वाद उपाधियां नहीं रहतीं। इसलिए निश्चितभावसे सव को विकासमार्गमें लगना चाहिए।

उपसंहार—तपश्चर्यामें भी विवेककी आवश्यकता है। क्रम और विवेकको संभालकर रखनेसे प्रत्येक क्रियामें सफलता मिलती है। जीवनके दानकी अपेक्षा जिज्ञासा मंहगी है। तपश्चर्यासे देहको कृश-दुर्वल करना आसान है, परन्तु मर्कट जैसी चंचल वृत्तिको कृश करना अतिकठिन है।

देह और इन्द्रियोंका दमन वृत्तिके आवेशको दवाता है' विषयोंके वेगको रोकता है, परन्तु विषयोंकी ओर वृत्तिका झुकाव जहां तक रहता है वहां तक तपश्चर्याकी सर्वांगसिद्धि नहीं मानी जाती।

पूर्वकर्मोंको जलानेमें तपश्चर्याकी अग्नि सफल होती है, तो भी वर्तमानकर्मोंकी शुद्धि पर सतत लक्ष्य रखना उचित है।

सत्यनिष्ठा ही वीरताकी कसोटी है। सत्यका मार्ग ही एक और आनन्द दायक है।

इसप्रकार कहता हूँ

सम्यक्त्व नामक चौथा अध्ययन संपूर्ण।

लोकसार

(५)

लोकका सार धर्म है, धर्मका सार ज्ञान है, ज्ञानका सार संयम है, संयमका सार निर्वाण है, और निर्वाणका सार आनन्द है।

पहला उद्देशक

चरित्र प्रतिपादन

वस्तु स्वभाव ही धर्म है, अर्थात् लोकमें जो कुछ पाने जैसा है, वह मात्र वस्तुस्वभाव ही तो है । वस्तुस्वभावका चित्तवृत्ति पर संस्काररूपसे स्थापित होना ज्ञान है । ज्ञान होनेपर सत्यकी जिज्ञासा सूखे घासमें आगकी तरह जाग उठती है और सत्यकी जिज्ञासाके पीछे सहज रीतिसे जितने अंशमें परभाव (विभाव) को त्यागकर स्वभावकी ओर झुकनेकी क्रिया होती है, उसका नाम सम्यक्चरित्र है । चरित्र होनें पर त्याग, तपश्चरण और ऐसे ही अनेक प्रयोगों द्वारा वृत्तिपर संपूर्ण विजय होना, यानी चित्तसंस्कारोंका सर्वथा क्षय होना ही निर्वाण दशा है । इसी रीतिसे आनन्द, सुख या शान्तिके ध्येय पर पहुँचनेकेलिए सद्धर्म की आराधना करना अभीष्ट है । परंतु धर्म किसे कहा जाय ? यही एक महाप्रश्न है । जिसके सेवनसे विषयोंसे पैदा होनेवाले सुखकी अभिलाषा मन्द पड़कर सच्चे सुखके शोधकी ओर मन, इन्द्रिय और सरीरका झुकाव हो वही धर्म है । और ऐसा धर्ममय जींवन ही सच्चा चरित्रवान जीवन है ।

गुरुदेव बोले

(१) जंबू ! जो कोई इस जगतमें सप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन जीवोंकी हिंसा करते हैं, वे फिर उन ही जीवोंकी

गतियोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। ऐसे अनत्वदर्शी जीवोंको विषय-जन्य सुखोंसे छुड़ाना अत्यन्त कठिन है। ऐसे जीव कर्मबन्धनको लेकर जन्ममरणकी परम्परासे नहीं छूट सकते। और मोक्षमार्गसे अथवा सत्यसुखसे भी अलग हो जाते हैं। और कई बार ऐसा भी बनता है, कि विषयसुखको वे भोग तो नहीं सकते, परन्तु चित्तका वेग विषयोंकी ओर होनेसे वे विषयोंसे दूर भी नहीं रह सकते।

विशेष—दूसरे जीव पर यदि कुछ हिंसाका प्रयोग होता है उसका फल अपने ऊपर भी उसी रूपमें परिणमता है—फिर चाहे वह सप्रयोजन हो या अप्रयोजन हो, इससूत्रका पूर्वभाग यह कहता है। इसका भावार्थ थोड़ेमें यह है कि आदमी अपनेको मारकर फिर ही और को मार सकता है। यदि कोई दूसरेको मारनेको तैयार हुआ दीख पड़े तो समझलो कि पहले वह अपनेको ही मार चुका है। खुद मर कर औरोंको मार सकता है। यह नैसर्गिक नियम है। आत्माभिमुखतासे साधक जितना दूर होता है वह उतना ही औरोंके प्रति मैत्री भावसे दूर रहता है, और वहां तक की उसकी सब क्रियाएँ लगभग स्व और परकेलिए घातक ही साबित होती हैं। ऐसी क्रियाएँ ज्यों ज्यों उग्र होंगी, त्यों त्यों आत्मव्यापकता क्षीण हो जायगी और आत्मा अधिकाधिक विकृत होता चला जायगा ऐसा विकृत चैतन्य उलटा विकृत वातावरणकी ओर ही खिचता है। और इस चैतन्यको सुखकी चाह होनेसे वह बाह्य विषयोंमें सुखपानेकेलिए मथता है। फिर विषयोंके साथके आक्रमण अधिक से अधिक होनेसे आत्मभानसे अधिकसे अधिक दूर होता चला जाता है। ऐसे जीवोंको जहां तक तत्वभान-सम्यक्त्व या सत्यपिपासा नहीं जागती वहां तक वे विषयसुख भोग भी नहीं सकते। एवं विषयोंसे अलग भी नहीं रह सकते। वह ऐसी स्थितिमें होता है। वस्तुस्वरूपका सच्चा भान जिनके हृदयपटलके संस्कारोंपर स्थापित न हुआ हो, उनको

बलात् हुआ या किसीका कराया हुआ विषयोंका त्याग त्यागरूपमें नहीं फलता। बल्कि कई बार उलटी विकृति होजाती है। इसलिए ऐसे जीवोंको पहले विषयोंका वास्तविक रूप बताकर उनकी वृत्तिका झुकाव उसके ऊपरसे हटानेका प्रयत्न करना चाहिए। चरित्रगठन इसीतरह होता है। चरित्र क्रियासे नहीं आता, बल्कि वह तो वास्तविकतासे आता है। इस पूरे सूत्रका सार थोड़े शब्दोंमें यह निकलता है, कि अपने ऊपरका अविश्वास ही अनेक दोषोंका मूल और अपने ऊपरका विश्वास ही सारे सद्गुणोंके विकासका मूल है। पर यह विश्वास बिना शक्तिके नहीं होता। इसीलिए निर्बलका त्याग कुछ त्याग नहीं होता, बल्कि वह त्यागका स्वांग ही होता है। और त्यागहीन स्वांग तो सब का सब पतन करता है। सबलका त्याग सहज त्याग होता है। त्याग और त्यागके स्वांगका रहस्य समझने योग्य है।

(२) तत्वदर्शी स्पष्ट देख सकता है, कि जैसे कुशाकी नोकपर रहे हुए जलबिंदुको पानीके दूसरे बिंदु पड़नेसे अथवा हवासे कंपित होनेसे शीघ्र नीचे पड़ना आसान है, इसीप्रकार अज्ञानी जीवोंका आयुष्य अस्थिर है।

विशेष—पहले सूत्रमें वस्तुका वास्तविक अज्ञान ही पतनका मूल-कारण बताया है। अब इस सूत्रमें आध्यात्मिक पतनसे शरीरका भी पतन होना समझाया है। सूक्ष्मशरीरके साथ स्थूलशरीरका संबंध तो है ही। सूक्ष्मशरीर ही स्थूलशरीरका सृजन करता है। स्थूलशरीर एक दर्पण है, जो भाव सूक्ष्मशरीरमें होते हैं उनका प्रतिबिंब स्थूलशरीररूपी दर्पणमें अवश्य पड़ता है। आकृतिके होनेवाले परिवर्तन उसके प्रतीतिरूप हैं। विषयोंकी ओर ढलती हुई वृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला चित्तका परिताप देह पर भयंकर(निरर्थक)प्रभाव पैदा करे इसमें अचरज ही क्या है? इसीरीतिसे वासना द्वारा विकृत हुआ जीवोंका आयुष्य प्रतिक्षण भयग्रस्त रहता है। जितना अज्ञान होता है उतना ही मृत्युका भय विशेष होता है।

(३) इसपर भी अज्ञानी जन क्रूरकर्म करते समय क्षोभ ही नहीं पाता परन्तु जब उसका दुःखद परिणाम भोगना पड़ता है, तब वह मूढ़ हो जाया करता है, और खूब खेद करता है, बल्कि मोहांधकारके कारण उसे सन्मार्ग नहीं सूझता। और फिर मोहके प्रावल्यसे वह गर्भ और मरणादि दुःखके कुचक्रमें वारंवार फिरा करता है।

विशेष—अज्ञान अनिष्टकारी अथवा, प्रत्येक भूलका मूल है, यह ऊपरके दोनों सूत्रोंमें समझाया गया है परन्तु भूलोंका स्वरूप जीवनके साथ किसरूपमें तानेबानेकी तरह बुना होता है इसे यहां समझाते हैं।

बहुतवार ऐसा होता है, कि मनुष्य दूसरे की या अपनी भूल देखकर स्वयं भूलका स्वरूप समझ गया है ऐसी भ्रांतिमें पड़ जाता है। इसे भ्रांति इसीलिए कही जाती है; कि अपने ऊपर ऐसा प्रसंग आता है, तो वह स्वयं भी ऐसी ही और कई वार उससे भी गंभीर भूलें कर डालता है। तो भी भूलोंके प्रति वह इतना बे-पर्वाह हो जाता है, कि उसे क्षोभ तक नहीं होता। भूल करडालना इतना भयंकर नहीं है, जितना कि उसमें लापर्वाही दिखाना खतरनाक है। इसका कारण यह है, कि भूलके स्वरूपको वह समझा ही नहीं है। अज्ञान इसीका नाम है। अज्ञानी भूल करते समय भूलको नहीं देखता। इतना ही नहीं, बल्कि भूलका परिणाम भोगने समय भी उसे भूलका मूल नहीं मिलता। और त्यों त्यों वह अधिक व्याकुल होता है।

साधक भूलका स्वरूप समझगया है, यह उसी समय समझा जाता है, जब कि वह भूल न करे। ऐसी उसके जीवनकी रचना हो जाय। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि ऐसे साधकके पूर्वाध्यास भूल कर डालें, परन्तु उसका परिणाम जो कुछ आनेवाला है, उसके बदले उसे शोक संताप नहीं होता। क्रियाके इष्ट या अनिष्ट फलसे उसे सुख, संताप या मानसिक गिरावट नहीं होती। यह बात अनुभवके बाद ही समझी

जा सकती है। भूलके स्वरूपका अज्ञान सर्वत्र दृष्टिगोचर होता हो, ऐसी स्थिति जहां तक हो, वहां तक भूलको नष्ट करदेगा यह मनुष्य चाहे जितने उपायोंकी योजना बनाए या प्रयत्न करे वे सब निष्फल ही जायेंगे। इतना ही नहीं बल्कि भूलोंकी परंपराको बढ़ानेवाला हो जायगा। "भूलें ही भूलका मूल हैं" इस सूत्रका रहस्य चिंतन करने योग्य है पहले सूत्रमें विषयकी ओर ढलती वृत्तिको हिंसाका कारण बताकर उसके द्वारा आत्मिक मृत्यु किसप्रकार होती है और उसका कर्म और गतिओंके साथ किस-रीतिका संबंध रहता है यही बताया है। दूसरे सूत्रमें कुशाकी नोकपर रहे हुए जलबिंदुकी उपमा देकर ऐसे जीवोंके देहकी भी क्षणभंगुरता वर्णन करके तीसरे सूत्रमें ऐसे अज्ञानी जन सन्मार्ग पर क्यों नहीं आ जाते। वे भूल जाननेका प्रयत्न करते हुए भूलसे क्यों नहीं छूटकारा पा सकते। इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि उनमें सच्ची जिज्ञासा जागृत नहीं होती। अबके आगेके सूत्रोंमें सच्ची जिज्ञासाका स्वरूप क्या है, और उसकी जिज्ञासाके बाद निर्णय होनेपर उसे व्यवहारमें कैसे लाया जाय, उसके चित्त पर संस्कारों का कैसा असर होता है, अबसे आगे उसीका मार्गदर्शन कराते हैं।

(४) जो संशयको जानता है वह संसारको भी जानता है, और जिसने संशयको नहीं जाना वह संसारको भी नहीं जान सका है।

विशेष—स्वयं जिस मार्ग पर चलता है वहां भूलका भान होने पर तत्वकी जिज्ञासा जागती है और जिज्ञासाके बाद ज्ञान होने तक बीचकी जो स्थिति होती है उसे संशयके रूपमें पहचाना जाता है। ज्ञान भी उसी समय होता है, जब अभिमान कम होनेसे अपनेको यह भान होता है कि उसने स्वयं जो कुछ माना है उसके सिवाय उससे बाहर और कुछ जानने जैसा है अथवा स्वयंने जो कुछ माना है वह असत्य या सत्याभासी है। तथा सत्य जाननेसे पहले स्वयं शांति या

समाधान पा सका हैं या नहीं। अतः इस सत्यका जानना जरूरी है। और ऐसे कारणसे अपनी मूल मान्यतामें जो संशय होता है, उसका यहां उल्लेख है। संशयका द्दष्टा होना ही संशयको जानना है।

संशयका द्दष्टा होने से ही आदमी संसारका द्दष्टा बनता है। अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही आदमी को संसार का ज्ञान होता है। संसार आंतरिक वासनामय संस्कार है। संशय बुद्धिका विषय है। संशयके बाद ही बुद्धि निर्णय कर सकती है। और उस निर्णयके बिना तो प्रगति हो ही नहीं सकती। अतः संशय विकासका अंग गिना जाता है। यह बाधक वस्तु भी नहीं है बल्कि स्वाभाविक और उपयोगी वस्तु ही है। इन्द्रभूति आदि गणधर संशयके बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचे थे। फिर भी किसी स्थलपर यह स्पष्ट उल्लेख है कि "संशयात्मा विनश्यति" इसका क्या किया जाय ? इस कथन का तात्पर्य यह है, कि संशय होना केवल बुद्धिकी ही वस्तु है। और उसका क्षेत्र बुद्धि तक ही होना चाहिए। परन्तु इसे आत्माको छूना न चाहिए। यदि संशय आत्मा को छुए तो केवल बुद्धि का ही साम्राज्य रहे। हृदय शून्य बनता जाय और हृदयशक्ति क्षीण हो तो बुद्धि सच्चा निर्णय ही न कर सके। और जहां सत्य निर्णय ही न हो, वहां प्रवृत्ति या निवृत्ति आदिका निश्चय कैसे हो ? और जहां प्रवृत्ति या निवृत्ति का निश्चय न हो वहां शांति या समाधानताका न होना स्वाभाविक है।

सारांश यह है कि जिस संशयके पीछे निश्चय होता है वह संशय बुरा नहीं है। परन्तु जिस संशयके पीछे निश्चय नहीं होता वह सचमुच त्याज्य है। और वह संशय न होकर विकल्प मात्र है। इस विश्वके कार्यकारणकी परंपरा के विषयमें जिज्ञासाका होना बुरा नहीं है, परन्तु बहुतसी वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं और बहुतसी परोक्ष भी होती हैं। अतः जहां बुद्धि न पहुँचती हो, वहां आसपासके संयोगोंसे अनुमान करके भी बहुधा निश्चय कर लेना होता है। अर्थात् संशयका निर्णय बुद्धि और

हृदय दोनोंके समन्वयमें होना घटित है। साधकके विकासकी सफलताका आधार इसी पर निर्भर है।

यहां हृदय अर्थात् अन्तःकरण को जिसके ऊपर आत्माकी विशेप किरणें हैं उसे भावमनके रूपमें भी पहचाना जा सकता है। वुद्धि अर्थात् वाहर का द्रव्यमन जिसपर भौतिक असर विशेप होता है वह वुद्धि ज्ञानमें सहाय कर सकती है, परन्तु ज्ञान तो अन्तःकरणकी वस्तु है। वुद्धि ज्ञानका साधन और अन्तःकरण ज्ञानका स्थान है।

(५) जो निपुण साधक संसारके स्वरूपका जानकार है, वह कभो संसारके चक्रमें नहीं फंसता।

विशेष—(टीकाकार सागारिय शब्दमें अब्रह्मचर्य अर्थ लेते हैं। परन्तु सागारिय शब्दका अर्थ यहां संसार संबंध गार्हस्थ्य अधिक सुघटित लगता है) जो संशयके वाद हृदयपूर्वकका निर्णय होता है, विवेक सजग होता है और वन्धनसे मुक्त होनेकी तीव्र अभिलापा भी होती है, ऐसा संशय करनेवाला साधक वंधनमें नहीं फंसता, एवं अन्तरसे वांछा तक नहीं करता, तव यह उसकेलिए स्वाभाविक है।

(६) आत्मार्थी जंवू ! वासनाका सूक्ष्म प्रभाव जीवोंपर दृढ़रूपसे होता है, इससे कदाचित वासनामय विकल्प आव, किंवा अनजान पनमें वन्धनका कार्य हो जाय, तो उसभूलको उसी समय सुधारले परन्तु उसे छुपानेका प्रयत्न न करे। कारण ऐसा करनेसे उसे दुगुना पाप लगता है।

विशेष—इस सूत्रमें भूल करनेवालेकी अपेक्षा भूलको छुपानेवाला अधिक दूषित माना गया है। अनुभव भी यही कहता है। एक भूलको छुपानेके लिए सैंकड़ों भूलोंके चक्करमें पड़ना पड़ता है। जागृत साधक अपनी प्रत्येक क्रिया खूव गंभीरतासे विचारता है। खूव जांचकर फिर आचरणमें लाता है। फिर भी यदि उससे भूल हो जाय, तो उस भूलका

परिणाम आनंदपूर्वक भोग लेता है। चिकित्साशास्त्री कहते हैं, कि रोगको उत्पन्न होते ही न दवाया जाय, तो वह उत्तरोत्तर वढ़ता है तव देहको ही कष्ट सहन करना पड़ता है। उससे कई गुना कष्ट छोटी भूलको निभानेसे सहना पड़ता है। इसलिए साधक एक भूलको भी अपने भीतर न आने दे।

(७) इसलिए वासनाको रोकनेकेलिए साधक कामभोगोंके प्रलोभनोंको पाकर भी उनके परिणामको खूव विचारकर उनके परिचय (सहवास) से दूर रहे, और चित्तको भी उनसे अलग रक्खे [वुरे संकल्पोंको उत्पन्न तक न होने दे]

विशेष—इससूत्रमें वासनाको रोकनेकेलिए वाह्य पदार्थके त्याग और पदार्थ पर होनेवाले चित्ताकर्पणको रोकनेकी वात करके सूत्रकार यह कहते हैं, कि कोई भी सावक पदार्थको भोगते हुए 'मैं अनासक्त रह सकता हूँ, ऐसे अभिमानसे, या प्रलोभनमें डालनेवाले पदार्थोंके साथ रहनेसे अपने विकासकी कसोटी करूं ऐसा मानकर, ऐसे संयोगमें स्वयं न पड़े, यह वात खूव विचारने योग्य है। पतन दो तरहका होता है; एक तो स्वयंके पड़ने से और दूसरे लापर्वाही से।

लापर्वाहीसे यदि कोई ऊपरसे पड़े तो उसमें अङ्गोंको अधिक जोखम है। यदि स्वयं पड़ता हो तो वहां सावधानी होनेसे कम जोखम है। इसी रीतिसे साधकके संवंधमें भी जानना चाहिए। जो साधक जागृत होते हुए पूर्वसंस्कारोंसे पतनकी ओर खिंच जाता है उसे उस दुःखद परिणामका भान होनेसे इतना दुःख नहीं होता, जितना कि पदार्थको खींचकर भोगने से होता है। पहलेमें भूलका भान है, तो दूसरेमें भूलको सत्य माननेका अज्ञान है। पहलेमें नम्रता है; तव दूसरेमें मिथ्याभिमान है। पहलेका पतन भी विकासकेलिए है। तो दूसरेकी प्रगति भी दुगने पतनकेलिए है।

(८) देखो:—वहुतसे जीव वेचारे विषयोंमें अत्यंत आसक्त होकर अधमगतियोंमें वहे जाते हैं। और इस संसारमें यदि कोई

आरंभसे जीवित रहनेवाले हैं वे सब वारंवार मोहजालमें फंस जाते हैं।

विशेष—विषयासक्तिका बुरा परिणाम कितनी हद तक जाता है इसे इस बातको सूत्रमें समझाया गया है। अन्य स्थलमें कामसे क्रोध और इसी तरह आत्मघात और शरीर नाशसे लगाकर साधन भ्रष्टता तकका क्रम वर्णित है वह इस सूत्रकी पुष्टि करता है ऐसे ही आसक्तिमें से आरंभ, पापक्रियासे पापपरिणाम और पापपरिणाम भोगनेके लिए जन्म मरण, इस प्रकार सारा क्रम चलता ही रहता है इस जालमें छूटने का उपाय इस सारे उद्देशकोंमें बताया गया है। पहले भूलके स्वरूपकी पड़ताल करना, भूल कैसे होती है, उसके मूलको जानना ऐसा करनेसे भूल होते समय भी भूलका ख्याल रहेगा। फिर भी यदि पूर्व अभ्यासोंसे भूल हो जाय, तो उस भूलके परिणामको प्रेम पूर्वक सहलेना यह चरित्रगठनका अतिसरल और सुन्दर मार्ग है।

(६) फिर वहुतसे साधु वेशधारण करनेवाले होते हुए भी आसक्तिके वशसे पापकर्मोंको निवृत्ति करके परिणाममें दुःखी होते हैं।

विशेष—पहले सामान्यसाधककी वात की गई थी, अब त्यागी साधक की बात करते हैं। चरित्रगठनके इस रहस्यको न समझनेवाले जो त्यागी होते हैं, वे बाह्य आरंभको रोकते हैं तो भी आरंभजीवी गिने जाते हैं। ऐसा उपरोक्तसूत्रका भाव है।

जो त्यागी आत्मभावको छोड़कर परभावोंमें शरण मानते हैं, वे पाप-कर्मोंमें अधिकाधिक फंसते जाते हैं। यह कहकर सूत्रकार यह बताना चाहते हैं, कि चरित्रगठन आंतरिक बलसे ही हो सकता है। आंतरिक बलके साधनरूप बाहरकी सब क्रियाओंका उपयोग चाहे होता हो परन्तु बाहरकी क्रियाके महत्वकी चावी तो आंतरिक बल पर ही अवलंबित है। जितने अंशमें आंतरिक बलको खोया है, उतने ही अंशमें पामरता आयगी

ही। अर्थात् आंतरिक वलको विकसानेकेलिए संयम, त्याग आदि साधन वताये हैं। क्यों कि आंतरिक वलके विकाससे चरित्रसे ही आत्मशक्ति खिलती है।

(१०) जंवू! इसमें से वहुतसे त्यागी तो भूल जानते हुए उसे सुधारनेके वदले दूसरा ही मार्ग पसन्द करते हैं। वे स्वच्छन्दाचारी होकर एकचर्या करते हैं। उनकी एकचर्या स्वच्छन्दतासे पैदा होती है। उसके गुण ही उसकी प्रतीति करा देते हैं। वे वहुक्रोधी, अतिदंभी, अतिठग, अतिदुष्टवासनावाले, हिंसक और कुकर्मी होते हुए "मैं तो धर्मकेलिए विशेष उद्यमवान् हो गया हूं" इस तरहको वकवास करते होते हैं। परन्तु असल में "शायद कोई मुझे जान न जाय" ऐसे भयसे वे अकेले होकर फिरते हैं, और अज्ञान तथा प्रमाद दोनों दोषोंसे निरंतर मूढ वनकर वास्तविक धर्मको नहीं समझ सकते।

विशेष—वाह्य शरणको माननेवाला, वाह्य विधिनिषेधोंमें खूव मानने वाला, साधक कई वार उसमें से कड़वा अनुभव पाकर चौंक उठता है। इसीसे सव कुछ छोड़कर अपनी ओर मुड़नेका भाव उसमें जागृत होता है। पर ऐसे समय एक भुलावेको छोड़कर दूसरे भारी भुलावेमें पड़नेका भय इस सूत्रमें सूत्रकार प्रगट करते हैं।

एकचर्या करनेवाले त्यागीके मानसिक दुर्गुणोंके भंडारका जो वर्णन किया है वह मनन करने योग्य है। कई वार त्यागी साधकको वाह्य निमित्तोंके द्वारा कडवा अनुभव होता है, तव वह सारी दुनियाको वुरा मानकर उससे अलग होना चाहता है, और वह यह मानता है :–कि यदि मैं अकेला रहूंगा तो यह सव माथापच्ची मिट जायगी। ऐसे साधकका मूल आधार ही कच्चा होता है, क्योंकि यह उपादान और निमित्तोंके संवंधको समझा ही नहीं। निमित्तोंका जोर उपादानको लेकर है। संसार

अन्तरमें है, वाहर तो केवल उसका प्रतिबिंब है, जिसका उसे ज्ञान भी नहीं है। फिर भी उसकी भूल उसे यह मानकर वाध्य करती है, कि मैं अब थोड़े ही समयमें अद्वितीय महात्मा वन जाऊंगा। अब तक किसीने जो कुछ नहीं किया है, उसे मैं करूंगा ऐसा मानने लगता है। इसका परिणाम केवल अधःपतन होता है। और अधिक दुःखकी बात तो यह है, कि वह अकेला हो जानेके कारण उसकी भूलको सुधारनेवाला मिलना भी दुर्लभ हो जाता है। सारांश यह है कि एकलीनता बुरी नहीं, परन्तु ऐसा एकांत अकेला या वे-मेल हो जानेसे प्राप्त नहीं होता, परन्तु वृत्तिकी विजयसे यह प्राप्त होता है। जगत विगड़ जानेकी जो शिकायत है, उसमें प्रायः आंतरिक दुर्वलता ही कारणभूत है।

(११) ओ मनुष्यो! जो स्वयं पापके अनुष्ठानसे अलग नहीं और स्वयं अज्ञानी होते हुए मोक्ष जैसी वस्तुकी मनमानी डींग हांका करते हैं, ऐसे दुःखी जीव वेचारे कर्ममें ही कुशल होते हैं न कि धर्ममें। ऐसे जीव संसारके चक्रमें घूमते रहनेके अधिकारी हैं।

विशेष—मोक्षशास्त्र पढ़ने या मोक्षकी वातें करनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। जो मोक्षके अभिलाषी होते हुए भी स्वच्छन्द, प्रमाद, कषाय और विषयविलासके गढ़ेमें पड़े सड़ा करते हैं, वे उभयभ्रष्ट न संसारके आराधक हैं और न मोक्षकी ही आराधना कर सकते हैं। वे तो मात्र विना आधार त्रिशंकुकी तरह लटके हुए हैं।

उपसंहार—चरित्रकी रचना आंतरिक वलसे ही है। आन्तरिक वलको मार्जित करनेकेलिए संयम उपयोगी साधन है। विषय सुखकी लिप्सामेंसे जो हिंसा उत्पन्न होती है, वह आध्यात्मिक मृत्यु और शारीरिक ह्रासका कारण है। गृहस्थ जीवनमें भी संयम सुसाध्य और सुशक्य है। संयममें सुख सहज

है, परन्तु भूलका भान होनेपर संयम सरल और स्वाभाविक हो जाता है।

भूलका भान भूलके कड़वे परिणामको भोगनेसे हो सकता है, यह मान्यता बेठीक है। क्योंकि क्रिया मात्र परिणाम देने वाली है। अर्थात् क्रियाका परिणाम भोगना यह तो एक नैसर्गिक नियम है, परन्तु ज्यों ज्यों जीव कडवा परिणाम भोगता है, त्यों त्यों उसकी वृत्तिमें अधिक वक्रता आ जाती है, और भूलका भान होनेकी लगन दूर दूर भागती है।

भूलका भान जिज्ञासाके बाद जागता है। निर्णय होना भी जिज्ञासाके पीछे ही संभव है। सच्चा निर्णय जीवको संयममार्ग में प्रवृत्त कर देता है। आरम्भ आसक्तिसे होता है। त्यागी भी आसक्त हो, तो वह आरम्भजीवी है। और गृहस्थ भी संयमी या अनासक्त हो, तो अनारंभ जीवी है।

इस प्रकार कहता हूं

लोकसार नामक अध्ययनका पहला उद्देशक समाप्त।

दूसरा उद्देशक

चरित्र विकासके उपाय

गत उद्देशकमें चरित्रगठनकी विविध समालोचना की गई थी। आन्तरिक बलका विकास होनेसे ही चरित्रका सृजन होता है तथा चरित्र वास्तविकतासे ही उत्पन्न होता है यह समझाया गया है। अब इस उद्देशकमें आन्तरिक बल प्रफुल्लित होनेका उपाय बताते हुए–

गुरुदेव बोले—

(१) इस विश्वमें जो साधक पापवृत्तिसे निवृत्ति हैं, वे साधक अपने शरीरादिका निर्वाह भी अनारंभीपन (निर्दोष रीति) से चला सकते हैं।

विशेष—आन्तरिक बल पापप्रवृत्तिसे निवृत्त हुए बिना प्रफुल्लित नहीं हो सकता, अर्थात् पहले सूत्रमें पापवृत्तिसे दूर होनेका निर्देश किया है। उपयोगकी शून्यतामें अधर्म है। इसलिए पापवृत्तिसे निवृत्त होना अर्थात् उपयोगमय जीवनसे जीवित रहना, और उपयोगमय जीवन यानी ध्येययुक्त जीवन समझना चाहिए। ऐसे साधकको जो साधन मिले हैं, तो साधनोंको उपयोगी सामग्री मिल ही जायगी। ऐसे प्रकृतिके अचल सिद्धांतके प्रति विश्वास हो सकता हैं, संयमी होकर रह सकता है जिससे साधनों पर साधननिष्ठा रखते हुए निर्दोष रह सके।

(२) साधक! तू दूषित प्रवृत्तिसे दूर रहकर पूर्वगत दोषोंको साधन द्वारा दूर किया कर "अब ही यह अवसर है"

यह विचार कर पवित्र संयमकी ओर दृष्टि रख। यह शरीर, साधक जीवन और साधनाके इन अनुकूल साधनोंका समय बार बार नहीं आता। इसलिए इनका पुनः पुनः शोधन कर।

विशेष—साधक संयमी बननेके बाद भी जागृत दशाको न भूल जाय, पूर्वअभ्यास उसे बार बार अपनी ओर खींचकर न ले जायँ; इसलिए पल पल जागते रहनेकी सूचना इससूत्रमें की है। बहुत बार ऐसा होता है, कि साधक जीवनमें भी सतत संयमकी ओर मुड़नेमें घृणा पैदा करता है और यह अरुचि या प्रमाद भी मानो कुछ अनासक्तिका गुण होता है, ऐसा माननेकेलिए उसकी वृत्ति उस साधक पर आक्रमण करती है। इसका मूलकारण पूर्वाभ्यास ही है। तो भी उस साधकको ऐसे समय उसका भान नहीं होता। इसीकारण वे लोग प्रवाहमें बह जाते हैं। यह आकर्षण कितना पतन करता है, यह तो अनुभवकी बात है। परन्तु ऐसा अनुभव ही न आने पावे। सूत्रकार यही इच्छा प्रगट करते हैं, और इसीसे चोंका-कर कहते हैं कि साधक! ऐसा अवसर बार बार नहीं आता। और कहते हैं, कि यह बात यहीं किसलिए कही गई है इसका भी तू अपने जीवनमें शोधन कर। तब इसका मर्म तेरी समझमें आयगा।

(३) तीर्थंकरदेवने यह मार्ग बताया है (और यह भी समझाया है), कि सब जीवोंको अलग अलग सुखदुःख होता है। यह जानकर (आत्माभिमुख होनेकेलिए) संयमी साधकको साधनाके मार्गमें ज़रा भी प्रमाद न करना चाहिए।

विशेष—जाग्रत साधकको भी अभ्यास वशमें कर डालते हैं तब दूसरे की तो शक्ति ही क्या? यह मानकर कोई भी त्यागी साधनाके मार्गमें जाते हुए निराशाका अनुभव न करे। इसीलिए सूत्रकार इस उलझनको सुलझाते हैं, और इस तरह होनेके कारणको स्पष्ट कर देते हैं "सब जीवों को सुख दुःख अलग अलग होता है" इस वाक्यके भावार्थमें यह बात

समाई हुई है। अनुभव भी इस बातको स्वीकार करता है,कि एक आदमी-केलिए जो वस्तु सुखरूप होती है, अथवा न्यूनाधिक सुख या दुःख दे सकती है। यदि इतनी बातको गहराईमें विचारा जाय, तो पदार्थ स्वयं दुःख या सुख देनेवाला नहीं है, यदि यह अच्छी तरह समझमें आ जाय,तो वृत्तिमेंसे पाप सहजमें छूट जाय।

पूर्वाध्यास क्रिया करा डालते हैं, ऐसा हो जाय तो भी उसक्रियामें वृत्ति पापी न हो अर्थात् क्रिया विकासमें बाधक सिद्ध नहीं होती। जहां तक यह बात हृदयमें न समाई हो, वहां तक पूर्वाध्यासोंको लेकर या प्रसंगकी आधीनताको लेकर चाहे जिस निमित्तसे जो पापक्रिया होती हैं, वह कुसंस्कारको छोड़ जाती है। यह कुसंस्कार निमित्त मिलते ही फिर उस रूपमें आकर खड़ा रहता है। इसरीतिसे चक्रसा चला करता है। अर्थात् जहां तक समझनेके मूलमें रही हुई भूलें निकलकर शुद्ध समझ न आजाय, वहां तक जागृति होनेपर भी वह कार्यकारी सिद्ध नहीं होती।

(४) जैसे इस विश्वमें जीवोंके आशय अलग अलग हैं, इसीतरह उनके दुःख सुख भी अलग अलग हैं, इसलिए किसी भी हिंसा या मृषाभाषण जैसे दूषणको न छूकर, संयममार्गमें उपस्थित होकर कठिन से कठिन संकटोंको भी समभावसे सहन करे, और इस ढंगका वर्ताव करनेवाला मुनि ही उत्तम प्रकारका चरित्रशील मुनि समझा जाता है।

विशेष—बाहर जो सुखदुःख देखे जाते हैं, वे सब आशयसे ही होते हैं। यह आशयोंकी भिन्नता यानी कार्योंके परिणामोंमें तारतम्यता है। इसके ऊपर ही सारे संसारका विविध स्वरूपरूप मांडा गया है, यदि यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी प्रत्येक व्यक्ति अलग अलग आकृति और साधन सामग्रीका स्वामी है। इसका कारण भी आशयोंकी भिन्नता ही है। संसारकी यह विविधता ही कर्मके अटल नियमकी नैसर्गिक प्राकृतिक

शक्तिके अस्तित्वकी प्रतीति है। जो मुनि इतना मनन करेगा वह मुनि प्रमाद या कषायको क्षम्य नहीं कर सकता, जहां तक प्रकृतिके अमिट नियमकी सच्ची प्रतीति उसे नहीं हुई है वहां तक ही वह अपने स्वार्थके लिए पुरुषार्थका दुरुपयोग करता है, व्यर्थ व्यय करता है, किसी औरको मारता है और स्वयं मरता भी है। हिंसा और मृषाका मूल नैसर्गिकताका अविश्वास ही है।

जब तक प्रकृतिके अटल नियम पर साधक विश्वासी न बनेगा तब तक वह दूसरेका भला करनेका मनोभाव सेवन करे तब भी वह मनोभाव पूरा नहीं हो सकता। जिस जिस क्षेत्रमें वह प्रवेश करता है, उस उस क्षेत्रमें उसका अभिमान उसे सताया करता है। इस दृष्टिकोणको न समझा हो तब तक ही दान और परोपकारकी महत्ता है। संयमीका संयम जिस स्व और परका कल्याण साधता है उतना दाता या परोपकारी नहीं साधता है। इसलिए पहले दान और फिर परोपकार तथा उसके बाद संयमका उच्चस्थान कल्पित किया है।

संयममें कष्ट आवे तो साधकको दुःखरूप नहीं लगता। इसका कारण यह है, कि संयमकी श्रेणीका अवलंबन करता हुआ साधक किसी दूसरी ही भूमिकामें गया हुआ होनेसे अपूर्व उल्लास प्रगट होता है। कभी ऐसे उल्लासका पहले उसे परिचय न होनेके कारण इस स्थितिको वह शान्त दशा मानता है। परन्तु यह भी एक साधनाकी भूमिका ही है। इसका उसे यथार्थ अनुभव न होनेसे यदि किसी समय निमित्तवश उसे पूर्वाध्यास आकर सताने लगें, तो वह एक दम व्याकुल हो जाता है। पतन होनेके भयसे वह त्रास पाकर बिलबिला उठता है। परन्तु यह त्रास या तो उसके जीवनमें पतन लाता है, या उसे हताश कर देता है। ये दोनों स्थितियां कनिष्ट हैं। इसमें शक्तिका अविश्वास ही कारण भूत है। अर्थात् निर्भयता और आंतरिक शक्ति ये दोनों चरित्रगठनके मूलभूत पाये हैं। इसी दृष्टिसे अपनेको होनेवाले दुःखसुखको देखकर वह अपना समभाव न खो बैठे।

(५) जो साधक वर्तमानमें स्वयं पापमें प्रवृत्त नहीं होता फिर भी कदाचित् पूर्वकर्मके फलस्वरूप उसे विविधप्रकारकी उपाधियां आने लगें तो उस समय होनेवाले दुःखको समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। इसप्रकार वीर तीर्थकरदेवोंने कहा है।

विशेष—कर्मके बंधन त्रिकालाबाधित हैं। पुनर्भव-पुनर्जन्मोंसे उसके बीचमें पर्दा पड़ जाता है। पिछले कर्मोंके स्वरूपका इस जीवको ज्ञान नहीं है। इसीसे वे प्राकृतिक सामान्य क्रियाओंसे भी चौंक उठते हैं, निराश हो जाते हैं। यद्यपि ऐसा होना भी अस्वाभाविक नहीं है, कारण वर्तमान कालमें जो क्रिया होती है, वह शुद्ध है या अशुद्ध, विकारके पथमें प्रेरक है या पतनके, इसका भी जहां भान न हो वहां पूर्वक्रियाके फलकी प्रतीति या सहन करनेकी शक्ति किसप्रकारसे सजग हो? बल्कि ऐसे साधकको आप्तजन-अनुभवी पुरुष (सद्गुरु) के वचनके अवलंबनसे भी इतना विश्वास करलेना चाहिए, कि जो कुछ होता है वह सब हेतुपूर्वक होता है। क्रियाके कर्ताको क्रियाका फल इच्छा या अनिच्छासे पर्देके सामने या पर्देके पीछे आ मिलता है। जिसे कि भोगे बिना छुटकारा ही नहीं है, और ऐसा निश्चय करके अब आगे धैर्यधारण करना ही तो रहा।

(६) यह शरीर देर सवेर अवश्य छूटने या टूटने वाला है क्योंकि वह अध्रुव (अनियमित), अनित्य, क्षणभंगुर, घटने बढ़नेके स्वभाववाला और नाशवान है। इसलिए साधको! इस देह स्वरूपको और इस दुर्लभ अवसरको बारबार सोचो विचारो।

विशेष—यहां सूत्रकार 'समभाव किसप्रकार सुरक्षित रक्खा जाय' इससे मिलते जुलते विचार अर्पण करते हैं, कि शरीर नाशवान है, अर्थात् यह चला जायगा। ऐसे भयसे साधक विह्वल होकर भान भूल जाय,

अजागृत-प्रमत्त बन जाय, इसका साधन पूरक महत्व भूलकर साध्य मान बैठे और विलासी बन जाय, तो भी पतनको निमंत्रण देता है। परंतु सूत्रकार कहते हैं, कि इस देहके स्वरूपको और दुर्लभ अवसरको बारबार सोचो।

देहके स्वरूपका ज्ञान अर्थात् देहके पानेका मूलकारण ज्ञान है। इस ज्ञानके होते हुए सहज समझेगा, कि देहकी नश्वरता नहीं बल्कि देहका परिवर्तन है। मात्र इसके साधनमें ही अदलबदल है, इसका नहीं। जिसे देह संबंधी यह ज्ञान है, उसकी मृत्युका भय सहज टल जाता है। और वह निर्भय हो जाता है।

और इस अवसरको पहचानना अर्थात् एक पल भी निरर्थक न बीते, ऐसा मानकर अप्रमत्तताको बचाकर रक्खे। ऐसा ज्ञानी और अप्रमत्त साधक भी देहकी सारसंभाल तो करेगा ही, परंतु वह देहको मात्र साधन समझकर, आत्माकी रक्षा करते हुए, देहको संभालेगा, परंतु आत्माको बेचकर या मारकर नहीं।

(७) जो साधक उपरोक्त कथनानुसार शरीरका स्वरूप तथा अवसर विचारकर ऐसे चेतनका ज्ञान, विज्ञान, सुख, आनंद आदि गुणमें रमण करता है, वही अनासक्त त्यागी साधक अनंत संसारमें परिभ्रमण नहीं करता।

विशेष—पहले सूत्रमें देहकी नश्वरता बताई है उस देहसे मिलनेवाला सुख क्षणिक यानी नाशवान है। परन्तु इस सूत्रमें तो सूत्रकार यह कहना चाहते हैं, कि सुख या आनन्द देना देहका स्वभाव नहीं है। विषयोंकी आसक्तिके कारण देह द्वारा वृत्ति जिस सुखका अनुभव कराती है, वह सुख न होकर सुखाभास है वृत्तिके आधीन होनेवाले विकृत चैतन्यके आवेशको जहां सुख माना जाता हो, वहां केवल मूढ़ता है। यही कहा जा सकता है। इस आवेशका परिणाम भयंकर होता है। इसीसे ज्ञान, विज्ञान, सुख और आनन्द देनेका जिसका स्वभाव है, उस

आत्माकी ओर प्रवृत्त होना समझाया है। इस सच्चे मार्गकी ओर झुके विना छुटकारा नहीं।

(८) इस दुनियामें साधुवेश धारण करके भी वहुतसे साधक थोड़ा वहुत, छोटामोटा, सचित्त या अचित परिग्रह रखते हैं। वे साधु होते हुए भी परिग्रही गृहस्थोंके समान अथवा उनसे भी हीन हैं।

विशेष—जिस अनासक्तिकी भावना पूर्वसूत्रमें व्यक्त की गई है उसे अव स्पष्ट शब्दोंमें सूत्रकार कहते हैं, कि वेश पहरनेसे कुछ अनासक्ति नहीं आती। वेशका त्यागचिन्हपूरक स्थान भले ही हो, पर यह त्याग नहीं है। इतना ही नहीं वल्कि पदार्थत्याग भी त्याग नहीं है। जिसके द्वारा अनासक्ति उत्पन्न होती है, उसमें ही त्यागका वास्तविक समावेश है। जो साधक अनासक्तिके ध्येयके विना पदार्थोंका त्याग करता है, वह साधक धनका परिग्रह छोड़ देगा परन्तु पदार्थोंका ममत्व नहीं छोड़सकता। वालवच्चे और संवंधियोंको छोड़ेगा, परन्तु किसीको सेवकके रूपमें उपयोग करनेकी संज्ञा न छोड़ेगा।

(९) वहुतसे जीवोंकेलिए यह परिग्रह ही अधमगतिमें दुःखरूप महाभयका कारण वनता है। अथवा संसारकी (आहार, भय मैथुन और परिग्रह संवंधी) संज्ञावृत्ति भी वैसी ही भयजनक होती है, यह सोचकर ऐसी वृत्तिसे जिज्ञासु साधक दूर रहता है।

विशेष—परिग्रह या परिग्रह की वृत्तिको लालसा भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'संसारमें सुख हैं' ऐसी मान्यताएँ अधमगतिके मूलकारण हैं। जहां तक परिग्रहवृत्ति या ओघसंज्ञा है वहां तक वह साधक कभी निर्भय नहीं वन सकता। और सत्य, संयम, त्याग या तपका फल भी नहीं पा सकता। यानी सच्चा सुख पानेकेलिए सवसे

पहले अपरिग्रहवृत्ति और ओघसंज्ञाका त्याग करानेवाली विचारशक्ति और जागृती रखना उचित है।

(१०) इसप्रकार आसक्तिसे रहित त्यागी पुरुष सच्चा-साधक है। यह निश्चयरूपसे जानकर हे साधको! तुम दिव्य दृष्टिवाले वनो, और इस वीरके मार्गमें अभिनिष्क्रमण करो; क्योंकि अपरिग्रही और दिव्यदृष्टिवाले साधकोंको ही ब्रह्म, अर्थात् आत्मप्राप्ति हो सकती है।

विशेष—आत्मप्राप्ति ब्रह्मप्राप्ति, मुक्ति या निर्वाण जिसस्थितिको प्राप्त करना जीवमात्रका ध्येय है, वह ऊपरकथित मार्गसे ही मिल सकती है, परन्तु यह सब वाहर न होकर अन्दर ही है। यह समझाने-केलिए अगले सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं।

(११) जंबू! मैंने सुना भी है और अनुभव भी किया है, कि "कर्मसे मुक्ति पाना" यह कार्य स्वयं आत्मा द्वारा ही होता है।

विशेष—सुखको वाहर ढूंढनेवालोंको इससूत्रमें वड़ा सुन्दर निर्देश किया है। जीवन चाहे जैसी निर्दयतासे वितानेवाला और मोक्षके (MONOPOLIST)ठेकेदारोंने रिश्वतदेकर मोक्ष या स्वर्गकी चिट्ठी पा कर सन्तोप माननेवालोंको इसमें सच्चा मार्गदर्शन मिलता है, मुक्ति या स्वर्गकी चिट्ठी देना यह किसी दूसरेके सामर्थ्यकी वात नहीं है। आप्तपुरुप हो, सर्वज्ञ हो, अथवा स्वर्गगत या मुक्त पुरुप हो वह तो मात्र इतना ही कह सकता है कि यह मार्ग निष्कंटक हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। इस मार्गसे जानेमें सुख और शांति हमने अनुभव की है। फिर इसमार्गपर चलना या न चलना यह क्रिया तो साधकके अपने हाथमें है। यदि उसे उसमार्गके सहारे चलना है तो वाहर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे रोक सके। मार्गदर्शकको इससे अधिक महत्व जीवनविकासमें समझना भूल है।

(१२) इसलिए साधकको परिग्रहसे सतत मुक्त हो कर साधनाके मार्गमें जो संकट आ जाय उसे समभावसे सहन करे।

विशेष—परिग्रह और परिग्रहवृत्तिसे दूर रहते हुए बहुतसे साधक संकट उपस्थित होनेपर सत्यमार्गमें अनिच्छाका अनुभव करते हैं सूत्रकार कहते हैं, कि सकटको संकट मानकर दुःखका अनुभव करना तो वृत्तिका अज्ञान है, इसलिए प्रत्येक प्रसंगमें आत्माभिमुखदृष्टि-समभावकी शिक्षा लेनी चाहिए।

(१३) जो साधक प्रमाद सेवन करते हैं वे धर्मसे पराङ्-मुख हो गए हैं, यह जानकर विशेषज्ञ साधक अप्रमत्त होकर विचरे।

विशेष—क्रियासे धर्म माननेवाला जो साधक जीवनव्यवहारमें उपयोगशून्य दशामें वर्तता है, उसे सूत्रकार यहां सच्चे मार्गका दर्शन कराते हैं कि प्रमाद ही पाप है। उपयोग शून्य साधना भी पाप है। इससूत्रका यही भाव है। जहां उपयोग शून्यता है, वहां निवृत्तिमें आलस्य और विलासकी पोषणा की जाती है और जहां उपयोगमयी दशा प्रवर्तित है वहां क्रिया परता होनेपर भी निवृत्ति है।

(१४) इसप्रकार उत्तमरीतिसे इस तीर्थंकर भाषित क्रिया को मुनिसाधक यथार्थरीतिसे पालन करता है।

विशेष—वीरका सच्चामार्ग अपरिग्रही वृत्ति है, यह कहकर परिग्रह और उसकी ममता छोड़नेका अगले सूत्रोंमें वर्णन करके १२-१३ और १४ वें सूत्रमें क्रमपूर्वक समभाव, जागृतदशा और जिनमार्गका श्रद्धापूर्वक आराधन करना बतलाया है।

उपसंहार—साधुता और परिग्रह ये दोनों विरोधी गुण हैं। उपयोगमय जीवन ही धर्म है। क्रियामें प्रगटरूपसे चाहे पाप न दिखाई दे, तब भी जहां परिग्रहवृत्ति है, वहां आरंभ

पाप है ही। परिग्रह और आरंभसे ही संसार बढ़ता है। महापरिग्रह और महाआरंभ अधम संस्कार और अधम गतिको पैदा करनेवाले हैं।

संसारकी विविध आशाओं तृष्णाओं, और इच्छाओंसे सुख और दुःखका निर्माण होता है। संयमी साधक इतना कुछ जानकर दोनों स्थितिओंमें समभावसे जागृती रक्खे।

कर्मकी उलझन या पहेली किसीको किसी भी कालमें नहीं छोड़ती। छोड़ेगी भी नहीं। सुख या दुःख जो कुछ माना जाता है इसका कारण भी कर्मकी विचित्रता है। कर्ममुक्ति आत्मभानके बाद ही संभव होती है।

आत्मस्वरूप और देहस्वरूपकी गहरी विचारणा के बाद ममता और परिग्रहीवृत्ति भी घटती है।

सत्यमें श्रद्धा और समभावसे चरित्रबल विकसित होता है और कर्मबंधन टूटता है।

इसप्रकार कहता हूँ

लोकसार अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त।

तीसरा उद्देशक
वस्तु विवेक

पहले उद्देशकमें चरित्रगठन और चरित्रविकासके उपायोंका वर्णन किया गया है। दूसरे उद्देशकमें कहा गया है कि निष्परिग्रह का शायद कोई दुरुपयोग न कर बैठे! "मूर्छा ही परिग्रह है" इसलिए पदार्थ चाहे जितने और चाहे जैसे उपयोग करनेकी छूट है। परंतु मूर्छा न होनी चाहिए। चाहे कोई शायद यों न मानले! इस उद्देशकमें उस भ्रमको दूर करते हुए जिसकी नस-नसमें स्याद्वादका तानाबाना सहज ओतप्रोत है ऐसे गुरुदेव सबको संबोधित करते हुए बोले—

(१) जो कोई गृहस्थ या भिक्षु इस जगतमें निष्परिग्रही होता है, वह सब तीर्थंकरदेवोंकी वाणी सुनकर अथवा महा-पुरुष या ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंपर विचार करते हुए, विवेकी बन कर, सब प्रकारसे परिग्रहका त्याग करके ही निष्परिग्रही होता है।

विशेष—परिग्रह होते हुए, या रखते हुए, उसे भोगते हुए मैं तो अनासक्त रह सकता हूं या अनासक्त रहूँगा, जो ऐसा कहते हैं या मानते हैं वे पाखंड, दंभ या आत्मवंचनाका सेवन करते हैं—ऐसा कुछ भावार्थ इस सूत्रमें है। अनुभव भी यही कहता है कि परिग्रहका संपर्क रखकर निष्प-रिग्रही वृत्तिको टिकाया नहीं जा सकता। यानी निष्परिग्रही वृत्तिको टिकानेकेलिए बाह्य पदार्थोंका परिग्रह, उसपर होनेवाला मोह और आक-र्षण सबसे अनुकूल समयमें छोड़ना आवश्यक है। जैसे कोई आगको हाथ में रखकर ठंढक पानेकी इच्छा रक्खे या ठंढा होनेका जाप जपे तो भी

ठंढक न होगी और तव आगकी गर्मी सहना उसकेलिए अनिवार्य होगी। एवं जो साधक परिग्रहकी ठंढक चाहे तो उसे निष्फलता अनुभूत होगी।

कई वार ऐसा होता है कि इस परिग्रहके पीछे उसका आशय नीच, क्षुद्र या स्वार्थी न होकर उदार और परमार्थी देखा जाता है। मात्र परोपकार और परमार्थकेलिए उन पदार्थोंका संग्रह करता हो, तो भी उसके पीछे छुपी हुई परिग्रहवृत्ति फली फूली होकर आखिर उन्नति और यशके शिखर पर चढ़े हुए साधकको नीचे गिरानेमें सहायक होनेकी संभावना रखती है। इसलिए निष्परिग्रहवृत्तिके विकासकेलिए वाह्यत्यागकी भी आवश्यकता है। फिर चाहे वह गृहस्थ-साधक हो या भिक्षु साधक, प्रत्येक को अपनी योग्यता और शक्तिके अनुसार पदार्थत्याग करना उपयोगी सिद्ध होता है। यद्यपि आवश्यकता सवकेलिए अनिवार्य है, यह जाननेके वाद भी वाह्य त्यागकी भावना प्रगट करना कुछ सहज वस्तु नहीं है। क्योंकि स्वयं जो कुछ चाहता है वह वाह्य पदार्थोंमें छुपा हुआ है यह जीव का दीर्घ कालीन अभ्यास है। इसलिए यह कैसे छूटे ? इसके उपायके विषयमें सूत्रकार विवेक और विचार वताते हैं। सत्यासत्यके परखनेकी विवेकवुद्धि जाग उठे अर्थात् अनंतकालके असत्यको सत्य माननेका अभ्यास हो तो भी छूट जाता है, परंतु जहां तक यह सजग न हो, वहां तक तो मनुष्य हिताहित भी नहीं समझ सकता। तव छोड़नेकी तो वात ही क्या ? ऐसी विवेकवुद्धि सद्विचारके वाद ही आती है। यह ऊपरके सूत्रमें सूत्रकारने कहा है।

परंतु यह विचार शब्द इतना रूढ़ हो गया है, कि हिलते चलते सव कोई इसका उपयोग कर लेते हैं, परंतु विचारका स्वरूप हम जितना विशाल मानते हैं, वह उतना सरल या सुसाध्य नहीं है। जिसे कई वार विचारकेरूपमें पहचानते हैं, वह विचार नहीं होता, वल्कि केवल विकल्प होता है। जीवनमें अद्भुतता, नवीनता और दिव्यदृष्टि प्रेरित करे वही विचार है। ऊपरके मन पर आनेवाले वाकी विचार तो विकल्प मात्र हैं

फिर भी ये विकल्प पर विचारोंका आरोप छोड़ते हैं। यह तो समुद्रके ऊपरके भाग और तरंग मानने जैसी भूल है। जैसे तरंग जलका ऊर्ध्व-गमन है वैसे ही विचार भी अन्तःकरणका ऊर्ध्वकरण है। तरंग जैसे समुद्र को आल्हादित करता है, उदार बनाता है, परले किनारेको पानेकी उत्सुकता जगाता है और उसमें वेग देता है। इसीप्रकारकी शक्ति विचारमें है। सद्विचारकी एककिरण जीवनमें ज्योति जगमगा देती है। अनेककाल का अज्ञान और मोहके तिमिरको वह बखेर डालता है। जीवनकी उलझी आंटियोंको वह सुलझा देता है और प्रत्येक कार्यके परिणाम तक पहुँचनेकी दिव्यशक्ति देता है।

परन्तु ऐसा गहरा विचार अनुभवी जनोंके प्रगट द्योतन विना प्राप्त नहीं होता। इसलिए आप्तपुरुषोंके वचन या सत्संग उसमें कारणभूत बताये हैं। आप्तपुरुष यानी शुद्धआत्मा निस्पृहता और सत्यकी साक्षात् मूर्ति। निस्पृहताके विना स्वानुभव न जागेगा। दूसरे वचन अनेक वार सुनने पर भी हृदयके तार झंकृत न हों, हृदयस्पर्शी न हों, परन्तु सच्चे संतका एक वाक्य कायापलट कर सकता है।

इस दृष्टिसे सत्संगकी महत्ता है, परन्तु जहां व्यक्तिके व्यक्तित्वके वदले व्यक्तिके खोखे Skeleton की ओर ढुलक पड़नेकी क्रिया हो, वहां सत्संग फलदायक सिद्ध नहीं होगा, और इसे सत्संग नहीं कह सकते। जो व्यक्तिगत रागमें वंधे हुएको मुक्त करे, अच्छी तरह स्वतंत्र वनादे और अनंतकालका पूर्वग्रह छुड़ादे वही सत्संग है।

(२) प्रिय जंवू! तीर्थंकरदेवने समतासे (समतामें) धर्म वताया है। उन्होंने कहा है, कि साधको! जिस रीतिसे मैंने यहां कर्मक्षीण किये हैं, उसीरीतिसे दूसरे मार्गोंमें कर्म खपाना असंभव है। इसीलिए कहता हूं कि मेरा दृष्टांत लेकर और मुमुक्षुओंको भी अपना वीर्य न छुपाना चाहिए।

विशेष—पहले सूत्रमें वाह्य पदार्थोंके त्यागकी जरूरत वताई और

त्याग भावना कब और किस रीतिसे जाग उठेगी, उसके उपाय बताये। परन्तु त्यागके संबंधमें कई बार भ्रम उत्पन्न होना संभव है, इसलिए उसका सुझाव इस सूत्रमें दिया है।

समतामें धर्म कहकर सूत्रकार बताते हैं, कि त्यागकी जागृती समभाव से होनी चाहिए। त्यागमें समता होनी ही चाहिए इसके कहनेका आशय यह है कि पदार्थ त्यागमें दो भावनाएं देखी जाती हैं। एक तो पदार्थकी ओर घृणा और दूसरी पदार्थोंमें अतृप्ति। इस भावनाके मूल पर ही त्यागकी शुद्धि अशुद्धिका आधार है। जिस त्यागमें पदार्थ पर तिरस्कार है उस त्यागमें शुद्धि या समझ नहीं है, यही कहा जा सकता है। कारण जिस वृत्तिका आज पदार्थ पर तिरस्कार है उस वृत्तिका प्रसंग आने पर संयम पर भी तिरस्कार न हो इसमें क्या निश्चयता Surity है, कहनेका मतलब यह है, कि वृत्तिके मूलमें जो दोष है वह आज एक ही क्षेत्रमें दिखाई देता है तो भी देर सवेर वह दूसरे क्षेत्रमें भी दिखाई देगा ही। जो साधक 'पदार्थ त्यागसे सुख है' ऐसा मीठा प्रलोभन कहींसे सुनकर त्याग कर डालता है और उसकी वृत्तिका वेग संयमकी ओर प्रवृत्त होने का प्रयत्न कर रहा है, वह साधक कदाचित इस मार्गमें सुखका अनुभव न कर सके और दूसरे बाधक कारण आने लगें; तब दूसरी ओर प्रवृत्त हुए बिना कैसे रह सकेगा? त्यागका हेतु वेगकी दिशा बदलनेका नहीं है, बल्कि वेगको दबा देनेका है। और इस वेगका शमन गंभीर विचारके बिना शक्य नहीं। जब आदमीको भान होता है, कि पदार्थोंमें सुख या दुःख देनेकी शक्ति नहीं है वह तो निमित्तमात्र हैं, मेरी वृत्तिने ही अज्ञानसे पदार्थोंमें सुख या दुःखकी कल्पना करली है। जिसे एक वस्तु चाहिए और वह न मिले, तो उसे दुःख होगा। अगर सुख मिलेगा तो वह सुख क्षणिक होगा। परन्तु जिसे वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं है उसे उस वस्तुसंबंधी कोई दुःख सुख होता ही नहीं है। सुख और दुःखका कारण बाहर नहीं, बल्कि 'मेरा' समझनेमें है—तब ही सच्चा त्याग पैदा होगा। इसलिए सूत्रकार कहते हैं, कि त्याग समतासे उत्पन्न होना चाहिए; और इस भावनाके

प्रगट होनेके बाद ही वृत्तिका शोधन करनेकेलिए निमित्तोंसे दूर रहनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। और ऐसे ज्ञानपूर्वक जो त्याग होता है, उस त्यागमें समभाव होनेकी पूर्ण संभावना है।

सर्वज्ञ पुरुषोंने समभावकी पराकाष्ठाका स्वयं अनुभव किया है। इसी से वे धर्मका वर्णन समतासे कर सकते हैं। सत्यका अनुभवी ही सत्यको दर्शा सकता है, कोई और नहीं। इस सूत्रमें यह भाव भी है। इस सूत्रके दूसरे भागमें श्री तीर्थंकर भगवानके श्रीमुखसे "मैंने यह कर्म खपाए हैं इसरीतिसे दूसरेको खपाना कठिन है" यह कहलवाया है। इस कथनमें से यह सार निकलता है कि यह समताका मार्ग जितना सरल है, उतना और नहीं। हमने समता योगकी साधना द्वारा कर्म खपाए हैं, तुम भी खपा सकते हो। इसप्रकार ये ज्ञानीपुरुष अनुभवकी सही बातें बताते हैं।

प्राणीमात्रके आशय यहां अलग अलग हैं वहां क्रियाकी भिन्नता होना स्वाभाविक है। मगर यदि कोई जिज्ञासु या मुमुक्षु सत्यमार्गमें जानेकेलिए तैयार हो गया है, उसकी जिज्ञासाका इसमें सुन्दर चित्रण किया गया है। साथ ही अवलम्बनकी गूढ़ प्रेरणा भी है। फिर शायद कभी इस अवलंबनमें ही अटक जाय। इसीलिए कहा है, कि जरा देखना, बाहरके साधक निमित्तोंको भी मात्र दृष्टांतरूपसे देखना, आखिर चलना तो तुम्हें ही है। पुरुषार्थकी कुंजी तुम्हारे पास है।

इस सूत्रके अंतका शब्दार्थ तो बड़ा अद्भुत है। इसमें कहा है, कि दूसरे मुमुक्षु भी अपना वीर्य(आत्मबल)न छुपाएं। दूसरे मुमुक्षु अर्थात् इस मार्गके बदले दूसरे मार्गमें जानेवाले जैसे कि कर्ममार्ग,ज्ञानमार्ग,भक्तिमार्ग या ऐसे हजारों मत,पंथ और संप्रदायोंके जो अलग अलग मार्ग दिखाई देते हैं, ऐसे सहस्रोंमार्गोंसे चाहे जिस मार्गको पकड़नेवाले,चाहे जिस पंथके पथिकने जिस मार्गको स्वीकार किया है,चाहे वही मार्ग रहे;परन्तु उस मार्गमें सच्चे होकर रहें। इसमें अपनी शक्ति पूरे जोशसे लगायें। असमंजसमें न पड़ें।

इससे सिद्ध होता है, कि अपना कथन पूर्ण सत्य हो, तो भी इसे सभी स्वीकार करें ऐसा आग्रह न होना चाहिए। जो व्यक्ति जितना

विकसित होगा, उतना ही उसकी दृष्टि सत्यको छू सकेगा अर्थात् परिमित दृष्टिकी अपेक्षासे सत्य स्वयं भी परिमित है; सापेक्ष है। वहां आग्रहके लिए अवकाश कैसा ? इसलिए सत्यका अमुक ही क्षेत्र, मार्ग या स्थानसे आराधन कर सकते हैं ऐसा एकांत पक्ष नहीं है। अर्थात् चाहे जिस धर्म, मत, पंथ या संप्रदायका साधक हो, यदि उसमें सच्चा सत्यार्थिपन होगा, तब ही वह धर्म, मत, पंथ या संप्रदाय इसके विकासमें सहायक प्रमाणित होगा। मुख्यता स्थानकी नहीं, बल्कि योग्यता और मुमुक्षुभावनाकी है। इस योग्यता और उच्चताको प्राप्त करो और फलो फूलो। ऐसी भावनासे ही चाहे जहां रहो, परन्तु वीर्य(आत्मशक्ति)को न छुपाओ। जैनदर्शनमें विश्वव्यापक दृष्टि और अनेकांतता है इसका यही प्रतीक है।

वीर्यको छुपाना अर्थात् अपनी शक्तिसे काम न करना। यद्यपि शक्ति जीवमात्रमें होती है, परन्तु शक्तिके कसनेके प्रसंगोंको वह भाग्यसे ही देख सकता है। क्योंकि जहां तक मानवके विचारचक्षु न उघड़ जायँ, वहां तक वे निमित्त और संयोग जैसे उसे खींचेंगे वैसे ही वह वेगमें खिचता रहता है और दूसरोंके विचार तथा अनुभवोंको अपने मानकर दूसरेके आधार पर वह जीवित रहता है परन्तु जहां तक विचार शक्ति और सृजनशक्ति स्वयं प्रगट न हो वहां तक वीर्योल्लास प्रगट नहीं हो सकता। विचारके बाद ही श्रद्धा और शक्ति दोनों स्फुरते हैं।

परन्तु यदि वृत्तिकी पूर्णशुद्धि जहां तक न हुई हो, वहां तक यह शक्ति दो मार्गोंसे वहने लगती है उस समय साधकको खूब सावधान रहना पड़ता है इसके एक प्रभावका जगतके प्रज्ञपुरुष शक्तिका सदुपयोग करते हैं। परन्तु सूत्रकार इस गड़बड़में नहीं पड़ते। उनकी दृष्टिसे तो शक्तिकी महत्ता अपार है। सदुपयोग या दुरुपयोग ये दोनों दृष्टियां तो सापेक्ष हैं। इसलिए कहा है, कि "वीर्यको वृथा खराब न करो" शक्तिको मारनेकी अपेक्षा शक्तिका गला दबाना बड़ा हानिकारक है। यह बात अनुभवके बाद ही समझनी सरल होती है।

'निमित्ताधीनो जीवः' इस सूत्रको निमित्तके आधीन होना, मानो यह जीवका स्वभाव ही क्यों न हो ऐसा अर्थ वताया जाता है। और इतर जीव मात्र ही नहीं वल्कि मानवसृष्टि तक इस भावनामें फँसते जा रहे हैं, फिर वुद्धि तथा पुरुपार्थके स्वतन्त्र साधन जो कि स्वयं ही संयोगोंको घड़नेकेलिए समर्थ हैं उनके मिलने पर भी उनका लाभ वे नहीं ले सकते। कोई आदमी अपनी स्वतंत्र वुद्धि और स्वतंत्र पुरुपार्थका उपयोग करता है, परंतु उसमें कुछ पूर्वसंस्कार रह गये हैं वहां तक उन संयोगोंके सामने होकर विजयी सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु उसकी शक्तिका कोई एकाध वीज पल्लवित होकर कुछ काम करा डाले, तव दुनियामें चतुर कहलाने वाले लोग जो कि एक ही मार्गसे जानेके अभ्यासी होते हैं उनके मनसे यह कार्य और भावना नवीन होनेसे झील नहीं सकते, और कभी कभी ऐसा भी होता है कि इसके नए मार्गके अन्तर्गत उपासकके सामने हताश करनेवाले अनेक निमित्त खड़े हो जाते हैं। ऐसे संवर्पके समय इस साधककी ठीक परीक्षा होती है। यदि ऐसे समय साधक अपनी शक्तिका गला दवा वैठे तो परिणाम क्या आयगा इसका माप निकालनेकेलिए यदि कोई गणितशास्त्री या मानसशास्त्री स्पष्ट करने वैठे तो उसका उत्तर आत्मघातके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यद्यपि यह छुपा आत्मघात है, परन्तु जो छुपा हुआ होता है,उसमें आंदोलित होनेका वेग अकसर दुगुना होता है। यह नियम भी विचारणीय है। इसीलिए सूत्रकार महात्मा कहते हैं, कि कोई अपने वीर्य(निज वल)को न छुपाएँ। जहां तक विवेकवुद्धि न जाग उठे वहां तक वीर्यको प्रगट करनेमें उसका दुरुपयोग होनेका भय तो है ही। परन्तु जो वेग एक तरफ़ ढलता है, वह निमित्त पा कर दूसरी तरफ ढलेगा ही। शक्तिका दुरुपयोग करनेवाले प्रदेशी, दृढ़ प्रहारी या चिलाती जैसे महापुरुपोंको निमित्त मिलते ही सदुपयोगी होते देखा है। परन्तु शक्तिको छुपानेवाले तो असमय कुम्हला गए हैं। इसकी शास्त्रोंने साक्षी दी है और इस तथ्यका अनुभव किसे नहीं है।

(३) (१) वहुतसे साधक पहले (सिंहके समान) त्याग ग्रहण करते हैं, और फिर पतित नहीं होते। (२) वहुतसे पहले तो (वैराग्यपूर्वक) त्याग ग्रहण करते हैं, परन्तु फिर पीछेसे पतित हो जाते हैं। (३) कई आदमी पहले त्यागमार्गमें नहीं जाते और पतित भी नहीं होते। जो समग्र लोकका स्वरूप जानकर तदनुसार व्यवहारमें लाते हैं वे भी वैसे ही ज्ञातव्य हैं (अर्थात् ऊपरके तीसरे वर्गके समान निरासक्त हैं) यह सव भगवान वीर मुनिने अपने अनन्त अनुभवसे कहा है।

विशेष—वीर्यको न छुपाया जाय, शायद इसका कोई उलटा प्रयोग न कर डाले! इसकेलिए अपनी शक्तिका माप निकालकर शक्तिके अनुसार साधना करनी चाहिए, यही वात सूत्रकार कहते हैं। शक्तिके उपरान्त त्याग सांगोपांग टिक नहीं सकता। इसे ही समझानेकेलिए वे फ़र्माते हैं, कि वहुतसे त्यागियोंका त्याग सांगोपांग टिकता है अर्थात् शुद्ध-प्रज्ञा पूर्वक यह सहज त्याग होता है। दूसरा वर्ग पहले कहे गए मार्गको अंगीकार तो कर लेता है, फिर आगे त्यागमें टिक नहीं सकता। यह क्यों होता है? इसके कारण ऊपर कहे गए हैं। और तीसरा वर्ग ऐसा होता है, कि पहलेसे ही जिसे त्याग सहज सुगम होता है, इसलिए उसे पतित होनेका अवसर नहीं आता। क्योंकि यहां अनासक्ति योगकी सहजता है। इस समग्र सूत्रका सारांश यह है, कि जिनमें अनासक्ति सहज भावसे ओत-प्रोत हो चुकी है, ऐसे पुरुष पदार्थका उपयोग करते हुए भी वाह्यदृष्टिसे त्यागी न दिखते हुए भी त्यागी ही होते हैं, और कोई भी प्रलोभन उन्हें चलायमान नहीं कर सकता। परन्तु ऐसे पुरुष विरले ही होते हैं। इसलिए त्यागकी आवश्यकता स्वीकार की गई है। परंतु वह त्याग आंतरिक वल, श्रद्धा और उत्साह पूर्वक होना चाहिए, कि जो सांगोपांग टिका रहे और अनासक्तिके जावनमें तानेवानेकासारूप ले सके। यद्यपि कई साधकोंको पहले उत्साह या सच्ची समझ नहीं होती, तो भी त्यागमार्गमें आते ही वे

तन्मय हो जाते हैं। कभी ऐसा जरूर हो जाता है, परन्तु इसे आकस्मिक-रूपसे गिना जा सकता है। और उसके पीछे प्रकृतिका कोई गूढ़ संकेत या पूर्वपुरुषार्थ कारणभूत है ऐसा मानना पड़ेगा। साथ ही स्वरूपका शोधन करके जो साधक ज्ञानपूर्वक जीवन निर्माण करता है, वह भी अनासक्त हो सकता है। इसप्रकार अन्तकी पंक्तिओंमें यह दर्शाया है कि व्यवहारमें भी त्याग आवश्यक और सुशक्य है।

(४) तीर्थंकरदेवकी आज्ञापालन करनेकी चाह रखनेवाला और आसक्ति रहित विवेकी साधक रातके अन्तिम पहरमें उप-योग (मन, वाणी और कायाकी एकवाक्यता) पूर्वक सदैव शील को (कर्मबंधनसे छूटनेके कारणरूप चरित्र) को विचारकर उसे यथार्थरीतिसे (अपने जीवनकी पडताल करता हुआ) पालन करे।

विशेष—तीर्थंकर देवकी आज्ञामें रहने अर्थात् सच्चारित्र्यको जीवनमें बुननेकी गतसूत्रमें चर्चा आ चुकी है। अनासक्ति और विवेकबुद्धिवाला ही चरित्रकी आराधना कर सकता है। इसप्रकार साधकके विशेषणोंसे यह फलित होता है। परन्तु कई वार अनासक्त और विवेकी साधकके भी जहां तक रागद्वेषके वीज संपूर्ण रीतिसे भस्मीभूत न हो गये हों, वहां तक वह जरा भी असावधान हो जाय तो उसे वहुत सहना पड़ता है। यहां रात्रिके पहले और पिछले पहरमें चिंतन करनेका साधन कहकर पूर्णरूपसे जाग्रत रहनेकी सूचना की है। यद्यपि यहां कालकी अपेक्षा करके पहली और पिछली पलोंकेलिए सावधान रहना सूचित किया है, परन्तु वास्तव में यह वात प्रत्येक क्रियापर घटानेकी है, जैसे प्रतिक्रमण क्रिया, जिसे अनुभूत पुरुषोंने (गृहस्थ हो या त्यागी) दोनोंकेलिए करणीयता वताई है, उस में भी इसी प्रकारका रहस्य समाया हुआ है।

जहां अनासक्ति और विवेकवुद्धि हो, वहां अहंकार न होना चाहिए। यह कहनेकेलिए क्रियाके होनेसे पहले उस क्रियाके परिणामका विचार

और क्रियाके होनेके बाद उसके फ़लका त्याग ये दोनों बातें यहां सूत्रकार एक साथ कह देते हैं। इसका सारांश यह निकला, कि अनासक्ति और विवेक मात्र ये कुछ वाणी और मनके विषय नहीं हैं। इनका तो प्रत्येक क्रियाके साथ संबंध है। इसीलिए प्रत्येक क्रियाके करनेसे पहले साधकको उसकी आवश्यकता, उपयोगिता और स्वपर हितताका विचार किए विना कभी न चलेगा। इसप्रकार क्रियाके परिणाम और हेतुका विचार विवेक है, और क्रियाके करने पर जो कुछ फल मिले उसका त्याग; यानी जिस हेतुसे वह क्रिया की गई है, वह हेतु वने या न वने उसका परिणाम सुन्दर हो या असुन्दर, तो भी चित्तपर ऐसी समता रहे कि उसका कुछ भी प्रभाव न होने पावे। ऐसी चित्तकी सहजदशाका होना अनासक्ति है।

(५) सदाचारका पालन न करनेवालोंकी दुर्दशा सुनकर प्रज्ञसाधक वासना और लालसा रहित रहता है।

विशेष—जीवनमें चरित्रका निर्माण होना ही चाहिए। तव ही वह रसमय, सौंदर्यमय और निष्कंप, अडोल टिकाऊ वनता है–अनुभूतपुरुषोंका यह आग्रह किसलिए है, इसपर इससूत्रमें प्रकाश डाला गया है। एक संस्कृति यह भी मानती है, कि व्यवस्था और नियमन दोनोंपर कावू पाकर पदार्थोंमें से चाहे जितना रस, सौंदर्य और कलाका उपयोग करे, यह विकासकेलिए वाधक नहीं है। आज विज्ञानकी शोधका इसरीतिसे उपयोग होता है ऐसा माना जाता है। विश्वमें आज इस संस्कृतिका खूव ही प्रचार हुआ है और होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है।

परन्तु महापुरुषोंका अनुभव कुछ अलग ही कह रहा है। वे कहते हैं, कि अनुभवके वाद हमने यह सिद्ध किया है कि कला, रस और सौंदर्य जीवनका संवादन है। उसमें पदार्थोंका दवाव मात्र निमित्तभूत है। उस निमित्तसे जो स्वर निकलते हैं, संवादन साधकर जो संगीत स्फुरते हैं, वे सव अन्तरके स्वर हैं। यदि वाहरसे आते दीखते हैं, तो शोधके अभाव से हैं, स्वाभाविक नहीं है। पदार्थोंमें सौंदर्य, कला या रस उत्पन्न करने

की शक्ति नहीं है। वह तो मात्र आन्तरिक शक्तिसे खिले हुए रस, सौंदर्य और आनन्दके वाह्यरूपमें प्रगट होनेके निमित्तरूप वन सके हैं और यह उसी समय हो सकता है, कि जब वासना और लालसाका चित्तपर स्थापित संस्कारोंका इन पदार्थोंपर आरोप न हो। पदार्थोंके वाह्य आकार पर जो मोह जागृत होता है, उसका मूल वासना है, और पदार्थोंको पकड़ कर रखनेवाला जो परिग्रह जागता है, उसका मूल लालसा है। लालसा और वासनाके मूलमें शांति अशक्य है, और वार वार सूत्रकार भी यही कहते हैं। अर्थात् जितने अंशमें मोह और परिग्रह छूटेगा, उतने ही अंशमें सदाचारका पालन होगा।

(६) साधक ! इन भीतरके शत्रुओंके साथ ही युद्ध कर। दूसरे वाहरके युद्धसे क्या मिलना जाना है ? आत्मयुद्ध करने योग्य जो सामग्री इससमय मिली है उसका फिर मिलना वहुत ही कठिन है।

विशेष—मोह और परिग्रहका स्वरूप जाननेके वाद भी यह सहज छूट जाय ऐसा नहीं। पदार्थोंका त्याग किया कि निमित्तोंसे डरकर दूर भाग जाय परन्तु यह दूर नहीं होता, किंवा वाह्य पदार्थोंके साथ युद्ध करने या तिरस्कार करनेसे भी यह घट नहीं सकता। ऊपरके सूत्र भी यही समझाते हैं।

कई वार साधक अपनेमें होनेवाले मोह और परिग्रहसे व्याकुल होकर वाह्य पदार्थों या व्यक्तिओंके साथ घृणा, तिरस्कार आवेश या द्वेषके द्वन्द मचाने लग जाता है, परन्तु मोह और परिग्रह नष्ट करनेका यह मार्ग नहीं है। मोह और परिग्रह कुछ वाहरकी वस्तु नहीं है, वल्कि ये तो वृत्तिके साथ जुड़ी हुई वस्तु हैं। वाहरसे दीखनेवाले पदार्थ और वाहरके व्यक्तिओंके शरीर मात्र काचके समान हैं। अपनी जैसी वृत्ति होती है, उसमें वैसा ही मात्र प्रतिविंव दीखता है। प्रतिविम्वको ही मूल मानना कैसा भ्रम है ! परन्तु यह वात सत्यरीतिसे तव ही समझी जाय, कि जव

साधकको वाहरसे दिखने वाले सब दुःखोंका मूल शोधनेकी उत्कंठा जाग उठे और वह उसके सारको पानेकेलिए गर्दन झुकादें।

(७) जंवू ! तीर्थंकर देवने विचित्र अध्यवसायोंकी जिस रीतिसे समझनेकी तालिका दी है, उसे उसी ढंगसे स्वीकार कर, कारण वहुतसे वालसाधक धर्मको पाकर भी भ्रष्ट हो जाते हैं। और भ्रष्ट होकर गर्भादिके दुःख पाते है।

विशेष-आंतर गर्दन झुकाना क्या है? व्यावहारिक ज्ञानके मार्गका सुझाव इस सूत्रमें कहा है। विवेकवुद्धि जागनेपर ही गर्दन झुकाई जाती है, परंतु विवेकवुद्धिके संवंधमें भी कुछ कम उलझन पैदा नहीं होती। चातुर्य और विवेकवुद्धिको जगतके चतुर आदमी एक मानते हैं। परन्तु चातुर्यका झुकाव वाहरके जगतकी ओर होता है तव विवेकवुद्धिका झुकाव अपने अंतःकरणकी ओर होता है। इन दोनोंका यह तारतम्य है।

एक ही क्रियाके ऊपर विविध अभिप्रायोंको वांध लेना और मत प्रगट कर देना इसरीतिसे जनताका मानस घडा गया है। ऐसी प्रकृतिका साधक प्रत्येक क्रियामें जितना संसारके लोगोंसे डरता है, उतना आत्मासे नहीं डरता। दंभ, पाखंड, और आत्मवंचनाका आरम्भ ऐसे संयोगके वश से ही उत्पन्न होता है। साधकको पहले पहल तो यह स्थिति भालेके समान चुभकर खटकती है। उससे दूर रहनेकेलिए उसका मानसवल पुकार करता है, परन्तु समाज या जनताके वीच उसकी प्रतिष्ठाका समा वंधा हुआ जो कि उसने मानलिया है वही उसके पैरोंकी वेड़ी वनकर उसके विकासको रोक लेता है। इसी दृष्टिसे लोकसंज्ञाका त्याग करना अनुभवी पुरुषोंने जहां तहां सूचित किया है। एकांतवृत्ति, ध्यान, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंकी योजना करके अध्यवसाय(वृत्तिसे उठनेवाले संकल्प विकल्प)के समाधानकेलिए उसका उपयोग वताया है। सूत्रकार यही कहते हैं कि अध्यवसायोंके शुभाशुभ निष्कर्ष पर कर्मवंधकी कठोरताका या शिथिलताका मुख्य आधार है। जो शिक्षा ज्ञानीपुरुषोंने दी है उसे

उसीरूपमें स्वीकार करे तथा उसका आचरण मननात्मक समझा जाय। दूसरे वाहरको देखनेकी अपेक्षा प्रतिपल अपनी वृत्तिको ठीक करे। जिसमें यह विचार न हो, वह विकासके मार्गमें बालकके समान है और वे सत्य-धर्म नहीं पाल सकते। इससे धर्म अर्थात् संस्कारिता, इतनी ही व्याख्या फलित हुई। जिस जीवनमें संस्कारिता न हो, वह जीवन कुछ जीवन नहीं समझा जा सकता। जीवनको टिकानेकी भी यही दृष्टि होनी चाहिए, इसलिए ज्ञानीपुरुषोंने कहा है कि "जीवनको टिकाए रखना सुगम है। परन्तु जीवनमें जीवित रहना सुगम नहीं है।"

(८) जिन शासनमें ही ऐसा कहा गया है, कि जो रूपादिक विषयोंमें आसक्त होता है, वह (पहले या पीछे अवश्य) हिंसा में प्रवृत्त होता है।

विशेष—जीवनका पतन अध्यवसायोंकी अशुद्धिसे होता है यह वात पिछले सूत्रमें कही गई है। परन्तु सवका ध्येय सुन्दर अध्यवसाय वनाने और विकास करनेका होते हुए भी अशुद्ध अध्यवसाय कैसे होते होंगे? यह प्रश्न खूब ही विचारने योग्य है। किसीको अपना पतन इष्ट नहीं है फिर भी वह पतनको प्राप्त होता है इसके कारणोंको इस सूत्रमें वताया है।

सूत्रकार महात्मा कहते हैं, कि विषयासक्ति और हिंसाका गहरा संवंध है। इस वातको साधक समझ नहीं सकते। पर यह वात जिन शासनमें मुख्यरूपसे कही गई है। इसप्रकार कहकर वे जिनशासनकी विशेषता वताते हैं; और यह भी समझाते हैं कि साधककी यह भूल कुछ छोटी भूल नहीं है। वल्कि यह भूल ही उसे ऊपर नीचे चक्कर दिलवाती है। विकासका मार्ग सीधा और सरल होनेपर भी यह भूलके कारण उलटा चकडोल पर चढ़ता है। आसक्त पुरुष क्रिया करे या न करे तो भी वंधन है। अनासक्त आदमी क्रिया कर डाले तव भी वंधन नहीं है। यह वात ठीक है, पर केवल अनुभवगम्य है।

आज तो अनासक्तिके संवंधमें बहुत सी उलझनें देखी जा रही हैं।

अनासक्तिके नाम पर बहुतसे साधक दंभसेवन करते देखे गये हैं। इसलिए अनासक्तिकी व्याख्या देखनी हो तो ऊपरके कथनानुसार यह सार निकलता है कि जहां अनासक्ति है वहां वह किसीको लेशमात्र भी दुखानेका काम नहीं करता और दुःखितको देख भी नहीं सकता। सारांश यह है कि अनासक्ति द्वारा नैसर्गिक जीवनसे जीवित रहता है। प्रकृतिके अटल नियमपर अखंड श्रद्धा बिना नैसर्गिक जीवन प्राप्तहोनेवाला नहीं है। प्रकृतिके अटल नियमोंपर श्रद्धा अर्थात् हाथ पैर चलाए बिना निवृत्तिकी ओटमें मुक्त जीवनसे जीना नहीं बल्कि उसमें तो सतत पुरुषार्थ सेवन करना होता है। किसी वृत्तिकी विवशताकी लपेटमें न आकर क्रियात्मक रहना ही पुरुषार्थ है। ऐसा पुरुषार्थी दुखःमें रोता नहीं और सुखमें मदोन्मत्त भी नहीं बनता। क्योंकि रोना और अभिमान करना दोनों दुर्बलताके चिन्ह हैं। जो केवल शक्तिका शोधक और उसका पुजारी होगा वह जो कुछ भी करेगा वह द्रष्टा होकर ही करेगा, कर्ता होकर नहीं। जहां क्रियाके ऊपरसे स्वामित्व चला जाता है वहां क्रियाके सामने देखा ही नहीं जाता। और क्रियाके रूपके सामने भी न देखा जाता हो,तो वहां झूठी क्रिया कैसे हो सकती है?

(६) जंबू! मुनिसाधक तो सचमुच उसे ही समझा जाय कि जो लोगोंको मोक्षके मार्गसे उलटी प्रवृत्ति करते देखकर, उनकी दुःखित दशा पर विचार करके, मात्र मोक्षमार्गकी ओर ही लक्ष्य रखकर प्रसन्नता पूर्वक मार्ग मार्जन करता हुआ चला जाता है।

विशेष—इतनी ऊंची कोटीके साधकों को इस साधनाके मार्गमें अनेक प्रकारके सानुकूल प्रतिकूल निमित्त आकर मिल जाते हैं। ऐसे विकट समयमें प्रतिकूल निमित्तोंमें शांति कायम रखना यह उनके लिए कुछ असुलभ नहीं है, बल्कि अनुकूल निमित्तोंको सहन करना अत्यंत कठिन है। इस समूचे विश्वमें अनेक प्रकारकी ऋद्धि, समृद्धि या सिद्धियां हैं, और वे ऐसे साधकको सहजमें मिल जाती हैं। पहले तो जगकल्याणके-

लिए वे उसका उपयोग करनेकेअर्थ प्रेरित होते हैं। परन्तु बहुत बडी गहराईमें रहा हुआ आसक्तिका बीज एक या दूसरी रीतिसे अपने मान, प्रतिष्ठा या विलासको पोषण देनेकी ओर उनका झुकाव बढ़ने लगता है और ऐसे बहुतसे उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए योगी साधकोंका भी पतन हो जाता है। यह एक विश्वसागरका भंवर है। इस भंवरमें फंसा हुआ साधक प्राप्त हुए आध्यात्मिक जीवनका कई बार नाश कर डालता है।

इसीसे इससूत्रमें कहा है,कि केवल मोक्ष अर्थात इच्छामात्रसे मुक्तिकी ओर लक्ष्य रक्खो। फिर परिणाम क्या आयगा? इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। इसलिए किसी भी ध्येयको रखनेके झगड़ेमें पड़नेकी अपेक्षा नैसर्गिकतामें सर्वार्पित हो जाना ही मोक्षका सरल उपाय है। और इसके अतिरिक्ति दूसरी प्रवृत्तिमें अखिल विश्व ढुलकपड़नेकी शक्तिको सुरक्षित रखना पुरुषार्थ है। साधककी जागृतिकी यह मर्यादा चिंतनीय है। दूसरी बात ऊपरकेसूत्रसे यह भी फलित होती है, कि दूसरे साधक मोक्षमार्गके विरुद्ध प्रवृत्ति करता हो और बाहर के जगतकी पूजा या प्रतिष्ठा या अपने सेवकोंको बढ़ानेके पीछे पड़ा हो, तो भी तू उनका यह सब हाल देखकर घबरा न उठ, तथा झूठा या अंधानुकरण करनेकेलिए प्रेरित न होना। तू तो मात्र अपने कर्मबंधनसे मुक्त होनेके एक ही मार्गको सामने देखते हुए रास्ता पूरा करे चल।

(१०) समयज्ञ जंबू! ऐसे साधक इस प्रमाणसे कर्मके स्वरूपको जानकर "प्रत्येक जीवका सुख और दुःख अलग अलग है" विचार कर किसी भी जीवको कष्ट न देते हुए संयममार्गमें लगकर बुडबुडाहट भी नहीं करते। वे उससे दूर रहते हैं।

विशेष—इस रहस्यको जाननेवाले साधकको स्वयं संयमी और अहिंसक बनते हुए सहजानंदका साक्षात्कार होना स्वाभाविक है। परन्तु सूत्रकार महात्मा चौंकादेते हैं और कहते हैं, कि साधको! तुम यहां सावधान रहना, मौन रखना कुछ भी न कहना, अपनी अद्भुत दशा या स्थिति

का वर्णन दूसरी ओर झटपट व्यक्त करदेनेकी शीघ्रता करना अपूर्णताकी निशानी है। आनंदका अनुभव किया जा सकता है, यह वाणीसे कहा नहीं जा सकता, और सुख तो स्वयं सापेक्ष ही है; कारण उसका संबंध वृत्तिके साथ है, और वृत्ति तो जीवमात्रकी अलग अलग होनेसे अपनी अपनी दृष्टिसे सुख भी अलग अलग हो तो फिर खटपटमें पड़नेकी क्या आवश्यकता ? अतः सहज स्थितिमें प्रवर्तित साधक किसी भी प्रकारका आग्रह नहीं रखता। उसका मन,वाणा और व्यवहार एकतामय होगा,वहां बनावट नहीं होती, और कदाचित बाहरसे कृत्रिमता आ भी जाय, तो वह टिकनेवाली भी नहीं। वह अपनेमें मस्त रहता है, उसे जगतके अच्छे बुरेको देखनेका लेशमात्र समय नहीं होता। असलमें तो उसकी विश्वाभिमुखदृष्टि ही नहीं होती। वह केवल सदा (आत्माभिमुख) उपयोगवान ही होता है। बाहर देखे तो भी उसमें से उसकी दृष्टि अपने योग्य हो उतना ही वह देखता है।

(११) प्रज्ञसाधक ऐहिक कीर्तिकेलिए यशका अभिलाषी होकर सर्वलोकमें किसी भी प्रकारकी पापवृत्तिका सेवन नहीं करता, और(दूसरा मार्ग न पकड़ते हुए केवल)मोक्षकी ओर दृष्टि रखकर स्त्री आदिसे विरक्त रहकर आरंभसे भी उदासीन रहे।

विशेष—सरल जीवनमें कृत्रिमता या दृष्टि अशुद्धि होना उसीसमय संभव है, जब यश जीवनका ध्येय बना रहता है, और यश अर्थात् जगत-अभिमुखदृष्टि। जहां बाहर देखना होता है, वहाँ आंतर को भूल जाना स्वाभाविक है। आरंभ और आसक्तिका मूल यहां ही है। यह बात पंडितों की गिनतीमें आनेवाले साधकोंने जहां तक विचारी नहीं वहां तक दूसरा सबकुछ साधन करता रहे तो भी वह क्रिया एकडे बिना शून्यके समान है, जिसतरह आटा खाना और हँसना ये दोनों क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकती। इसीतरह लोकयशकी अभिलाषा करना और आसक्तिसे

दूर रहना ये दोनों क्रियाएँ परस्पर विरोधी हैं ।

(१२) इसलिए ऐसे संयमी साधकोंको सब तरहसे उत्तम और पवित्र बोध मिलने पर न करने योग्य पापकर्मको ओर कभी भी दृष्टि न रखनी चाहिए ।

(१३) जो सम्यक्त्व है वही मुनित्व (चरित्र) है और जो मुनिपन है वही सम्यक्त्व है ।

विशेष—परन्तु लोकयशकी अभिलाषा छोड़ना या लोगोंसे दूर भागना उनमें न मिलना, या उनके विचारोंको न पकड़ना अथवा लोग जिस मार्गसे जाते हों उनसे उलटा मार्ग लेना, ऐसा कोई उलटा अर्थ न पकड़ बैठे ! उसीकेलिए इस दूसरे सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि उपरोक्त कथन यह है, "जहां सत्य है वहीं मुनिपन है" मुनित्व कुछ लोगोंके अभिप्रायसे प्राप्त नहीं होता । बल्कि वह तो सत्यकी निष्ठासे मिलता है । यह वाक्य सुनते समय जितना इसे समझना सरल है, उतना गहराईमें जाकर विचारना और देखना तथा स्वीकार करना यह सरल नहीं है । साधक जो जो क्रिया करता है, उसके साथ ही साथ वह जगतकेलिए क्या कहता है उसे ताकता रहता है । शायद कभी लोग मुझे यों कहेंगे, मेरी इसक्रियाको देखेंगे तो घृणा करेंगे आदि आदि सब आंखें तरेर तरेर कर देखता रहता है । यद्यपि इस तरहका भय कई बार ऐसे साधकको पड़ते हुए बचा लेने में कार्यकारी सिद्ध हुआ है, परन्तु इसमें कुछ प्रामाणिक तत्व नहीं है । सत्यकी मात्र साधना ही चरित्रका साधनरूप बन सकता है यानी जहां आत्मज्ञान है वहां ही मुनिपन जानना चाहिए, ऊपरके सूत्रका यही सार है ।

(१४) धैर्यहीन निर्बल मनवाले, विषयासक्त, मायावी, प्रमादी और घरका ममत्व रखनेवाले साधकोंसे इस सम्यक्त्व या साधुत्वको धारण नहीं किया जा सकता ।

विशेष—निर्बल, धैर्यहीन, आसक्त, दंभी, प्रमादी परिग्रही साधक लोकके सामने न देखे तो उलटा अधिक विकृत होता है। इस प्रकार इस सूत्रमें सूचित किया है। लोकके सामने देखना अर्थात् समाजदृष्टि रखना यहां यह भाव है। जो साधक अंतःकरणकी आवाजको पहचानकर उसके अनुसार वर्ताव कर सकता है, उसे लोगोंके अभिप्रायकी जरूरत नहीं है। पर जो साधक इस कोटी तक न पहुँचा हो, उसे शिष्टाभिप्राय पर लक्ष्य रखना उचित है। और वास्तविक रीतिसे तो जहां तक साधकमें उच्चगुण स्थायी न हों, वहां तक वह लोकके अभिप्रायके सामने उपेक्षाबुद्धि करना चाहे तो भी वह ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए ऊपर कहे दुर्गुणोंके विजातीय सद्गुणोंको सबसे पहले स्थान देना चाहिए। ऐसा ही सम्यक्त्व, सच्चापन या मुनित्व टिक सकता है।

(१५) जंबू ! मुनिसाधक ही सच्चा साधुत्व धारण करके शरीरको कसते हैं। और ऐसे सत्यदर्शी वीरसाधक रूखा और हल्का भोजन करते हैं। [खाने पीनेमें खूब संयमका खयाल रखते हैं] इस तरह पापवृत्तिसे पर [अलग] रहनेवाले मुनिजन ही संसारके तारक, तैर कर स्वयं पार पाए हुए तथा आसक्ति से सर्वथा मुक्त होनेसे महापुरुषोंने उन्हें मुक्त [जीवनमुक्त] के रूपमें वर्णित किया है।

विशेष—यद्यपि इस सारे उद्देशकमें अनासक्तिकी मूलसे लगाकर सांगोपांग और व्यवहार्य मीमांसा है, तो भी इसका सब सार मानो इस एक सूत्रमें सूत्रकार कह देते हों ऐसा लगता है। इस सूत्रसे इतना ही फलित होता है, कि जहां सत्य है वहीं साधुत्व है। परन्तु ऐसे साधकोंके ही देहादि साधना पर जितने अंशमें मोह या ममत्व कम हो उतने ही अंश में साधुता जाननी चाहिए।

मोह और ममता दूर हो तब ही पापवृत्तिसे दूर रहा जासकता है और पापवृत्तिसे जितना दूर रहा जाय उतनी ही उसकी वृत्तिमें अनासक्ति है।

ऐसा कहा जा सकता है। ऐसा ज्ञानी और अनासक्त पुरुष इस संसारमें रहते हुए मुक्त रह सकता है,कारण यह है कि उसने कर्मबंधनका मूलकारण दूर कर दिया है।

चिकना और गीला कीचड़का गोला ही दीवार पर चिपटता है, परन्तु सूखते ही नीचे गिर जाता है। इसी तरह साधकका क्रियाजन्य कर्म उसमें स्निग्धता न होनेसे आत्माका बंधनकर्त्ता नहीं होता।

उपसंहार:—विचार और विवेक जिज्ञासाके मूल स्तंभ हैं। वृत्तियोंमें बार बार उठनेवाले विकल्पोंके विचारमें गिनती होती है यही भूल है।

जो विचार जीवनमें अद्भुत नवीनता और दिव्यदृष्टिका संचार करे वही विचार है। विचारकी किरण अंतःकरणकी गहराईमें चमक पैदा करनेवाली चैतन्यकी ज्योतिका स्फुलिंग है। जिस किरणके द्वारा जीवनकी निगूढ़ गुफामें जाकर जो वुद्धि सत्यका राह स्पष्ट कर देती है, उसे विवेकवुद्धिके रूपमें पहचाना जाता है।

विचार और विवेकके प्रगट होनेपर परभावका त्याग करके स्वभावकी ओर मुड़नेका स्थूलक्षेत्रमें क्रियात्मक प्रयोग आरम्भ होता है।

परिग्रहके त्यागके विना निष्परिग्रहवृत्तिका पाठ अंतरमें नहीं उतरता। जो त्याग समतासे उत्पन्न नहीं होता, अथवा जिस त्यागसे समता जागृत नहीं होती, वह त्याग विकासका साधक सिद्ध नहीं होता।

सत्यकेलिए किसी स्थान या क्षेत्रका बंधन नहीं है। अनासक्त दशा ही त्यागका फल है। वीर्य(आत्मशक्ति)का गला

दवाना यह गुप्त आत्मघात है। शील संरक्षण पर चरित्रके चिननेका मुख्य पाया है।

· वृत्तिके द्वंद्वमें विजय पानेवाला ही सच्चा विजेता है। अध्यवसायों पर कर्मबंधनका मुख्य आधार है।

जहां आसक्ति है वहां कर्मबंध तो है ही। जगतकी ओर देखना छोड़कर आत्माकी ओर मुड़ो। जिसमें बाह्यदृष्टि नहीं, और जो विकासके मार्गपर चल रहा है,उसमें सहजता,सरलता और समता होती है।

जहां सत्य है वहीं आत्मज्ञान है, और जहां आत्मज्ञान है वहीं मुनित्व है।

इस प्रकार कहता हूं

लोकसार अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त।

चौथा उद्देशक

स्वातन्त्र्य मीमांसा

तीसरे उद्देशकमें अनासक्तिकी व्यवहार्य मीमांसा की गई। सूत्रकार अब चौथे उद्देशकमें स्वतंत्रताका विचार करते हैं। स्वच्छन्दता और स्वतंत्रताके वीचका भेद जहाँ तक न बताया जाय, वहां तक स्वच्छंदताको ही स्वतंत्रता मानकर साधक स्वछंद मनोवृत्ति वनाता जाता है।

स्वच्छंदता साधकजीवनको मारनेवाला रोग है, घोर पतन है। स्वतंत्रता प्रकृति और वृत्तिके नियंत्रणसे उत्पन्न होती है। स्वच्छंदता प्रकृतिकी पराधीनतासे पैदा होती है। स्वतंत्रतामें प्रकृति आत्माके आधीन रहती है तव स्वच्छंदतामें आत्माको प्रकृतिके आधीन होना पड़ता है। स्वतंत्रतामें नियमितता, व्यवस्था और विवेकवुद्धि होती है; तब स्वच्छंदतामें उच्छृंखलता, अनियमितता और जड़ता है। स्वतंत्रतामें विकास है, और स्वच्छंदता में विनाश।

गुरुदेव बोले

(१) (ज्ञान और आयु दोनोंसे) अपरिपक्व मुनिसाधक अकेला होकर गांव गांवमें घूमता है, तो उसका फिरना तथा जाना (आगे बढ़ना) दुःशक्य वन जाता है।

विशेष—गृहस्थ साधकोंकेलिए भी गुरुकुलकी प्रथा प्राचीनकालमें थी। आज भिक्षु, साधु या संन्यासियोंकेलिए गच्छ, संप्रदाय या मत-पंथके

नमिसे गुरुकुल खड़े किये गये हैं और इन साधकोंमें गुरुसांनिध्यकी महिमा आजतक चली आ रही है। परन्तु यहां तो भिक्षुसाधकको लक्ष्य कर कहा गया है। सद्‌गुरु या उपसाधकका पासमें होना साधककेलिए अनेक तरह से उपयोगी है।

साधक और सिद्धिके बीचका अन्तर बड़ा विचारणीय है। सिद्धिके पास साधक हो तब भी क्या;और न हो तो भी क्या-उसे उसकी पर्वाह नहीं होती। यद्यपि इन साधकोंका पासमें होना बाधक नहीं गिना जाता फिर भी साधकको अवलंबनकी प्रतिक्षण आवश्यकता रहती है।

साधनाकी छोटी या पतली पगडंडीके आसपास वासना और लालसाकी दो बड़ी खाइयां हैं प्रतिपल पदार्थोंके आकर्षक प्रलोभन साधककी आंखोंको अपनी ओर खींचनेका प्रयत्न करते हैं। भय और वहमकी भूतावलियां उसे भड़काती हैं। इसलिए इसकी पीठके पीछे जागृती देखनेवाले या मार्ग-दर्शकगुरुकी आवश्यकता रहती है। इस दृष्टिकोणसे यदि कोई साधककी साधनाके विकासमें निमित्तभूत होता है, वही उसका गुरु समझा जाता है। गृहस्थ साधकको भी विकासमार्गमें माता पिता या बड़े आदमी अवलं-बनरूप होनेसे गुरुजन गिने जाते हैं, परंतु इस अवलंबनका अवलंबके रूपमें उपयोग करनेकी शिक्षा आनी चाहिए। वरन् साधक अवलंबनको साधन न मानकर उसीमें व्याकुल हो जाता है। और अवलंबनका शृङ्गार करने के पश्चात् सारी शक्ति बर्बाद कर डालता है। ऐसे साधककी स्थिति उलटी चिंताजनक और विषम हो जाती है। इसलिए सूत्रकारने 'ग्रामानु-ग्राम' का विशेषण रखकर प्रगति-विकासकी प्रेरणा दी है। और जहां तक साधक ज्ञान अभ्यास और आयुमें अपरिपक्व(कच्चा) है, वहां तक ही अवलंबनकी आवश्यकता है। यह समझकर अवलंबनकी मर्यादाकी भी सूचना की है।

परंतु साधककी यह कचाई पुरुषार्थी व्यवस्थित और नियमित साधककी दृष्टिसे समझना चाहिए। अन्यथा चुस्त और जड प्रकृतिवालेको तो सदैव

अवलंवन पासमें हो तव भी उसमें कचाई रहेगी। ऐसे आदमीको तो उलटा वह अवलंवन वाधक सिद्ध होता है। तथा वहम लालच और पाखंडको वढ़ाता है। क्योंकि अवलंवन भी जागृत साधककेलिए ही उपयोगी होता है। जागृती करानेकी शक्ति अवलंवनमें नहीं है,एवं चलने पहुँचनेकी शक्ति भी उसमें नहीं है। वह तो मात्र प्रेरणा दे सकता है। जागना और चलना तो केवल साधककी अपनी इच्छा का प्रश्न है। यहां सूत्रकारने जागृत और प्रगतिशीलके ही प्रेरणाकी सच्ची आवश्यकता और इच्छा होती है यही दृष्टिकोण समझाया है।

(२)अ(आत्मार्थी शिष्य पूछता है कि भगवन्! अपरिपक्व साधककों अकेला फिरना कैसे अच्छा लगता होगा? गुरुदेव वोले प्रिय जंबू! वे अपनी प्रकृतिमें पराधीन और स्वछंदी वन गए हैं इसीसे उसे एकचर्या बहुत पसंद आती है और उसके कारण ये हैं:–)वहुतसे साधक केवल वचन द्वारा ज्ञानी जनकी शिक्षा मिलते ही आवेशके आधीन होकर अप्रसन्न हो जाते हैं, और वे विवेकशून्य उच्छृंखल वनकर साधक संघसे अलग हो जाते हैं।

(२)ब-ऐसे अनजान और अतत्वदर्शी साधकोंको वादमें पेश आनेवाली अनेक कठिनाइयोंका जिनका उसे पहले खयाल भी न था उल्लंघन करना कठिन हो जाता है। इसलिए हे ज्ञानाभ्यासी साधको! तुम्हारे लिए इसप्रकार वाधा न होने पावे, इसी कारण श्रीवीरजिनेश्वरोंका यह अभिप्राय है।

विशेष—इससूत्रके पहलेभागमें साधक सहज मिलती हुई प्रेरणाको छोड़ देनेकेलिए कैसे तैयार हो जाता है, उसके कारण वताते हुए कहते हैं, कि यदि साधकमें जिज्ञासु बुद्धि है, तो वह किसी भी स्थान, व्यक्ति या घटनाओंसे कुछ भी लेना चाहता है और लेता है, परंतु जो साधक उपयोग-शून्य या गाफिल हो जाता है, तब वाहरके दृश्य उसकी आंखोंके आगे आ

जानेसे पूर्वाध्यासोंको लेकर वह साधक इन निमित्तोंके वश हो जाता है। जो कि ऐसे प्रसंगोंमें जिज्ञासा, वैराग्य और संयमके प्रवल वेगके आगे पहले पहल निमित्तोंके जोरका दवाव हुआ देखता है, परंतु पूर्वाध्यासोंके द्वारा वोया गया वासनाका वाज धीरे धीरे वृत्तिपर अपना प्रभाव डालकर दूसरे ऐसे ही कुछ प्रसंगों के मिलने पर गुप्तरीतिसे विकसित होता जाता है। यह वृक्ष धीरे धीरे साधककी प्रचलित साधनामें मद पैदा करता है और इसीसे उसमें संकुचितता आ जाती है। क्रियामें अहंकारका दर्शन होता है और उसका विकास रुक जाता है।

अहंकार आनेपर विश्वके समान महान आत्मस्वरूपको वह पुरुष छोटेसे व्यक्तिमें ही समानेका प्रयास करता है। ज्यों ज्यों उस मार्गमें उसकी शक्ति अधिक नष्ट होती है त्यों त्यों वह साधक विश्वसे अलग और स्वार्थी Selfish हो जाता है। और ज्यों ज्यों विश्वसे अलग होता जाता है त्यों त्यों वह मोहकी अन्धकारपूर्ण खाई में गिरता है और अपने व्यक्तित्वको विकसित करनेके वहाने व्यक्तित्वको अपने हाथसे नष्ट कर डालता है।

यही अनजान और अतत्त्वदर्शी विशेपणोंका उपयोग करके सूत्रकार महापुरुष अवलंवनकी मर्यादाकी सूचना करते हैं, यह मर्यादा अनुभूत पुरुषों ने ही वताई है, ऐसा सूत्रमें आनेवाला कथन अपलक दृष्टिसे देखकर दूर करने जैसी नहीं है वल्कि उसे अधिकसे अधिक चिंतन करने योग्य कहा है।

(३) इसलिए साधक सदैव सद्गुरुओं द्वारा वताई हुई दृष्टि से देखने में सद्गुरुद्वारा कही हुई अनासक्ति पालन करनेमें, सद्गुरुका पुरस्कार स्वीकार करनेमें सद्गुरुपर पूर्ण श्रद्धा रखने में उपयोग पूर्वक विचरे, सद्गुरुदेवके अभिप्रायका अनुसरण कर के विवेकपूर्वक भूमंडलपर विचरना ही नहीं वल्कि जाते, आते, उठते वैठते, मुड़ते तथा प्रमार्जन आदि करते हुए प्रत्येक क्रिया में सारसंभालके साथ सदैव सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक ही विचरे।

विशेष—असलमें यहां आज्ञाकी आराधनाका रूपक वताया है। कई

वार साधक सद्गुरु या उपसाधकोंके साथ रहते हुए एक भूलके बदले अनेक भूलें कर डालता है। यह भी स्वच्छन्दताका एक विभाग ही है सद्गुरुका अवलंबन जिस हेतु से रखा है वह हेतु न बनता हो,तो साधक उस अवलंबनके प्रति चाहे जितना मान दर्शाता या बताता हो, तो भी वह विकासकी साधको पूरा नहीं कर सकता। सद्गुरुकी सेवा, भक्ति या सत्संग फूलाफला कब गिना जाय, इसको स्पष्ट बताया है, और प्रत्येक साधकके लिए यह बात मननीय है।

(१) सद्गुरुकी बताई हुई दृष्टिसे देखते हुए अंतर्भावोंमें कोमलताका पाठ सीखना यह सद्गुरुकी भक्तिका पहला रूप है। कई वार साधक अपनी दृष्टिको साथमें रखकर सद्रुगुकी शरण खोजता फिरता है। ऐसे साधकको सद्गुरुकी प्राप्ति होना संभव नहीं। और कदाचित हो भी जाय तो उसका पचना भी कठिन है। कुछ समय कदाचित उस कल्पित भक्ति या मनोवृत्तिके वेगमें वह जाता है। वह सद्गुरुकी आज्ञामें रहनेका मनोभाव रखता है और कई वार आचरणमें भी लाता है। फिर भी जहां तक वह अपनी पहली दृष्टिको साथ रखकर गुरुदेवकी आज्ञाको देखता है वहां तक वह उसकी अपनी वास्तविक दृष्टिको नहीं पहुंच सकता या भीतरी लाभ भी नहीं उठा सकता। सबसे पहले अपने पूर्वके दृष्टिकोणोंको विल्कुल मिटा डालना चाहिए, नहीं तो एक या दूसरी रीतिसे वे दृष्टिकोण आकर उसकी साधनामें दखल दिए विना न रहेंगे।

(२) इसीलिए पूर्वाध्यासोंको भूल जाना चाहिए और आज तक जिसे अनासक्ति माना हैं वह नहीं वल्कि पूर्वाध्यासोंको विल्कुल भूलजानेकी अनासक्तिका मार्ग प्रकाशित करना चाहिए।

(३) सद्गुरु जब इसे जो कुछ दें, तो उसे वह उपहारके रूपमें स्वीकार करे, अर्थात् वे शिक्षा या प्रायश्चित्त, जो कुछ भी दें उसे प्रकृतिके प्रतिकूल होनेपर भी उसे सप्रेम स्वीकार करे।

(४) उन्हें उनकी वाणी पर पूर्ण श्रद्धा रखकर तदनुसार जीवन

निर्माण करना चाहिए क्योंकि जितने परिमाणमें श्रद्धा होती है उतने प्रमाणमें ही सद्गुरुका संग फलता है।

जीवनविकासके ये चार परम उच्च सद्गुण हैं, पर अहंकार और मोह को छोड़े विना वे सद्गुण अपने जीवनमें प्रवेश नहीं कर सकते।

इतना बताकर फिर सूत्रकार उपयोग पूर्वक विचारनेकेलिए कहकर सद्गुरुके प्रति इस सवको अंध अनुकरणसे नहीं वल्कि विवेकवुद्धि पूर्वक करनेको कहते हैं। इसमें सद्गुरु कैसा होना चाहिए, उनकी किस आज्ञाके वश होना चाहिए, यह उसका विवेक है। अन्यथा सद्गुरुके वहानेसे कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थ या वासनाका पोपण भक्तों द्वारा सहज रीतिसे कर सकता है। इस उलटी धारणाको दूर करनेकेलिए भक्ति अंधी न होकर जागृत हो रहनेकी सूचना की है। भक्तको तो वीर, विवेकी, नम्र, और विचारक होना चाहिए।

अंतमें प्रत्येक क्रियामें सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। इसमें तो सद्गुरु और शिष्य इन दोनोंकी योग्यताका साक्षात् चित्र खींचा गया है। शिष्यकी एक भी क्रिया सद्गुरुकी आज्ञाके वाहर नहीं होती और न होनी चाहिए, अर्थात् जिसने सर्वथा अपने आप को अर्पित कर दिया है वही शिष्य होता है, और सद्गुरु वह है जिसकी एक भी आज्ञा शिष्यके हितके विना और कुछ नहीं चाहती। सद्गुरु निष्पृहताकी मूर्ति है, यह प्रेमका सागर और पुण्यकी गंगा वहानेवाला है। उसमें शिष्यकी स्पृहा लय हो जाती है। अभिमानका छोटा गढ़ा सूख जाता है। और पातकका पुंज नष्ट होकर शुद्ध होता है।

(४) जंवू ! सद्गुणी मुनिसाधक, सवक्रियाओंमें उपयोग पूर्वक वर्ताव करता है। इस पर भी कदाचित शरीरसंस्पर्श (अपनी क्रिया) द्वारा किसी जीवको तकलीफ़ हो तो उसपापका उसी भवमें क्षय हो सके, ऐसी समदृष्टिके प्रयोगमें थोड़ासा पाप ही लगता है और कदाचित किसीको महाकारण वशात्

जान बूझकर पाप करना पड़े, तो उसके कर्म आचार्यदेवके पास यथोचित प्रायश्चित्त लेनेसे क्षय होते हैं। पर यह प्रायश्चित्त उपयोग पूर्वक आचरणमें लाना चाहिए। यह आगमके जानकार महापुरुषोंका उत्कृष्ट कथन है।

विशेष—सद्गुरु यदि चलनेमें सहायता न करें, तो उसकी आवश्यकता भी क्या है? यदि कोई ऐसा प्रश्न कर बैठे, तो इसका निराकरण इस सूत्रमें है क्योंकि सद्गुरु ही साधकको सब प्रकारकी सहायता देते हैं।

कई वार साधक पाप शब्दसे यहांतक भीरु बन जाता हैं,कि वह अपने जीवनविकाससे लगती उपयोगी क्रिया करते हुये भी पापसे कांपता हुआ वहुत ही डरता है। तब ऐसे समयमें उक्त गुरुदेव उसे सच्चा मार्ग बताकर पापसे छूटनेका विवेक समझाते हैं। और पापका संबंध शब्दके साथ नहीं वल्कि मुख्यतासे अध्यवसाय और गौणरूपसे क्रिया के साथ है, ऐसा महापुरुषोंने स्पष्ट कह बताया है।

परंतु जब पाप कर ही डाले हैं, फिर अपने पाप शायद वाहर न आ जायें, इसलिए उसे छुपानेका प्रयास करते हुए दूसरे पापोंको वढ़ा देतो है। तव इस पापके मूलकारणको खोजकर सद्गुरु तुरंत उन्हें निर्मूल करनेकी औषधि प्रदान करते हैं। कदाचित वृत्तिकी आधीनताके कारण शिष्य ऐसा न भी करे। इसलिए कहा है कि गुरुदेव की पूर्ण आधीनता स्वीकार की हो, तव ही पापोंका निवारण किया जा सकता है और प्रायश्चित्त भी तव ही सफल होता है।

सत्पुरुषकी आज्ञाकी आराधना करनेकी आवश्यकता सूत्रकारने पहले सूत्रसे चौथे सूत्रतक बताई है। अब पांचवेंसूत्रसे लेकर इस उद्देशकके अंत तक वे मोहकी मीमांसा कर के बताते हैं।

स्त्रीमोहमें रहकर साधक स्वच्छंदी मानसपर प्रभाव डालनेवाला प्रलोभन और इस स्वच्छंदी मानसमें मुख्य भाग ले सकने की नाट्यवृत्तिसे विकासमार्ग के पथिकको पद पद पर रोकनेवाला आवरण तथा

महासमर्थ शक्तिमानोंको झुकादेनेकी शक्ति रखता है। साधकको सद्गुरु तथा सत्संगके प्रभावके नीचे सतत जागृत रहनेकी आवश्यकता इसी दृष्टि से है। इसे बतानेकेलिए सूत्रकार अब इसी वस्तुको बड़ी गंभीर रीतिसे गहरे विचारसे इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि :—

(५) आत्मार्थी जंबू ! सुन, दीर्घदर्शी, बहुज्ञानी, क्षमावान् पवित्रवृत्तिवाले, सद्गुणी और सदा यत्नवान साधक स्त्री आदि मोहक पदार्थोंको देखकर यह विचार करे, कि यह वस्तु मेरा क्या कल्याण करेगी ? इस संसारमें स्त्रियोंका मोह ही चित्तको अतिशय उलझनोंमें डाल देता है। ऐसी हितशिक्षाएँ बार बार श्रमण भगवान महावीरने दी हैं उनका रातके तीनबजे बाद चिंतन करे।

विशेष—चौथे सूत्रके उत्तरार्धमें साधक जीवनमें भूलसे या सहज रीतिसे होनेवाली हिंसात्मक क्रियासे संबंधित उल्लेख किया है। यहां वासनाका उल्लेख है। हिंसा लालसासे उत्पन्न होती है। और मोह वासनासे उत्पन्न होता है। इसप्रकार लालसा और वासना दोनों चित्त-विकार और संसारके बीजरूप हैं। परंतु लालसाकी अपेक्षा वासना अधिक हानिकारक है। लालसाको स्वयं या दूसरे देख सकते हैं, परंतु वासना गुप्त होती है और प्रच्छन्नरीतिसे रहकर ही यह अधिक फलती फूलती है।

दीर्घदर्शी, ज्ञानी, सहिष्णु, पवित्र तथा उपयोगमय जीवनवाला आदि साधकके इन सब विशेषणोंको काममें लानेके पीछे एक रहस्य है। और वह रहस्य यह है, कि ऐसा उच्चकोटिका साधक भी ज़रा असावधान हुआ, कि वासना के आगे पामर बनकर झुक जाय तो उसका पतन होते देर न लगे, क्योंकि जहां तक वासनाका संपूर्ण क्षय न हुआ हो, वहां तक वृत्ति-पर स्थापित किये गए संस्कार, अभ्यास मनको पदार्थोंकी ओर खींच लेते हैं, ऐसा मानसशास्त्रिओंका कथन है। परंतु मनके गये पीछे भी

क्रियाओंके रूपमें परिणमित न हो जाय इससूत्रमें साधक को ऐसी चेतावनी दी है ।

वृत्तिका संस्कार वाह्य मन तक पहुँचा हो, वहां तक ही इसको रोका जासकता है। चेतनकी शक्तिसे वह शक्य भी है। पर वह संस्कार जितना क्रियामें परिणत होगा,उतना ही वह रूढ़ और दृढ़ होता जायगा। रूढ और दृढ संस्कार अध्यासका स्वरूप धारण कर लेते हैं और वे अध्यास प्रत्येक क्षेत्रमें साधकको पीडित करते रहते हैं। इसीलिए सूत्रकार वासना जन्य मोहको पदार्थपर जाते समय रोकनेका उपाय वताते हुए कहते हैं कि सामने दिखनेवाले पदार्थो पर मोह उत्पन्न होने लगे तव ज्ञानपूर्वक इतना विचार अवश्य करे कि "इस वस्तुमें मेरा कल्याण करनेका कितनी शक्ति है ?"

यहां पदार्थमात्रके प्रति मोहत्यागकी वात कहनेका सूत्रकारका आशय गहरा है,तव भी यहां प्रधानतया स्त्रीशब्दका निर्देश है। इसके पीछे कुछ खास रहस्य है और वह अति चिंतनीय है। स्त्री प्रकृतिशक्तिका प्रत्यक्ष प्रतीक है। सांख्यप्रणालिके अनुसार पुरुषसे जो कुछ पृथक् है वह सव प्रकृतिका परिवार समझा जाता है। यहां सूत्रकार स्त्री और पुरुषके वीचका जो एक विलक्षण आकर्षण है उसे ही विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं।

पुरुष जैसे चैतन्य शक्तिका विकसित आकार है; उसी तरह स्त्री भी चैतन्य शक्तिका विकसित अंश है। दोनों पूर्णता पानेके इच्छुक हैं। किसी एक भूमिकामें दोनों विकासकी दृष्टिसे इन दोनों का साहचर्य निर्माण सहेतुक अर्थात् विकासमार्गमें उपयोगी होनेकेलिए हुआ है(होता है)वे एक दूसरेके पूरक COMPLETES हैं।

परन्तु आदमी वासनाके आधीन होकर चैतन्य शक्तिका सदुपयोग करनेके वदले वहुधा शक्तिका दुरुपयोग करते देखा गया है। आज तकके जगतके इतिहासमें यह वास्तविकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जहां तक स्त्री और पुरुषकी वाह्यदृष्टि ऊपरके वेष्टन(देह)की ओर जाती है और यह

उसीमें आकर्षणकी भी तृप्तिका मार्ग ढूंढनेका प्रयत्न करता है वहां तक इन दोनोंका निरीक्षण या मिलन नीचे(अधःपतन)की भूमिका पर ही खिंचा चला जाता है, परन्तु जब यह समझा जाता है,कि इसे जो आकर्षित करता है वह यह वेष्टन नहीं है बल्कि इसे धारण करके रखनेवाला चैतन्य है तब ही इस शरीरके उस पार रहनेवाला चैतन्यके सौंदर्यकी ओर मुड़ेगा; और उसी समय उसे शक्तिके दर्शन होते हैं। यह बात जिसे मालूम हुई है,ऐसा साधक ही अपना विकास साध सकता है। परन्तु भला जहां मोह अपना काम बेधड़क होकर करता हो, वहां देहदृष्टि मिटकर चैतन्यदृष्टि कहांसे प्रगट हो ? और विकासकी साध भी कैसे पूरी सध सकती है।

स्त्री और पुरुषके शरीर जन्य मोहके आकर्षणका स्वरूप दिया जाता है यह भी एक दूसरा भ्रम है। केवल शरीरकी दृष्टिसे होनेवाला आकर्षण मोह है, यह वास्तविकता अज्ञानके कारण है। इस दृष्टिकोणसे सूत्रकार कहते हैं कि "इस संसारमें स्त्रीका मोह ही चित्तको अतिव्याकुल करनेवाला है" कारण इस विकृतिमें शक्तिका सीधा ह्रास है। इतना ही नहीं बल्कि यह व्यामोह शक्तिके विकासका मार्ग भुला सकता है। इसलिए साधक यही विचार करे कि "क्या स्त्रीका मोह मेरा कल्याण करनेवाला है ?"

इस विचारके पीछे स्त्री पुरुषके भेदका उलझा हुआ प्रश्न स्पष्ट होजाता है। मोह और आकर्षण दोनों अलग अलग वस्तु हैं। उसकी भी इसमें प्रतीति होती है। आकर्षणको तीरकी क्रियासे भी पहचाना जा सकता है। धनुषमें तीर को पिरोकर फेंका जाय तो वहां फेंका जा सकता है तब तीर वेगके नियमके आधीन है। तीरको फेंकनेवाला नहीं। इस रीतिसे जहां तक वासनाका बीज होता है, वहां तक आकर्षणका होना गिना जाता है, मोह नहीं।

आकर्षण होनेके साथ जड़ विवशतामें चैतन्य भान भूले तो मोहका उद्भव होना संभव है। यह आकर्षण और मोह बिल्कुल विरोधी वस्तुएं

हैं। यद्यपि इस आकर्पणमें भी अशुद्ध अंश कारण भूत है। चैतन्यके उच्चस्तर प्रदेशोंमें वाह्य आकर्पणका नियम भी वाधित नहीं हो सकता, परन्तु जहां तक चैतन्यका इतना अधिक विकास न हुआ हो, वहां तककी भूमिकामें आकर्पण अनिवार्य होनेसे उसे दवाया नहीं जा सकता, परंतु मोहको दवाया जा सकता है।

आकर्पण अर्थात् खिंचना और मोह तो पूरा उच्चाटन ही है। स्त्री और पुरुपके वीचके आकर्पणके पीछे नैसर्गिक शक्तिका कुछ संकेत है, परन्तु व्यग्रताके पीछे नैसर्गिक शक्तिकी केवल अवहेलना है। स्त्री पुरुप के वीचके आकर्पणका कारण समझनेकी योग्यता जो पुरुप नहीं जानता उसे गृहस्थाश्रम भी वोझ रूप हो जाता है। इस आकर्पणके मूलकारण को समझे विना एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रतकी भावनाकी संभावना नहीं है। ऊपरकी वस्तु प्रसंगोचित है तो भी उच्चकोटिकी विवेकवुद्धिके विना उसे समझा नहीं जा सकता।

एक स्त्री पुरुपकी ओर या एक पुरुप स्त्रीकी ओर आकर्पित होता है इसका कारण उन दोनोंका ऊपरका शरीर नहीं वल्कि शरीरके उस पार रहने-वाला कोई तत्व है। यह तत्व प्रजा-उत्पत्ति की भावनाको पैदा करता है, और इसकारणको लेकर संयोगकी योजना की जाती है। और वह योजना भी दोनों व्यक्तियोंकेलिए अनिवार्य हो जाती है। परंतु उतनी भूमिका तक पहुँचे हुए जो दोनों दम्पती स्वाभाविक होते हैं वे ही उस आकर्पणको पचा सकते हैं और आदर्श गृहस्थाश्रमी वन सकते हैं।

परंतु जहां आकर्पणका हेतु शरीर माना जाता है, वहां वह आकर्पण न होकर केवल मोह है। मोह भयंकर विकार है, फिर भी जव इसे आक-र्पणके नामका वहाना दिया जाता है, तव तो यह विकृति अधिक विकारी वन जाती है। और ऐसे स्त्रीपुरुप विवाह वंधनमें जुड़कर उन्नत भावनाकी एकता करना चाहते हैं। परन्तु उनके आशयकी अशुद्धिके कारण ऐसा होना अशक्य सिद्ध होता है। यहां सामान्य मोहकी अपेक्षा स्त्रीमोह को विशेपकर इसलिए वताया है कि पदार्थमोह और स्त्रीमोहमें वहुत बड़ा

अन्तर है। पदार्थमोहमें आत्माके दिव्य और उदार स्वरूपको भूलनेका प्रकरण जरूर बन जाता है। यह भी ठीक है, कि पदार्थमोहसे संकुचितता आ जाती है परन्तु उसकी कालमर्यादा बहुत दीर्घ नहीं होती पदार्थोंकी विविधतामें ज्ञानके अंशको भी बदल देनेकी शक्ति है, स्त्रीमोहमें ऐसा नहीं है। स्त्रीमोहमें तो ज्ञानके अंशोंके ऊपर ही आवरण छा जाता है। इसलिए यह बड़ी विकृति है। अतः वासना और लालसाका तारतम्य खूब चिंतनीय है।

मोहसे कोई एक व्यक्ति एक शरीरमें बेचैनी देखता है, तब यह मान लिया जाता है कि वह अमुक व्यक्तिपर मोहित है, परंतु इसमें दृष्टि की भूल है। जहां व्यक्तिके व्यक्तित्वके बदले व्यक्तिके देहपिंड(हाड़पिंजर) को देखकर उसपर मूर्छित होता है वहां व्यक्ति मोहका होना भी असंभव है। जो एक पिंडको देखकर आसक्त होता है, वह दूसरे कंकालको देखकर उच्चाटन करेगा ही। चाहे वह देखनेकी शक्तिके अभावमें प्रत्यक्ष न दीखता हो।

इसरीतिसे इसकी असमंजसता बढ़ती जायगी। स्त्रीजाति और पुरुष जातिके बीचकी यह उलझन कई युगोंसे उलझी पड़ी है। आकर्षण और मोहके न सुलझनेसे स्त्री और पुरुष एक दूसरेको देखते ही उत्सुक हो जाते हैं। एक दूसरेके अङ्गोपांग देखनेको ललचाते हैं। यह स्थिति अर्थात् मोह और व्याकुलताकी प्रतीति देनेवाला बाह्य क्रियात्मक प्रतिबिंब है। व्याकुलता और आकर्षण का भेद समझा न जा सके, वहां तक एक पत्नीव्रत या ब्रह्मचर्यकी साधनाकेलिए किए गए बाह्य उपचार केवल उपचाररूप बने रहते हैं, परंतु उपचार अमुक दृष्टिकोणसे आवश्यक भी हैं। वासना को निर्मल बनानेकेलिए या उसे क्षय करनेकेलिए जो कुछ अनिवार्य उपयोगी है उसे इस सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं। और वह है एक मात्र स्त्री या पुरुषके मोहके मूलकारणका निवारण!

उपचारोंका स्थान इस पीछेके सूत्रमें आता है यह सब समुचित है। इसप्रकार इतना रहस्य समझनेके बाद सहजमें समझा जा सकेगा। इससे

इतना सिद्ध हुआ, कि स्त्री पुरुपके बीचमें लिंगभिन्नता भी बाह्य उपचार है। और वह शरीरकी दृष्टिसे है, ज्ञानदृष्टिसे नहीं। इस भानकी उच्च-कोटि तक पहुँचनेका मनोभाव और शक्ति है, वे ही पूर्णत्यागके अधिकारी हैं। ऐसे आदमी ही आकर्पणसे दूर रह सकने में समर्थ हो सकते हैं और सहज ही अनासक्त रह सकते हैं। परंतु जो अब तक लिंगभिन्नताको देख-सकनेकी दृष्टिकी भूमि पर हैं, फिर भी जिन्हें शक्तिको विकसानेकी आंतरिक अभिलापा है, उनकेलिए आकर्पण संभव है। परंतु आकर्पणको न पचा सके और असमंजसमें पड़जानेकी भूमिका भी (मोहके पूर्वअभ्यासोंको लेकर) उनके साथ ही रहती है, इसीसे उनको नियमन पूर्वक आकर्पक निमित्तोंसे दूर रखकर आकर्पणके कारणोंको खोजनेजितना त्याग उपयोगी सिद्ध होना मानकर परिमित त्याग (गृहस्थ दीक्षा) अपूर्ण कराया जाता है। "स्वदारसंतोप', की व्रतभावनामें एकपत्नीव्रत तो है ही। परंतु एक पत्नीमें भी मर्यादित ब्रह्मचर्यका स्थान बताकर प्रजा(संतान)उत्पत्तिका हेतु निर्मोही भावनासे ही फलता है ऐसा कई निगूढ़भाव दर्शाते हैं। ऐसे अणुत्यागीको भी त्याग अनासक्ति जगानेकेलिए है, ऐसा भान रहने पर उसकी दो स्थिति होती हैं। या तो वह आकर्पणसे पार हो जाता है, यानी त्यागकी सिद्धिमें पूर्णत्यागरूपेण सहज पार उतरता है या फिर आकर्पणके कारणको समझकर आकर्पणको भोग लेता है। आकर्पणसे पार उतरना या आकर्पणको भोग लेना, इन दोनों क्रियाओंके बीचमें स्थिति, स्थान और व्यवहारकी दृष्टिसे महान अंतर है। फिर यदि इन दोनों साधकोंको साधकदृष्टिसे देखा जाय, तो उनके आशयोंमें ज़रा भी फ़र्क़ नहीं है। परिणाम भी दोनोंका बराबर है। केवल हेर फेर हो तो उस समयकी शीघ्रता या विलंबका है। पहला साधक शक्तिकी तीव्रताके कारण विकासको शीघ्र साध लेता है। दूसरेको शीघ्रतासे ऐसा होना शक्य नहीं है। तो भी ज्ञानी जनोंकी दृष्टिमें इन दोनों स्थितिओंके साध-कोंका साधकके रूपमें तो स्थान है ही, क्योंकि दोनोंको त्यागके हेतुका भान यही समझकर हुआ है।

त्यागका यह दृष्टिकोण जैनधर्ममें 'अगारिधम्मो अणगारी धम्मो' अर्थात् गृहस्थ और भिक्षु त्यागी। इसीप्रकार बौद्धदीक्षा प्रणालिकामें भी परिमित-कालीन दीक्षाके ढंगसे और वेदधर्ममें ब्रह्मचर्याश्रमके बाद ही गृहस्थदीक्षा या त्यागी दीक्षा ली जा सकती है, ऐसे ढंगसे इस प्रकार या किसी दूसरे रूपमें।

इसप्रकार आकर्षण और मोहकी गहरी मीमांसाके बाद यह प्रश्न होता है, कि मोहनिवारणके उपाय क्या हैं? त्याग या भोग? सूत्रकार यहां मोहनिवारणका उपाय ज्ञानकी मुख्यता बताते हैं। त्याग और भोग दोनों ज्ञानीको ही पच सकते हैं। ये दोनों अज्ञानीको तो गिरानेवाले हैं। एकसे चित्तका परिताप और दूसरेसे मुख्यतया देहका परिताप होता है।

(६) मोक्षार्थी शिष्य! (प्रयत्न करते हुए भी यदि वासना के पूर्वसंस्कारोंके वश होकर) मुनिसाधक विषयोंसे पीड़ित हो जाय तो वह इंद्रियों के उत्तेजित होनेपर रोकते हुए) बहुत निर्बल (रूखा) आहार करे। भूखसे कम खावे, एक स्थानपर खड़ा रह-कर कायोत्सर्ग करे या दूसरे गांव चला जाय। इतना कुछ प्रयत्न करने पर भी यदि मन वशमें न हो, तो आहारका त्याग भी कर डाले, परंतु स्त्रीसंग (अब्रह्मचर्य सेवन) तो कभी न करे।

विशेष—आकर्षणकी विवशतामें मोहका जन्म होना प्रायः संभव होनेसे इस सूत्रमें आकर्षणको वशमें करनेके प्रयोगोंसे मिलती जुलती बात सूत्रकार महात्मा कहते हैं कि विषयोत्पादक निमित्तोंका त्याग स्वीकार करनेके बाद भी विषयोंका जागृत होना जिन जिन कारणोंसे संभव होता है, वह बाह्य और आंतरिक सूक्ष्म अवलोकनके बादका यह निर्देश हो ऐसा समझा जाता है।

आहार पर भी विषयोंकी उत्तेजनाका बड़ा आधार है 'जैसा अन्न वैसा मन" यह सूत्र भी विचारने योग्य है। रसल, स्वादु और तीक्ष्ण भोजन विषय वृत्तिको उत्तेजित करता है। इसलिए यहां रूखा सूखा आहार

खानेकी सूचना की है। अल्पाहारका भी उतना ही महत्व है। साधनरूप शरीरसे काम लेनेकेलिए आहारकी आवश्यकता है, इंद्रियोंको उत्तेजना देनेकेलिए नहीं। इतनी साधारणसी वात हरेक साधक समझता ही होगा, तो भी पदार्थोंके स्वाभाविक रसके वदले तेल, मिर्च, खटाई, मिठाई, आदि अनेक वस्तुओंको रसमिश्रित करके भोजन पकाए तथा खाए जाते हैं। ऐसा करनेसे खुराकके-लिए खाना नहीं होता, खानेकेलिए खुराक वन जाती है।

इसरीतिसे व्यर्थव्यय और पाप दोनों वढ़ते हैं, और शरीरको पूरा श्रम न मिलनेसे इंद्रियों पर उस आहारका बुरा असर पड़ता है। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है, कि रूखा और अल्प आहार प्रत्येक साधक के शरीर और मन दोनोंके आरोग्यकेलिए उपयोगी है।

सूत्रमें एक स्थान पर खड़ा रहकर कायोत्सर्ग करना भी कहा है, परंतु वह शरीरको कसनेकी दृष्टिसे है। ये सव प्रयोग वड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं तथा साधकको कई वार पतनसे वचा लेते हैं। फिर भी इतना करनेसे कार्यकी पूर्ति नहीं होती। वाहरके उपचारोंसे तो कुछ विषयोंका शमन होता है, अर्थात् वे अधिक पीड़ित न करें, इतना वन सकता है तो भी उससे वासनाका विजय हो ही गया है ऐसा निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसलिए स्थानान्तर करनेकी भी सूचना की है। इसमें दो दृष्टिकोण हैं। एक तो वहुतवार अमुकस्थान ही ऐसे होते हैं, कि मनुष्यपर वहांके प्रवल आन्दोलनोंका प्रभाव पड़े विना नहीं रहता। तत्वज्ञानी त्यागी या चिंतनशील पुरुषों का जहां वहुत रहना होता है, वहांका वातावरण वहां वैठनेवाले या रहनेवाले पर उसका वैसा ही प्रभाव उत्पन्न होनेका अनुभव होता है। इसीतरह दूषित वातावरणका भी बुरा प्रभाव पड़े विना नहीं रहता और दूसरे उस स्थानमें वासनाको उत्तेजित करनेवाले वाह्यनिमित्त हों,तो भी वाधा करनेवाले सिद्ध होते हैं इन दोनों दृष्टिओंसे स्थान परिवर्तन भी आवश्यक है और इससे लाभ होना भी स्वाभाविक है।

प्रतिगांव अप्रतिवद्ध विचरते रहने पर भी चतुर्मासके चार महीनों में भिक्षुकको एक स्थानपर रहनेकी आज्ञा है इसका कारण यह है,कि चौमासमें जीवोंकी अधिक उत्पत्ति होनेसे अयतनासे बचा जाता है। वर्षाविहार में उपस्थित होनेवाली अशक्यताएं टल जाती हैं, और ज्ञान, ध्यान तथा तपकेलिए भी यह ऋतु अनुकूल है। इसलिए जैनशास्त्रमें मुनिसाधककेलिए चतुर्मासमें घूमना वर्जित किया है। तव जहां चतुर्मासमें भी विहार कर जानेकी सूचना की है उसके पीछे महान हेतु है। जैनदर्शन नैसर्गिक दर्शन होनेसे उसके नियम नैसर्गिक नियम पूर्वक हेतुपुरःसर वनाए गए हैं। मात्र हेतुको यथार्थ समझकर उन नियमोंका पालन करना उचित है। और यह इसकी मर्यादा भी है।

जितनी हानि साधकको विषयोंके ध्यान करने से होती है उतनी हानि वर्षाऋतुका विहार नहीं करती। वर्षाऋतुके विहारमें जो दोष है, उसकी अपेक्षा विषयोंके ध्यानमें अधिक दोष है, इसदृष्टिसे विहार क्षम्य है और इस प्रसंगमें तो यहां तक वताया है, कि आहारको सर्वथा छोड़कर जीवनको संक्षिप्त करना ठीक है। परन्तु अव्रह्मचर्यका सेवन करना ठीक नहीं है। अव्रह्मचर्यमें आत्मघात है। शरीरघातकी अपेक्षा आत्मघात अधिक भयंकर है। इसलिए साधकको दूसरे सब व्रतोंमें अशक्य परिहारको स्थान देकर मर्यादापूर्ण(जितना)अपवादका स्थान रक्खा गया है, परन्तु ब्रह्मचर्यव्रतमें ऐसा नहीं किया है। मन, वाणी और कायका अव्यभिचार ही ब्रह्मचर्यकी सर्वांग साधना है।

(७) (गुरुदेव ! मुनिसाधककेलिए प्राणत्याग करना अच्छा है परन्तु स्त्रीसंसर्ग न करे, यह कहकर आत्मघातकी अपेक्षा स्त्रीसंसर्गको विशेष दूषित वतानेका कारण क्या होगा? इसे आप कृपा करके स्पष्ट समझाएँ)आत्मार्थी जंबू ! स्त्रियों में फंसनेसे(अव्रह्मचर्य सेवन करनेसे)पहले बहुतसे पापसेवन करने पड़ते हैं, और उसके बाद ही कामभोगका सेवन हो सकता

है। (चेतनको बेचे विना विकारकी तृप्ति शक्य नहीं)और कभी कोई पहले कामभोगका सेवन करे तो पीछेसे पाप सेवन करने पड़ते हैं। इस प्रकार यह स्त्रीसंसर्ग साधनामें अपार रुकावट OBSTACLE उत्पन्न करनेवाला है। यह सब अच्छे प्रकार गंभीरतासे जान(विचार)कर मुमुक्षुसाधक इससे सदैव दूर रहे; उसका सेवन कदापि न करे।

विशेष—परन्तु ऊपरके सूत्रका कोई उलटा अर्थ न करले, इसीलिए इस सूत्रमें विशेष स्पष्ट किया है। अब्रह्मचर्यकी क्रियासे विषयोंकी वासना को वेग मिलता है और विषयोंकी वासनाका वेग जहां तक चित्तपर अपना प्रभाव डालता है वहां तक किसी भी साधनामें सफल नहीं हो सकता।

जिस तरह एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं, इसीभांति चित्त पर विकार और संस्कार दोनों एक साथ नहीं रह सकते। संस्कारी जीवन पर ही तो विकास का आधार है। इसीलिए इसदृष्टिसे अब्रह्मचर्यकी क्रिया का कठोर निषेध किया गया है।

जो महापुरुष एक अपघातसे अनेक अधमगतिके जन्ममरण भोगनेकी बात कहते हैं, वे ही महापुरुष अपघात तककी क्रियाको क्षम्य गिनते हैं। इसके पीछे विशेष रहस्य है। ऊपरके सूत्रमें उस रहस्यका स्फुटीकरण मिलता है। अब्रह्मचर्यकी क्रिया स्वयं इसलिए दूषित है, कि उसके पहले या पीछे अनेक प्रकारके मानसिक दंड भोगने पड़ते हैं। कामसे,क्रोध,क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे पतन, इस प्रकार इसके पीछे सबकी सब पतनकी श्रेणी आरम्भ होती हैं। इस दृष्टिसे यह क्रिया दूषित है, और साधककेलिए वह त्याज्य है।

(८) (गुरुदेव! विषयवासनाके जो संस्कार वृत्ति पर स्थापित हुए हैं, वे पतनके कारणभूत बन जाते हैं। इसलिए

ये दूर करने योग्य हैं इसे मैं ठीक समझ गया हूं; परन्तु भगवन् ! निमित्तोंको इतना महत्व किसलिए दिया गया है ? फिर क्या ये केवल पुरुष साधककेलिए ही होते होंगे या स्त्रीसाधिकाकेलिए भी होते हैं ? गुरुदेवने कहा कि:– आत्मगवेषक शिष्य ! यह कथन केवल स्त्रीसाधिका या केवल पुरुषसाधककेलिए ही नहीं है,वल्कि इसका संवंध दोनोंके जीवन के साथ है। यद्यपि स्त्री और पुरुषकी शरीर रचना भिन्न भिन्न होकर इनके वोलनेके ढंग भी अलग अलग तरहके होते हैं। परन्तु वासनाका संवंध तो दोनोंके साथ होता ही है। आत्म-उपासक जंवू ! विषयवासना पर विजय पानेकी साधना करने वाला यदि विषयवासनाके निमित्तोंको खुला छोड़कर साधना करने वैठे, तो वह निष्फल सिद्ध होती है। इसलिए वार वार प्रत्येक महापुरुषने कहा है कि :–)वासनाका नाश करनेको इच्छा रखनेवाले साधकको स्त्रियोंकी शृंगार कथा न करनी चाहिए, स्त्रियोंके अवयव न देखे, स्त्रियोंके साथ एकान्तमें गाढ परिचय न रक्खे, स्त्रियोंसे स्नेह न करे, स्त्रियोंके अङ्गोंको छूकर सेवा न करे, अधिक क्या कहा जाय स्त्रियोंके साथ वातचीत करते हुए भी मर्यादित रहे। सारांश यह है, कि अपना मानसिक संयम अच्छे प्रकार सुरक्षित रखकर पापाचारसे सदैव डरता (दूर)ही रहे।

विशेष—वासना पतनका मूल है। अब्रह्मचर्यकी क्रियासे. वासनाको पुष्कल वेग मिलता है। यह सुन कर साधक वहुधा वासनाका स्थान कहां है, वह किसपर और कैसा प्रभाव उत्पन्न करता है, इसका मूल क्या है इत्यादि वातोंकी गहराईमें जाकर न समझे या न विचारे तो उसकी दशा

दुर्विदग्ध हो जाती है। बहुधा स्त्रीजातिके प्रति पुरुषोंकी और पुरुषजातिके प्रति स्त्रियोंकी घृणा या तिरस्कारकी वृत्ति जाग उठती है यह ऐसी ही दुर्विग्धदशाका परिणाम है। इसमें यह शक्ति और आशय की दूष्यता दोनों कारणभूत हैं। विना शक्तिका त्याग यदि निमित्तों पर द्वेष उत्पन्न करे, तो इसमें क्या आश्चर्य है। और वह द्वेष उपादान में अधिक अशुद्धि पैदा करता है। यह वात भी उतनी ही चिंतन करने योग्य है। ऐसे साधक वासनाके संस्कारोंका निर्मूल करनेका प्रयत्न करनेके वदले जगत पर घृणा करनेमें समय वर्वाद करते देखे गए हैं।

अनुभव भी यही कहता है, कि स्त्रियों पर या पदार्थोंपर घृणा करने वाला पदार्थोंकी भर पेट निंदा करता है। पदार्थोंके सामने वुरका Veil डालकर रखता है, तो भी इस वारीक वुरकेमें से अपनी वारीक धारवाली SHARP और तीक्ष्ण Bitter दृष्टि फेंके विना नहीं रह सकता। एक ओर घड़ी घड़ी इसके सामने देखता है, और भोगनेकी वृत्तिका पोषण करता है और दूसरी ओर तिरस्कारकी वृत्तिसे काम लेता है। इसका परिणाम दोनों प्रकारसे वुरा होता है। एक तो पदार्थके प्रति द्वेष, ईर्ष्या या निंदासे उसका मानस अधम वनता चला जाता है और दूसरे वाह्य भोग न करते हुए पदार्थोंके प्रति भोगवृत्तिसे आंतरिक वासनाका वेग वढ़ता जाता है, ऐसे त्यागीको त्याग नहीं पचता, वल्कि उलटा दुगना पतन करता है। इसलिए भोगसे वासनाकी तृप्ति नहीं वल्कि भोगके घी से वासनाकी आग वढ़ती है। ज्ञानी पुरुषोंका ऐसा दृढ़ अनुभव होने पर भी ऐसे गृहस्थ साधकोंके लिए परिमित भोगोपभोग क्षम्य गिना गया है।

परन्तु जो कुछ क्रिया की जाय जागृति पूर्वक की जाय। जिस इच्छित की सिद्धि पदार्थोंके भोगसे पाना चाहता हो, वह पदार्थके भोगसे नहीं मिल सकती वल्कि उन पदार्थोंका उपभोग करनेके (सद्विचार और गंभीर अवलोकन करनेके)वाद विवेकवुद्धि स्वयं उत्पन्न होगी, यह वारंबार समझाया गया है।

इससे यह सिद्ध होता है; कि क्रिया या पदार्थ स्वयं दूषित नहीं है, बल्कि उसके पीछे रहनेवाली वासना दूषित है। पदार्थ तो मात्र निमित्तरूप हैं। इस सूत्रमें भी ऐसा ही तात्पर्य है। "विषयोत्तेजक कथा न करे, विषयोत्तेजक प्रश्न न पूछे, विषयवर्धक दृश्य न देखे, विषयोत्तेजक पदार्थका ममत्व या ऐसी क्रिया न करे और वहां तक अपने मनको भी न जाने दे" यह कहकर मन, वाणी और कर्मके निमित्तोंको दूर रक्खा जाय-अर्थात् आत्माभिमुख बननेकी सूचना की गई है। इससे इतना फलित होता है, कि जहां तक उपादान शुद्ध न हो वहां तक निमित्त उत्तेजना किये बिना नहीं रहते। इसलिए निमित्तोंसे संभलकर रहना पड़ेगा।

उपसंहार—साधकको अवलंबनकी अपेक्षा तो होती ही है परन्तु उससे अवलंबन लेनेवाला जागृत न रहे तो चल सकेगा, इस प्रकार कोई न मान बैठे ! गुरुकुलमें बसनेवाले साधकोंको भी सतत जागरूक रहना तो पड़ता ही है। जिसका मन चंचल है और इन्द्रियां परवश हैं वह साधक निमित्तोंकी लापर्वाहीका सेवन करे, तो मन और देह दोनों द्वारा देर या सवेर पतनको प्राप्त होता है : ऐसा अनेक ज्ञानियोंका अनुभव है।

भोगसे भोगकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि उलटी वृत्ति उत्तेजित होती है। इससे ऐसी सूक्ष्म मानसिक त्रुटिकी उपेक्षा करना भी महाभयंकर है। इसकेलिए तो जीवन जाय वहां तक अर्पण होनेकी सतत तैयारी और त्यागकी तमन्ना होनी चाहिए, तब ही साधक साधनाके मार्गमें स्थिर रह सकेगा और स्वतंत्र बन सकेगा।

सद्गुरु शरण (अर्पणता) की महिमा अहंकारको लय करके अनासक्त होनेकी सूचना करता है। अहंकार और मोह ये दोनों

परतन्त्रताके वीज हैं। और इन दोनों के लयमें स्वतंत्रताकी उत्पत्ति है। जितने अंशमें अहंकार और मोहका दवाव कम होता है, उतने ही अंशमें वह साधक प्रत्येक क्षेत्रमें स्वयं स्वतंत्र वनता जाता है, और अपनी सच्ची स्वतंत्रताका प्रभाव औरों पर भी डालता है।

सत्पुरुषकी आज्ञामें सर्वथा अर्पण होनेमें पूर्णविकास और पूर्ण स्वतंत्रतांकी प्राप्ति है।

लालसा और वासना दोनों चित्तवृत्तिके विकार हैं। चित्तके शुभ संस्कारोंके विना समता और आल्हाद शक्य नहीं, क्योंकि विकार और संस्कार दोनों साथ साथ नहीं रह सकते।

स्त्री या पुरुष नरकका द्वार नहीं है। स्त्रीमोह ही चित्तको उलझनमें डालनेवाला है। मोह या वासना ही नरकका द्वार है। जितनी मोह या वासनाकी आधीनता होगी उतना ही आत्मघात होगा। और मोह विजय ही पूर्ण स्वतंत्रता—आत्म-मुक्ति है।

इसप्रकार कहता हूँ

लोकसार अध्ययनका चौथा उद्देशक समाप्त।

पाँचवां उद्देशक
अखंड विश्वास

चौथे उद्देशकमें स्वातंत्र्यकी मीमांसा की गई है, अब यहां सूत्रकार एक और नवीन बातकी चर्चा छेड़ते हैं कि इसप्रकरणमें जो जो विषय विचारे गए हैं, वे प्रत्येक साधकके जीवन में नित्यप्रति बनते प्रसंगोंके बाहरके विषय नहीं हैं, परन्तु उन प्रसंगोंका अवलोकन करके उसमेंसे उसने अनुभवका लाभ नहीं लिया था। तो भी जब कोई आदमीके सामने प्रस्तुत होता है तब उसकी बुद्धि जितनी Expert निष्णात बनती है, आत्मा पर उसकी बुद्धिसे जितना आधिपत्य जमाया हो, उतनी ही वह बुद्धि उग्र-कुशल होकर कहलवा देती है, और मनवालेती है कि इसे तो मैंने बहुत बार देखा है, विचारा है और अनुभव किया है परंतु यह बात ठीक नहीं है। वास्तवमें वह तो अनुभवमें है विवेक बुद्धि और अन्तःकरणकी समन्वय जन्य क्रियाके बादका दृढ़ निर्णयका प्राधान्य। और कल्पनामें होता है केवल मनोमय सृष्टि का अर्थात् प्रायः विकल्पोंका प्राधान्य। कल्पना और अनुभवके बीचमें बड़ा अन्तर है। कल्पनामें परको अपना मनवाया जाता है। अनुभवमें अपना होने पर भी अपना मनवाने का आग्रह नहीं होता।

अनुभवी आदमी में (शुद्धजलकेकुंड) जैसी गंभीरता तथा समझकर समाजानेके समान सहजता रहती है। परंतु

कल्पनावालेकी स्थिति तो अधभरे घड़ेके समान है। जरा निमित्त मिला, कि घड़ा झट छलक गया। यद्यपि कल्पनामें भी दृष्टि या अनुभूति दृश्यों के अमुक अंशगत संस्कार कारणभूत तो होते ही हैं, परंतु संस्कार कुछ सब अनुभवजन्य या सांगोपांग सत्य हों ऐसा नहीं बनता। संस्कार शास्त्रके अभ्यासी यह कहते हैं, कि:-संस्कारके तीन भेद (१) परम्परागत, (२) वातावरण और (३) स्वसर्जित (अपने रचे हुए)। बाप दादाओंसे उतरकर आने वाले संस्कारोंको परम्परागत संस्कार कहते हैं, लगभग जगतका बहुत बड़ा मानववर्ग इसरीतिसे विचारोंके, मान्यताओंके, धन और धर्मकी विरासत Inheitance पैतृकधनकी आय पर ही जीवित रहता है। और कुछ वर्ग वातावरणमेंसे संस्कारोंको खींचकर जीते हैं, परंतु स्वसर्जित अर्थात् अपने अनुभूत संस्कारोंका संग्रह करनेवाला तो कोई विरला ही वर्ग होता है।

यहाँ स्वसर्जित संस्कारोंका शिक्षण पानेकी दिव्य प्रेरणा है। परन्तु जगतके विपुल वातावरणमें रसलेनेवाले और उसीमें रचे पचे रहनेवालें साधकको स्वयं संस्कारमूर्तियां घड सके वह ऐसा कलाकार है, यह भान तब ही होता है कि जब उसे अपनेमें अटल श्रद्धा प्रगट होनेकी भावना हो परंतु जिन साधकोंको केवल प्रश्न करना ही अच्छा लगता है, उनमें यह श्रद्धा कैसे जागृत हो? इसका सरल और उन्नत मार्ग बताते हुए

गुरुदेव बोले

(१) हे साधको! इस ओर देखो; जैसे कोई जलाशय, सम-प्रदेशमें भी अपने स्वरूपमें मस्त रहकर सदा निर्मल जलसे भर-

पूर और प्रवाहको अपनेमें समाविष्ट करके आत्मरक्षण करता है; इसीप्रकार इससंसारमें महर्षिसाधक जो कि महान बुद्धिमान, जागरूक और आरंभशस्त्रोंसे विराम(त्याग)पाएहुए हैं, वे भी इस सत्यका पालन करते हैं और मृत्युका भय किये विना सतत पुरुषार्थ करते रहते हैं(इसका दृष्टांत चित्तमें स्थापन करो)

विशेष—सच्ची समझका फल परिणाममें वैराग्य, त्याग और अनासक्तिमें परिणमता-बदलता है, यह सिद्धांत जितना ठोस है, उतनी ही सच्ची समझ पूर्वक श्रद्धा वादमें ही आती है, यह सिद्धांत भी निश्चित है। यहां जलाशयका दृष्टांत ठीक बैठाया गया है, इसके पीछे बहुतसे हेतु हैं। उसमें उपयुक्त एक एक विशेषण भी उतना ही सहेतुक है। जैसे पवित्रता है, परन्तु उसकी पवित्रता किसी दूसरेसे छूने पर विगडजाने वाली कृत्रिमता नहीं है। सच्ची पवित्रता स्वयं पवित्र रहती है क्योंकि वह प्राकृतिक है। और दूसरे मलको भी पवित्र बना सकती है। यह बात तीनोंकाल में माननीय है।

जलाशयमें जो मिठास है वह देखने मात्रकी पूर्ति नहीं करती, बल्कि हजारों तृषातुरोंकी प्यास मिटानेकी भी उसमें दिव्य शक्ति है। "समभूमि में रहनेवाला जलाशय" ऐसा जलाशयका जो विशेषण लगाया गया है, इसमें यह भाव है कि:—जलाशग स्वयं और सब स्थलभूमि अर्थात् अपनेसे विजातीय भूमिके बीचमें होते हुए भी अपने चारों ओरके किनारोंकी मर्यादा को सुरक्षित रखकर प्यार Caress कर रहा है। इतना ही नहीं बल्कि स्वयं अपने स्वरूपमें निर्मलतामें मस्त रहकर मौज ले रहा है, ऐसी सूचना है। इतनी सार संभाल रखते हुए भी यदि बाहरसे कोई आक्रमण आजाय, तो उसे जीतनेकी उसमें गम्भीर एवं अमोघ शक्ति है। यदि बाहरकी विजातीय भूमिकी धूल आवे, तो उस पर स्वयं विजय पाकर उसे नीचे दबाकर निर्मलतामें उत्तरोत्तर वृद्धि करता है।

देखो:-जलाशयके आसपास स्थलभूमि होने पर भी उसके प्रति द्वेप या घृणा न होकर वल्कि कितना और कैसा औदार्य रखता है !अनेक दृश्य उसके पास होते हुए भी वह कितना अनासक्त और स्वस्वरूप मग्नहै ! इतनी योग्यता होते हुए वह कितना जागृत है ! वल्कि यह सव उसके आत्म-विश्वासके वाद ही उसमें आ पाया है,यह वात भूल न जाना चाहिए । दूसरे के साथ रहते हुए या दूसरेको अवकाश देते हुए"जो कुछ मेरा है उसे कोई छीन न लेगा, और छीन लेने जैसे होगा वह मेरा नहीं है, तव फिर चिंता क्या ?" इतनी प्रतीति होने पर ही यह योग्यता प्रगट होती है ।

जलाशयकी तरह विवेकी, जागृति और आरंभक्रियासे पर होनेवाला महर्पि पुरुप भी ऐसी ही सहज उदारता, सहज अनासक्ति और स्वरूप-मग्नता रख सकता है । हजारों पातकी उसकी ज्ञानगंगामें पवित्र हो सकते हैं । जो लोग जगतकी दृष्टि से अधम; नीच, नास्तिक,पापी या मिथ्यात्वी देखे जानेवाले हैं,वे भी उनके दृष्टिकोणमें ऐसे नहीं दिखते । उनकेलिए तो सोना और पत्थर दोनों समान होते हैं । उनमेंसे किसी एक पर भी उनकी दृष्टि लुभाती या आकृष्ट नहीं होती । इन्हें एकान्त अतिप्रिय होता है । तो भी जनताका खलवलाहट उन्हें क्षुब्ध नहीं करता । वे ज्ञानके इतने बड़े भण्डार होते हैं, कि इनके ज्ञानकी मिठास हजारों आदमी चखते हैं । फिर नित्य नवीन जनके संसर्गसे अपने अनुभवको ठोस वनानेकी उनकी जिज्ञासा ताजी ही रहती है । वे पारससे भी अधिक उदार होते हैं । इनका संसर्ग पापीको भी संतके रूपमें वदलदेता है । ये पुण्यके पुंजके समान हैं । इनका सम्पर्क या संगति ही सारे जगतको पवित्र करती है । इन्हें मरनेकी लेशमात्र भी पर्वाह नहीं होती । ये पुरुप स्वयं मुक्तिकी ओर ले जानेवाले मार्गको तय करते रहते हैं और दूसरोंको भी प्रेरणा देते हैं । तथापि "जगत पर हम उपकार करते हैं,ऐसा उन्हें भान या गुमान नहीं होता ।"

यहां आत्मविश्वास और प्राकृतिक नियमके आधीन होकर वहनेवाले जीवनका सुमेल चित्र दिया है । ऐसा जीवन महर्पिसाधकका तो सहज होता है । दूसरे साधक इसरीतिसे द्रह(जलाशय)और महर्पिके दृष्टान्तसे

बोध पाठ लेकर अपने जीवनको शिक्षित करें,सूत्रकारके कहनेका भी यही आशय है।

(२) हे जंबू ! जो साधक इस मार्गकी यथार्थताको जान कर और उसमें प्रवेश कर जानेके वाद "फल होगा या नहीं" घड़ी घड़ी ऐसा संशय रखता है, उस साधकको साधनामें उद्यमवान रहते हुए भी समाधि प्राप्त नहीं होती।

विशेष—इस सूत्रमें कहा गया है, कि ऊपर वताया गया मार्ग अनुभवी पुरुषोंको वताया हुआ निश्चित मार्ग है, इसमें संयम न करते हुए श्रद्धाका पाठ सीखो; क्योंकि श्रद्धाके विना ज्ञान नहीं, और ज्ञानके विना समाधि नहीं। यों तो सव मानसिक समाधिके इच्छुक हैं, परन्तु ज्ञानके विना वह नहीं आती। इसलिए ज्ञानपूर्वक श्रद्धाका मार्ग सवको सीखना पड़ेगा। श्रद्धा अनुभूत पुरुषोंका अनुभव होता है। शास्त्रीय वचन और अपनी सत्यशोधक वुद्धि इन तीनोंका समन्वय होनेके वाद सत्कार्यके पीछे पुरुषार्थ करनेके अटल निश्चयको श्रद्धा कहा है। श्रद्धामें विवेकवुद्धि तथा हृदय इन दोनोंको अवकाश है। जहां तक इन तीनोंका सुमेल नहीं होता वहां तक अंधश्रद्धा या अश्रद्धा अवश्य होगी। एक छोटेसे कामके पीछे भी जहां श्रद्धा नहीं है, वहां वह काम प्राणहीन निश्चेतन खोखा सा वना रहता है।

श्रद्धा प्रत्येक कार्यका प्राण है, नीरससे नीरस काममें भी श्रद्धाका रस वहाया जाता है। सौंदर्यकी सौरभ फैलाई जाती है। यह रस किसे पसन्द न होगा ? परन्तु आदमीके हृदयमें एक ऐसा तत्व भी होता है,कि जो उसे ऐसा करते हुए श्रद्धालु वननेमें रोकता है। शायद श्रद्धा रक्खूंगा तो कुछ गवां वैठूंगा, ऐसी चिंतामें पड़ता है, परन्तु "कोई भी क्रिया फल रहित नहीं होती" इस प्रकृतिके अटल सिद्धान्तमें शंका होना ही अज्ञान है, इसे विचिकित्सा अथवा दूसरे शब्दोंमें विकल्प कहते हैं।

जितना एक खनिजसे लगाकर वनस्पति या कीड़ी, दीमक, भौंरा या

पशुओंको नैसर्गिक शक्तिपर भरोसा है(यद्यपि यह पराधीन विश्वास है)उतना आदमीमें नहीं देखा जाता। इसका मुख्यकारण फल पर शंका करना है।

मनुष्यको अंतःकरणका विकास और बुद्धि ये दोनों तत्व इतर प्राणि-संसारसे विशेषरूपसे मिले हैं। इसलिए इसे स्वाधीन होकर नैसर्गिक नियमके साथ अनुकूल होना चाहिए। उन साधनोंसे सबको संस्कृत होना उचित है। फिर भी मानव जातिका अधिकांश भाग उन साधनोंसे अधिका-धिक विकृत होता जा रहा है। इसका कारण भी मुख्यतया इस जातिकी वृत्ति ही है। संग्रहवृद्धि, लालसा, चित्तका रोना पीटना; इससे ऐसी ऐसी बड़ी बड़ी विपत्तियाँ पैदा होती हैं। इस तरहका विकल्प कुछ साधारण दुर्गुण नहीं है बल्कि प्रत्येक क्षेत्रमें विव्हलता, चंचलता, भय और लोभ उत्पन्न करनेवाले भयंकर दुर्गुण हैं। यह प्रायः ऐसे विकल्पोंसे ही होता है। इसलिए अनुभवी पुरुष कहते हैं, कि यदि विचिकित्साको साथ लेकर सुख या शांति ढूंढने निकले तो कभी सुख नहीं मिल सकता।

परंतु इतना कुछ जानने समझनेसे यह दूर हो जायगा, या ऐसा विकल्प उठना तो मनका एक स्वाभाविक और स्वतंत्र गुण है उसे कैसे दूर किया जा सकता है ऐसा मानकर कोई इस ओर लापर्वाह न रहे।

यह विकल्प वृत्तिका एक प्रकारका स्पंदन(कंपन)है। ठीक मनोद्रव्य की एक क्रिया है, परन्तु फिर भी अनिवार्य तो है ही। इसलिए मनमें उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंको विवेक बुद्धि द्वारा समाधान करके उन्हें शांत करनेका प्रयास करना चाहिए।

जो साधक विकल्पोंका शमन न करके उन्हें अधिक वेग देता है उनका मन उतना ही उग्र और चंचल हो जाता है। उनकी स्मृति भी शुद्ध नहीं रहती। इसीसे वे उपयोग भ्रष्ट होकर निमित्त मिलने पर दंभ, अभिमान, क्रोध और ऐसे अनेक तामसी गुणोंकी ओर खिचे चले जाते हैं, भला ऐसा साधक शांति कैसे पा सके?

विकल्पवान प्रत्येक स्थल पर शंकाशील होनेसे किसी भी प्रकारकी प्रगतिकी साधना नहीं कर सकता। यहां यह कह देना भी उचित है, कि विकल्पोंको बहुतसे अज्ञानी साधक विचार या चिन्तन मानते हैं। यह उनका महानभ्रम है। विचार और चिन्तनमें तो निर्णय होता है, किंतु विकल्पोंमें निर्णय नहीं होता। विकल्पवान साधक उलझे. हुए सूत्रको सुलझाने जाय तो वह अधिक उलझ जाता है। और ऐसे विकल्पोंसे मानसिक रोगोंके भी अतिशीघ्र पीछे पड़ जानेकी संभावना है।

(३) महापुरुषोंके गंभीर वचनोंको बहुतसे मुनिदेव समझ कर उनका अनुसरण करते हैं और बहुतसे गृहस्थ गृहस्थजीवन-में रहते हुए भी अनुकरण कर सकते हैं। और ऐसे प्रसंगमें यदि कोई साधक (अपने कर्मोदयसे) तत्वदर्शी पुरुषोंके साथ रह कर भी उसे न समझ सकनेके कारण आचरणमें न ला सके, तो उसे खेद कैसे न हो ? अवश्य होता ही है। परन्तु (ऐसे प्रसंगमें उस साधकको दूसरे विचक्षण साधक ठिकाने पर लाने-केलिए कहना चाहें कि आत्मबंधु!) जिनवरदेवोंने (स्वानुभवसे) जो कुछ कहा है, वह विना शंकाके सत्य है। इसप्रकार विचार करनेसे उसमें महापुरुषोंकी आज्ञाको आराधित करनेकी श्रद्धा प्रगट हो सकती है।

विशेष—यह बताया गया है, कि गृहस्थ भी अनुभवी पुरुषोंके वाक्योंका अनुसरण करते हैं। उस प्रकार त्यागी साधक और गृहस्थ दोनोंका उल्लेख करके यह कथन किसी एककेलिए नहीं है, ऐसा सूत्रकार का कथन है। आप्तपुरुष यदि किसी एक को संबोधन करके कहें तब भी उसका कथन सारे जगतसे ही संबंध रखता है। यह वास्तविकता है, क्योंकि व्यक्ति और विश्वके संबंधका उन्हें पूर्णज्ञान होनेसे वे किसी एक के न रहकर सारे जगतके बन गए हैं। और इससे उनके प्रत्येक पदसे

विश्वके प्रत्येक योग्य व्यक्तिको सहज प्रेरणा मिलती है।

इसरीतिसे जो अनुभवी पुरुषोंके निकटमें नहीं है, वे भी दर्शन, वाणी या आंदोलनोंसे वहां महापुरुषोंके प्रति श्रद्धा द्वारा अपना आगामी जीवन ऊंचा बना सकते हैं। तब यदि साधक महापुरुषोंके पास रहते हुए,उनका सेवक या शिष्य दूसरेकी दृष्टिसे देखते हुए,स्वयं विश्वास न पा सकता हो, आधीन न बन सकता हो, आधीन होनेकी इच्छा होने पर वैसा ही आचरण न कर सकता हो, तब ऐसे योग्य साधकको दुःख होना स्वाभाविक ही है। परन्तु ऐसी स्थितिमें भी वह निराश न हो जाय, यहां सूत्रकार यही कहना चाहते हैं, क्योंकि विकल्पवानको निराशा अधिक पीड़ित करती है। इसलिए जीवनमें आशा और उत्साहके सूत्र पूरकर यह साधक इस तरह सोच विचार करे कि "जिनेश्वर–आत्मविजेता जो कुछ कहते हैं, उसका सत्य होना स्वाभाविक है; और सत्य तो वही कहलाता है जिसमें शंकाको स्थान न हो।" इसप्रकारका चिन्तन किसी न किसी कालमें सुयोग्य साधकको सत्यके ऊपर श्रद्धाको उत्पन्न कराता है।

जहां विकल्प होता है, वहां किसी तत्वका होना संभव नहीं। तब श्रद्धाका होना तो नितांत असंभव है अर्थात् विकल्पवाली स्थितिसे श्रद्धा संभव नहीं, परन्तु श्रद्धा न होनेके कारण बाहरके वातावरणमें खोजनेका प्रयत्न किया जाता है, इसीमें भूल है। मनसे विकल्प चले जानेकेबाद प्रतीतिका होना कठिन नहीं। क्योंकि प्रत्येक आदमी अपने आसपासके बननेवाले सहज घटनाकांडोंके बीचमें प्रकृतिके नियमकी सफलता खोज सकते हैं। इतना बतानेके बाद यह सब अंतःकरणसे विचारना चाहिए। और बिना अंतःकरणसे विचारे अर्थात् श्रद्धा आए बिना छुटकारा कहां ?

(४) जंबू ! महापुरुषों द्वारा वस्तुके स्वरूपको समझकर श्रद्धालु होनेवाले बहुतसे मुनिसाधक त्याग ग्रहण करते समय "जिनभाषित ही सत्य है" ऐसा ठीक मानते हैं, परन्तु उनमेंसे

वहुतसे तो अन्त तक ऐसा विश्वास टिकाकर रख सकते हैं। कितने ही आदमी पहले श्रद्धालु होते हैं,परन्तु पीछेसे संशयशील वन जाते हैं। वहुतसे आरम्भमें दृढ़ विश्वासी नहीं होते, परन्तु वादमें अनुभवसे टकराकर शुद्ध श्रद्धावान वन जाते हैं। और वहुतसे कदाग्रही जीव तो पहले या पीछें वैसे ही अश्रद्धालु वने रहते हैं। जिस साधककी श्रद्धा पवित्र है, उसे सम्यक् या असम्यक् पथ दिखानेवाले तत्व सम्यक्रूपसे परिणमते हैं।

विशेष—यहां श्रद्धाके चार वर्ग वनाकर सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि कई वार साधक अपने मनपर वलात् श्रद्धाका आरोप लगानेकी चेष्टा करते हैं। और कुछ समय उन्हें लगता है, कि मैं श्रद्धालु हो गया हूं, परन्तु ऐसे साधककी श्रद्धा सांगोपांग टिककर नहीं रहती। दूसरेके कहने या वाहरके दिखाव, आकर्षण, राग, मोह या वासनासे जो श्रद्धा आती है, वह वास्तवमें सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

श्रद्धा गुणसे पैदा होती है और गुणका संवंध अंतःकरणसे है। श्रद्धाका स्थान मुख्यतया हृदयसे है। यह किसी आवेश या मनोभावसे न आकर सद्वुद्धिसे आती है। ऐसी श्रद्धा कभी नष्ट नहीं होती। श्रद्धाका इच्छुक साधक प्रत्येक पदार्थके आकारको मात्र दृष्टिसे न देखकर पदार्थोंके गुणों पर दृष्टि डालना सीखता है। पदार्थ मात्रमें सद्गुणोंका अंश होता है। उसीको लेकर वह उन्नत वनता है।

यहां सूत्रकार एक दूसरी वात यह कहते हैं, कि जिसकी विवेकवुद्धि गुणदोषोंमें हंसकी तरह केवल गुण ही ग्रहण कर सकती है, अभी इतनी विशद न हुई हो,वे यदि विकल्पमें न उलझें तो उनकी वुद्धि कुछ देरमें शीघ्र संपूर्ण निर्णयात्मक वनकर श्रद्धाको परिपक्व वना सकती है। परन्तु जो लोग केवल विकल्पोंकी गड़वड़में ही लोटते रहते हैं। ऐसे साधक तो पहले या पीछे भी अश्रद्धालु ही रहते हैं। तात्पर्य यह है कि विकल्पोंको एक या दूसरी रीतिसे दूर किये विना छुटकारा नहीं। उलटे मार्गसे जानेवालेकी

अपेक्षा खड़ा रहनेवाला आदमी अधिक समीप है ऐसी लोकोक्ति है, परन्तु यह ठीक नहीं है। विकल्पवानको गति करते देखा है तो भी वह गति ऊंघनेवाले स्वप्न भ्रमके समान हैं। सच्ची गति ही नहीं है, यह कहा जा सकता है। परन्तु निर्णयकी खोज करनेवाला चाहे चलता दिखाई नहीं देता, तथापि आंतरिक रीतिसे गतिमान है। उसकी गति अदृष्ट होनेपर भी सच्ची है।

(५) परंतु यदि साधककी श्रद्धा ही अपवित्र है, तो उसे सम्यक् या असम्यक् दोनों वस्तु (असम्यक् विचारके कारण) इस (असत्य) रूपसे ही परिणमित होती है।

विशेष—ऊपरके कथनसे यह सिद्ध होता है, सच्चा या झूठा निर्णय तुरंत स्वीकार करनेकी अपेक्षा, निर्णय चाहे देरमें हो तब भी सच्चा ही निर्णय करना, यही उत्तम सिद्धांत है। और साधकको सूत्रकार कहते हैं, कि बंधु! मौन को भज। तेरी शक्ति और अनुभवसे यह विषय परे है। अभी जिसे निर्णयका दर्शन न हुआ हो, वह शुद्ध निर्णय कैसे कर सकता है? और निर्णयकी सिद्धिके विना सिद्धांत कैसा? इसलिए यहां जो कुछ कहा गया है, उस पर ही लक्ष्य दे। अपने अनुभव या कल्पनाको एक ओर रख और इस विषयकी फिरसे परीक्षा कर।

"जिसकी श्रद्धा पवित्र है" इस वाक्यमें तो सूत्रकार विलक्षण बात कह गए हैं। श्रद्धा यहां आशयके अर्थमें है। जिसका आशय शुद्ध है, उसे सत्य या असत्यकी कुछ चिंता नहीं होती। वह तो असत्यको भी सत्यके रूपमें बदल देता है।

यह बात बड़ी विचित्र है, यह पूर्ण अनुभवके विना समझमें नहीं आ सकती। इसका संक्षेपमें यह सार है कि:—साधक सत्यासत्यकी बाह्य उधेड़बुनमें न पड़ता हुआ, केवल आशयकी पवित्रतापर अधिक लक्ष्य देना ही उसे योग्य लगता है, क्योंकि साधकदशामें रहा हुआ मनुष्य सत्यासत्य को अपनी दृष्टिसे ही मापता हैं। इससे कईबार ऐसा भी होता है कि जो

इसकी दृष्टिमें असत्य दिखता है वह सत्य होता है और जो सत्य दिखता है वह असत्य होता है। सारांश यह है, कि सच या झूठ ये उसकी अपनी दृष्टिसे सापेक्ष हैं। निश्चित सत्यको तो पूर्णज्ञानकी दृष्टि ही तोल सकती है। इस तोलके मापको निकालनेकी दूसरेके पलड़ेमें शक्ति न हुई न हो सकती है। फिर भी सारे जगतको न्याय दे डालनेकेलिए मानो स्वयंको न्यायांधीशके रूपमें भेजा हैं, उसीप्रकार आदमी दूसरेके गुणदोषोंको देखा करता है। इतना ही नहीं वल्कि उपलक SUPERNUMERARY दृष्टिसे देखा न देखा, और न्याय दे डालनेकेलिए टपक पड़े।

इसका अर्थ यह नहीं है, कि सत्य या असत्यको साधक खोज किए विना ही हांक देता है। भावार्थ यह है, कि पहले स्वयं अपनी ओर ही देखे। जगतको देखना हो तो वह भी अपनेलिए न कि दूसरेकेलिए। जो अपनेको देखता है, वही जगतमें से सार प्राप्त कर सकता है। सारांश यह है कि साधक जगतके गुण-दोष देखना छोड़कर अपनी अन्तर शुद्धि करे। जगत तो आरसी या दर्पण है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह मात्र अपना ही प्रतिविम्ब है। जो जैसा होता है, वह जगतमें से वैसा ही देखता और प्राप्त करता है। लालरंगकी शीशीमें पड़ा हुआ सफेद दूध रक्तवर्ण नहीं कहा जा सकता। इसी तरह जिस दृष्टिसे आदमी दूसरेको देखता है, वैसा ही उसे देखता है। ऐसी दृष्टिमें पदार्थ या व्यक्तित्व नहीं दिखाई पड़ता, हाडपिंजर ही दिखता हैं, और वह भी अपनी आंखों पर जैसा चश्मा होता है वैसा ही रंग।

(६) इसलिए साधको! तुम्हारेमें से जिसे ऐसा सत्य-दर्शन हुआ है, उनको होनेवाले और असत्यदृष्टिवाले (विकल्प-वान) साधकोंको सत्य विचारणा करनेकेलिए अपने अनुभवकी किरण फेंककर इसरीतिसे प्रेरित करें कि हे पुरुष! तू सत्यकी ओर मुड़, क्योंकि सत्यकी ओर मुड़नेसे ही इस संसारका अंत आता है। कर्मोंका संपूर्ण क्षय होता है।

विशेष–जो बाहरका सब कुछ असम्यक् है, असत्य है,असुन्दर है, ऐसा मानता है उसका सत्य भी असत्यके रूपमें ही परिणमता है। यह बात स्थिरचित्तसे माननीय हैं। उपलक दृष्टिसे यह गले उतरनेवाली बात नहीं है। तो भी अनुभव सिद्ध है। इसमें भी ऊपरकेसूत्रका ही भाव है। विकल्पों का इस वस्तुके साथ गहरा संबंध है। इसे भूलना न चाहिए। विकल्पोंका मुख्यकारण बहिर्दृष्टि है,जगतके सामने बार बार नज़र डालनेवाला और दूसरेको प्रतिक्षण बुरा कहनेवाला अपने सामने नहीं देखता, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते। जो मात्र बाहरसे जागृत है,वह अन्दरसे जागृत नहीं हो सकता, और यह बात अनुभवसे भी समझी जा सकती है।

यद्यपि ऐसी कोटिमें रहा हुआ साधक भी "मैं जगतको सुधारनेकी भावना सेवन करता हूं" ऐसा मानता है; परन्तु जो बाहरका बिगड़ा हुआ देखता है वह भीतरको नहीं सुधार सकता और गहराईमें भी नहीं उतर सकता। ऐसा साधक केवल झूंठे ढंगसे चित्तको सुलगाता रहता है, और इस स्थितिको विचारोंका रूप दे डालता है, परन्तु ये तो मात्र विकल्प होते हैं। विचारोंका संबंध अन्तरके साथ होनेसे चाहे जहांसे निर्णयको ढूंढकर क्रियात्मक बने बिना वह टिक नहीं सकता। बल्कि विकल्पोंकी गहरी खाईमें पड़ा हुआ साधक निर्णयके किनारे तकको भी नहीं पा सकता अर्थात् क्रियात्मक भी नहीं हो सकता।

यहां दूसरी बात सूत्रकार यह कहते हैं, कि विकल्पोंसे बंधा(रचा पचा)हुआ यानी जिसकी मनोमय सृष्टिमें चलते हुए विकल्पोंकी स्थिति हो गई है, कई बार ऐसे अध्याससे स्वयं छूटना अशक्य हो जाता है, तब ऐसे प्रसंगमें विचारशील साधकको अपने अनुभवकी किरण उसके प्रति अवश्य फेंकनी चाहिए। 'फेंकना' यह वाक्य कहकर इस महापुरुषने विचार के उत्तरदायित्वको बताया है।

जो जितना उच्च होता है, जगतके प्रति उसका उत्तरदायित्व उतना ही अधिक होता हैं। एक सामान्य व्यक्ति भी भूल करता हो, या उलझन

में पड़ गया हो और वह यदि उलझनको सुलझा सके ऐसे श्रद्धेय साधक के पास अपनी वस्तुस्थिति प्रस्तुत करे तो उसे अनुभव या शक्तिको छुपाना उचित नहीं है। जलाशय स्वयं चलकर किसीके घर नहीं जाता वल्कि प्यासा उसके किनारे पर आकर उसका लाभ लेना चाहे तो निस्संकोच ले सकता है अनुभवी साधक भी ऐसे ही उदार होते हैं।

(७) ये अनुभवी फिर यह भी कहते हैं, कि साधक ! श्रद्धावान और गुरुकुलमें रहनेवाले मुनिसाधककी गति और स्थान वड़ा उत्तम है। इसीप्रकार स्वछंदाचारियोंकी गति और स्थिति कैसी अधम है इसे अच्छे प्रकार देखले। यह मार्ग उत्तम है, और यह अधम है, इन दोनों स्थितियोंको परख। आत्मज्ञ जंवू ! ये अनुभवी साधक दूसरे साधकको केवल इस ढंगसे समझानेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु स्वयं वे साधक साथके प्रसंगमें उसकी जैसे अपने आत्मा वालभावमें न खिंच जाय अर्थात् दुराग्रही न वन जाय इतना ध्यान रखते हैं।

विशेष—ऊपरके सूत्रमें 'अनुभवी आदमी अपना अनुभव अर्पण करे' इन शव्दोंका दुरुपयोग न होने पावे,यह निर्णय किया है,क्योंकि अनुभवीकी कोई विशेष मर्यादा या चिन्ह नहीं होता। यदि सव अपनेको अनुभवी मानले और जगतमें हरएक को सम्मति देते फिरें तो ? इसीलिए यहां कहा है कि:-वे अनुभवको विना मांगे नहीं पुरसते, अनुभवी कुछ प्रकृतिकी आधीनताके विना सहज मिल जानेवाली वस्तु नहीं है। इसकेलिए तो महामूल्यवान दान करना पड़ता है।

आत्मविश्वास जागनेके वाद वह अनुभवका रत्न लेनेकी इच्छा करने वाला उतना मूल्य दिये विना भी नहीं ले सकता। और उतना मूल्य देने वालेको भी अनुभवी तो इतना ही कहते हैं कि "इस मार्गका परिणाम यह है,और उस मार्ग का परिणाम यह है,कि जिसे पसन्द करो पकड़लो।"

इतना कहनेपर भी चलना या न चलना उस व्यक्तिकी इच्छा पर निर्भर है। और अनुभवीको अपने दिये हुए अनुभव पर भी कुछ ममत्व नहीं होता। सूत्रकार कहते हैं,कि यदि उसे आग्रह या ममत्व आ जायगा तो उसकी बुद्धि अनुभवसे वंचित रहनेवाले बालकसे भी अधिक बुरी हो जायगी। एक साधक न जानकर भूल करता है,तब दूसरा साधक जानबूझकर भूल करता है। एक अज्ञानी बालक है, दूसरा ज्ञानी बालक है। इसलिए प्रज्ञसाधक ऐसा नहीं करता।

(८) (क्योंकि प्रिय जंबू ! व्यक्ति और विश्वका पूर्ण संबंध है। कई बार साधक दूसरेकी भूल सुधारने जाते हुए स्वयं दूसरी भूलमें पड़जाता है। वैरवृत्ति ईर्ष्या ये सब हिंसा हैं। इसलिए इनका स्पर्श न करना चाहिए और इसकेलिए विचारना चाहिए कि आत्मन् ! जिसके हनन करनेका विचार कर रहा है उसके स्वरूपको अपनी निजकी मतिके अनुसार विचार। तब तुझे पता लगेगा कि तू जिसे मारना चाहता है,वह तू स्वयं ही है, जिसे दुःखी करना नहीं चाहता वह भी स्वयं तू ही है। जिसे पकड़ना चाहता है वह भी तू खुद ही है, और जिसे तू मारना चाहता है वह भी तू स्वयं अपने आप ही है। सचमुच ऐसी ऊंची समझसे सत्पुरुष सब जीवोंके प्रति मैत्रीभाव धारण कर सकते हैं। इसरीतिसे अन्तःकरणपूर्वक विचार करके किसी भी जीवको हनन करना या मारना न चाहिए। क्योंकि दूसरे का हनन करने या मारनेसें उसका परिणाम उसके कर्ताको भी उसी तरह भोगना पड़ता है यह जानकर किसीके मारनेका इरादा तक न करे (इस प्रकार परिणामको भले प्रकार विचारने से) तो वैरवृत्तिका लय हो सकता है।

विशेष—"जिसे मारने, पीडित करने या दूर करने योग्य मानता है वह तू स्वयं ही है।" सूत्रमें यह भाव स्फुट होता है कि जो दूसरे जीवों को मारता है,उसे मानना चाहिए कि वह किसी दूसरेको नहीं मारता वल्कि अपने आपको मार रहा है। क्योंकि विश्वके प्रत्येक प्राणीके साथ उसका अपना संबंध है। वृत्तिमें हिंसा घुसी कि आत्मा मारा गया। इन दोनों भावनाओंमेंसे यह सार निकलता है, कि किसी भी प्राणीको दुःख देनेका या दुःख हो ऐसा विचारनेका अधिकार नहीं है। यह बात स्थूल हिंसाकी दृष्टिसे हुई, यहां तो इससे भी अधिक गहराई में जाकर विचारने की बात है।

विचिकित्सा या विकल्पवानको जगतके प्रति अविश्वास होनेसे विकल्पोंके द्वारा या भावनाके द्वारा वह अनेक प्रकार की हिंसा करता होता है। दूसरे उसे दुष्ट मानना भी हिंसा ही है। मद विषय, कषाय, ईर्ष्या और द्रोह ये सब हिंसाभावनाके रूप हैं। इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि तुझे जो कुछ वाह्य जगतमें बुरा लगता है, उसे दूर करना चाहता है, और जिसे मारने योग्य मानता है, उसके कारणभूत वे नहीं वल्कि तू है।

तू अर्थात् वहिरात्मस्वरूपमें आत्माको मानकर अनेक प्रवृत्ति करता है। वहिरात्मभाव ही विकल्प और उसके द्वारा हिंसाभावनाकी प्रेरणा करता है। इसीलिए यहां कहा है कि:-आज तू और हिंसाप्रवृत्ति एक हो गए हो। इसीलिए तू अपनेको मार डाल अर्थात् तू अपनेपनको भूल जा। विकल्पका लय कब होता है? और श्रद्धा कब प्रगट होती है? इसके उत्तरमें दिया गया या वताया गया यह अद्वितीय और सरल उपाय है।

कई वार साधकको ऐसा लगता है कि मैं यदि अपने को भूल जाऊं तो फिर रहा क्या? सूत्रकार महात्मा यह विश्वास दिलाकर कहते हैं कि:-इसमें डरनेका कोई कारण नहीं है। तू जिसे भूल जायगा वह तू स्वयं नहीं है। केवल "यह मैं हूं, यह मैं हूं" इसपर अहंपनका तू

बलपूर्वक आरोप किया है। परन्तु वास्तविक रीतिसे जिसके द्वारा जिसप्रकारका भान होता है वहा तू है "शायद मैं अपने व्यक्तित्वको और अपनेको भूल न जाऊं !" इस तरहका जो फिरसे भान होता है वही तू स्वयं है। अर्थात् अपने व्यक्तित्वको भूलते हुए शायद मैं अपनेको भूलूं, ऐसा भय रखनेका कोई कारण नहीं है। असल बात तो यह है, कि व्यक्तित्व भुलायेसे भूला नहीं जाता। और जो भुलाया जा सके वह व्यक्तित्व नहीं। यह तो केवल शरीरादि पर आरोपित किया हुआ अहमत्व जिसे कि अभिमान कहा जाता है, है। इसका नाश करना अभीष्ट है। इसीसे आत्माका विकास है। यह कह कर यहां आत्माका प्रत्यक्ष स्वरूप वर्णित शब्दमें इससे अधिक क्या आ सकता है ?

(६) जो आत्मा है वही विज्ञाता है, और जो विज्ञानका दृष्टा है वही आत्मा है। अथवा जो ज्ञानके द्वारा जान सकता है, वह ज्ञान ही आत्माका गुण है। और इस ज्ञानको लेकर ही हमें आत्माकी प्रतीति होतो है। इस तरह ज्ञान और आत्माके पारस्परिक संबंधको जो आदमी यथार्थरीतिसे जानते हैं, वेही सच्चे आत्मवादी हैं। और ऐसे साधकोंका अनुष्ठान ही यथार्थ हैं। ज्ञानी पुरुषोंने यह बात कही है।

विशेष—"जो विज्ञाता है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही विज्ञाता है" यह कह कर यहां सूत्रकार महात्माने आत्मस्वरूपका ज्ञान कब होता है उसका क्रम बताया है। विकल्पके चले जानेपर श्रद्धा उत्पन्न होती है, श्रद्धासे ज्ञान होता है। और ज्ञान होने पर विज्ञान हाथ लगाता है। उस ज्ञानका दृष्टा ही विज्ञाता है। इसे ही लोकभाषामें आत्मा कहते हैं।

विकल्पके लय होनेसे आवेश और वितर्क दोनों समाप्त हो जाते हैं अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों शुद्ध परिशुद्ध हो जाते हैं। बुद्धि और हृदय की शुद्धि के बाद श्रद्धा जाग उठती है, और शरीर, प्राण तथा बुद्धिके

कामोंकी भिन्नता और हेतु स्पष्ट दिखजाने पर चित्तपर प्रभावित होकर संस्कार स्वयं बदल जाते हैं, तथा पूर्व(पहले)के अभ्यास और पूर्वदृष्टिकोणोंका सहजमें शमन होता है। एवं अद्भुत भावनाकी भूमिका अवश्य प्रगट होती है। इस भूमिकामें भूलोंका मूलकारण सहजमें शोधा जाता है। इसे ही शास्त्रीयभाषामें विज्ञान कहते हैं। और वहां जिसका दृष्टत्व भान रहे वह आत्मा कहलाता है।

इससे यह परिज्ञात हुआ कि विज्ञानवादी और आत्मवादी एक हैं। जो विज्ञान स्वभाव या आत्माकी ओर खींचकर ले जाय वही विज्ञान। परन्तु यदि विज्ञानसे या विज्ञानके साधनोंसे परभावकी ओर खिचाव होता हो या जिसका परभावमें उपयोग होता हो, वह विज्ञान नहीं, बल्कि विज्ञानोभास है। विज्ञानका यौगिक अर्थ यह है। वि=विशेष और=ज्ञान जानना; अर्थात् ऊपर जो कुछ जाना जाता है वह नहीं बल्कि विशेष रूपसे जानना ही विज्ञान है। इसलिए वस्तुविज्ञान विज्ञान नहीं बल्कि वस्तुके धर्मों या गुणोंका ज्ञान विज्ञान है। ऐसा सिद्ध होता है।

धर्मोंका ज्ञान मूलज्ञान-स्वरूपज्ञान है। विज्ञाताको स्वरूपज्ञान होते ही अपने आप बाहरकी दृष्टि आत्माभिमुखी हो जाती है। सारे जगतके ज्ञानका मूल उसे आत्मामें झलकता है और उसीमें मिलता है, जैसे एक विद्यार्थी को एक दो या पच्चीस तक गिनने आते हों तो भी उसे जब तक गणित सीखनेकी मूलकुंजी हाथ न लगे तब तक दूसरे गणित नित्यप्रति सीखने ही पड़ते हैं। इसी भांति इसकी मूलरीति जिस विद्यार्थीको हाथ लग गई हो, उसे फिर प्रमाण गिनने या सीखनेका कष्ट उठाना नहीं पड़ता। इसीतरह विज्ञानके ज्ञाताको जगतकी चाबी मिल जानेसे अखिल विश्वका ज्ञान सहज हो जाता है, फ़िर उसे बाहरके जगड्वालमें पड़ना नहीं पड़ता। सत्यवृत्ति और निवृत्ति यहां सहज बनी रहती है।

उपसंहार—जलाशयकी तरह गंभीर, पवित्र, उदार और

स्वरूपमग्न बनो। जो कुछ मेरा है, उसे जगतकी कोई सत्ता न छीन सकेगी, और यदि कुछ छीन लेने जैसा होगा उसे समझलो कि वह तुम्हारा नहीं है। इतना अटल विश्वास रक्खो।

श्रद्धा विना सच्ची समझ नहीं आती, समझ विना शांति या समाधि नहीं होती। सत्यपुरुषोंका अनुभव, आगमवचन और अपनी विवेकबुद्धि इन तीनोंका समन्वय होनेके वाद सत्यकी प्राप्तिकेलिए पुरुषार्थ करनेका अटल निश्चय जाग जाय वही श्रद्धा है।

मानसिक वेदनाओंका मूल विकल्पोंमें है, विकल्पवान प्रत्येक स्थलपर शंकाशील रहनेसे श्रद्धालु नहीं वन सकता। जो क्रिया श्रद्धा युक्त नहीं है, वह क्रिया प्राणहीन निश्चेतन प्राणहीन कंकालके समान है। श्रद्धाका मुख्यस्थान हृदय है। तव विकल्पोंका स्थान वाह्यमन है। यह विकल्प श्रद्धाका महान आवरण है। जिसकी श्रद्धा पवित्र है, उसका असम्यग् भी सम्यग्रूपमें वदल जाता है।

जो वाहर जागता है, वह अन्दरसे नहीं जाग सकता। अनुभवका मूल्य वहुत बड़ा है। कोई मरकर जीनेवाला ही जीवनरत्नाकरमें डुवकी लगाकर अनुभवरूपी रत्न पा सकता है।

किसीने अनुभवके संवंधमें कितने गहरे विचार प्रगट किये हैं :—

"जिह विचारतैं पाय है, मनकौं थिर सुख ठौर।
ताकौं अनुभव जानिए, अनुभव नहीं कछु और॥

'शांतिप्रकाश'

हिंसक पहले स्वयं मारा जाता है, और फिर दूसरे का हनन करता है। वस्तुके धर्मका ज्ञान ही विज्ञान है। यह विज्ञान ही, आत्मज्ञान है।

इसप्रकार कहता हूँ

लोकसार अध्ययनका पांचवां उद्देशक समाप्त।

छठवां उद्देशक

सत्पुरुषोंकी आज्ञाका फल

स्वातन्त्र्य मीमांसा नामक चौथे उद्देशकमें आज्ञाकी ग्राधीनताके संबंधमें बताया गया था। इस छठवें उद्देशकमें ग्राज्ञाकी आराधनाके फलको सूचित किया है।

गुरुदेव बोले

(१) प्रिय जंबू! बहुतसे साधक पुरुपार्थी तो होते हैं परन्तु प्राज्ञाके आराधक नहीं होते। कुछ साधक आज्ञाके आराधक होतेहुए पुरुषार्थी नहीं होते। ये दोनों स्थितियां तुझसे साधकमें न होने पाएँ, यों श्री जिनेश्वरदेवने दर्शाया है।

विशेष--सद्गुरुकी आज्ञाके संबंधमें खूब भ्रम फैला हुआ है, उसका इसमें स्पष्ट अर्थ किया है। "अरे तू जिसे बाहरसे खोजता है, वह बाहर न होकर तुझमें है" अन्तःकरणको ऐसी दृढ़ प्रतीति कराकर पुरुपार्थी बनना है। यही सद्गुरुकी आज्ञा गिनी जाती है। इस मार्गसे विपरीत रीतिसे अर्थात् जो बाहर खोजनेकेलिए प्रयत्न कर रहे हैं; कीर्ति, मान, पूजा, ऋद्धि, सिद्ध या समृद्धिकेलिए सद्गुरुशरण खोज रहे हैं, वे सद्गुरुदेवकी आज्ञामें नहीं हैं, ऐसा मानना चाहिए, और जो साधक बाह्य या आंतरिक, कोई पुरुषार्थ नहीं करते यानी केवल विकल्पमय जीवन बिता रहे हैं, वे भी सद्गुरुदेवकी आज्ञामें नहीं हैं। इन दोनोंमें से एक तो शक्तिका दुरुपयोग करता है, और दूसरा शक्ति होतेहुए भी अशक्त है। ये दोनों स्थितियां साधककेलिए योग्य नहीं हैं। अखंड श्रद्धाके साथ अखंड

पुरुषार्थी भी होना चाहिए। नैसर्गिक जीवन वितानेवाले साधक पर पुरुषार्थी होते हैं। जो सुस्त जीवन विताते हैं, वे यह दावा नहीं व सकते, कि हमारा नैसर्गिक जीवन वीत रहा है।

(२) (जिन्होंने) गुरुदेवके दृष्टिकोणसे देखनेका गुरुदेवव वताई हुई अनासक्तिमें प्रगति करनेका, उनके आदेशका बहुमा करनेका, उनके ऊपर श्रद्धा रखनेका और इसी तरह गुरुकुल वास करनेका अपना ध्येय वनाया है, वे आदमी विजय पाक आत्मदर्शन अवश्य पायेंगे। और जिस आत्मदर्शी पुरुषका म अपने वश में है अर्थात् जिसने मन पर पूरा अधिकार कर लिय है, वह पुरुष किसी भी प्रकारके सुंदर या असुंदर निमित्तों तिरस्कार नहीं पा सकता, और वही समभावी रहसकता है इसलिए वह निरावलंबी रहनेकेलिए संपूर्ण समर्थ है।

विशेष—चित्तके धर्मोंको पूर्णरीतिसे समझकर मन पर स्वामित जमानेके वाद अवलंवनकी आवश्यकता नहीं रहती। सद्गुरुशरण भ इसी हेतुसे है। और यहीं तक उसका मर्यादाक्षेत्र है, यह भी कहा ज सकता है। आत्मदर्शनके वाद मनपर स्वामित्व होनेमें देर नहीं लगती फिर ऐसे साधकको अवलंवनकी आवश्यकता नहीं होती।

(३) पूज्य गुरुदेव! आत्मदर्शन कैसे होता है? इसके उत्तरमें, गुरुदेव समझाते हैं, कि यह आत्मदर्शन जातिस्मरण ज्ञानसे, सर्वज्ञपुरुषोंके अनुभूत उद्गारोंसे या दूसरे आत्मज्ञ महापुरुषोंके मुखसे (तत्वज्ञान) श्रवण करनेआदिसे होता है, इसलिए प्रवादसे प्रवादको जानें।

विशेष—प्रवादको प्रवादसे जानें अर्थात् दर्शनसे दर्शनका ज्ञान प्राप्त करें। इसप्रकारका अर्थ टीकाकार करते हैं, परन्तु यहां अनुभवसे अनुभवको जानें ऐसा सूत्रकारका आशय ठीक वैठालना युक्तिसंगत

गता है। बहुतसे साधक कई बार सद्गुरु या अनुभूति प्राप्त पुरुषोंके
नुभवको अपना अनुभव मानकर स्वानुभव पानेका पुरुषार्थ तो नहीं
रते और कल्पनाके आकाशमें बिना पंख उड़नेका प्रयत्न करते हैं।
थवा कोई साधक सद्गुरुदेवके प्रसादसे सबकुछ मिल जायगा ऐसा
नकर अजागृत(असावधान)रहते हैं। इन दोनों रीतियोंका इससूत्रमें
गा रोध है। वे यों कहते हैं कि दूसरेका अनुभव अपना अनुभव कभी नहीं
गाः सकता। और ऐसे साधक यदि दूसरेके अनुभवका सहारा लेकर यदि
ड़ने लगें तो वे पहली ही बार बिना पंखके पक्षीकी तरह भूमिपर आ
रेंगे। अनुभव भी यही कहता है। कि कल्पनाके मीनारपर चढ़े हुए
ाधक जब रचनात्मक क्रिया द्वारा अनुभवके क्षेत्रमें युज्यमान होते हैं,
ब उन्हें उस मीनारसे नीचे उतर जाना पड़ता है और तब ही उनके
प्रा विकासके मेलकी साध पूरी हो सकती है इनकी क्रिया और भावनाके बीच
होतोकाश और पाताल जितना अन्तर पड़ जानेसे उन्हें विकल्पोंकी चट्टानसे
सा टकराकर भटकना पड़ता है। इसलिए यहां कहा है कि "जो कुछ प्राप्त
रना है स्वयं तुम्हें ही करना है" फिर यह प्रश्न गौण है, कि चाहे तो
स्पष्ट प्रयत्न पूर्वसंस्कारोंकी स्मृद्धिके बीचमें आए हुए वर्तमान आवरणोंको
तुम्हा र करो या नए प्रयत्नों द्वारा करो। पर यह प्रश्न गौण है।

यही (४) इसलिए बुद्धिमान साधक "यह सब अनेक प्रकारसे
अर्थ और सब क्षेत्रोंसे विवेकपूर्वक खोजकर उसमें सत्यको ही जाने
ऋ और स्वीकार करे" इस प्रकारकी अनुभूतिप्राप्त पुरुषोंकी जो
आज्ञा आज्ञा है उसका उल्लंघन न करे।

कोई विशेष—यहां निस्पृही और तत्त्वज्ञ पुरुषोंकेलिए सत्यको स्वीकार
भी करने और जिसमें साधकका एकांत हित है ऐसी बात है। फिर भी
दुरुप विवेकबुद्धिसे उसे गले उतार कर पहले तथ्यको जानकर फिर उसे
स्थि स्वीकार करें ऐसा साधकोंको निर्देश कर बताया है। इससे जैनदर्शनकी
उदारता तो स्पष्ट हो ही जाती है, परन्तु यहां एक सिद्धांत यह भी

फलित होता है कि:-किसीकी आज्ञाके या आग्रहके वश होकर स्वीकार की हुई वस्तु पचाई नहीं जा सकती। अर्थात् जहां तक साधक स्वयं वस्तुस्थिति, क्षेत्र, काल, भाव और अपनी शक्तिकी मर्यादाको समझनेकी विवेक बुद्धिको न जगा सका हो, वहां तक वह स्वीकार करले तो भी उसका परिणाम जितना चाहिए उतना संतोषप्रद नहीं होता ।

(५) (आत्मार्थी जंबूने गुरुदेवसे पूछा कि भगवन् ! जो कुछ आप कहते हैं वह ठीक है, परन्तु जहां अनुभूत पुरुषोंकी उपस्थिति न हो वहां साधक क्या करे ? गुरुदेवनेकहा कि:–) जीवात्मा जिससुखको खोज रहा है, वह आनन्द संयममें है, इसे समझकर प्रत्येक साधक जितेंद्रिय होकर प्रगतिकी साधमें लगे और जहां कठिनाइयां खड़ी होने लगें वहाँ वह मोक्षार्थी और वीर बनकर आगम अर्थात् सर्वज्ञदेवोंके अनुभवजन्य वाक्योंका सहारा लेकर सतत पुरुषार्थी होकर साधनामें डटा रहे इस प्रकार कहता हूं ।

विशेष—इससूत्रमें दो बातोंको सुलझाया गया है। एक तो भोगमें आराम, सुख या आनन्द है, पर यह बात अनुभव शून्य है। दूसरे भोगके संयममें ही आराम है, यह विषय अनुभवसिद्ध होनेसे स्पष्ट है यह कहा है।

यहां संयमको प्रचलित दीक्षाके अर्थमें न ले कर मानसिक संयमके अर्थमें लिया गया है। जिस जिस वस्तुमें आनन्द मिलता दिखता है, वह वस्तु भोगका आनन्द नहीं है, बल्कि वस्तुके पीछे जो परिश्रम किय गया है, जिसे पानेकी उत्सुकता रही है, आनन्द उसका है। भोग तो उलटा इस परिश्रम और आतुरताका आनन्द क्षणमात्रमें लूट लेता है। यह विषय गंभीरतासे विचारने योग्य है। प्रत्येक कार्यके पीछे होनेवाला अनुभव भी यह कहता है, कि इष्टकी प्राप्तिके पुरुषार्थमें जो आनन्द मिलता है वह इष्टकी प्राप्ति होनेके बाद उसस्वरूपमें नहीं मिलता। साहित्यकारोंने इस

बातको अच्छी तरह समझाकर बताया है। हम स्वयं भी ऐसा ही अनुभव नित्यप्रति करते ही रहते हैं तो भी कोई भाग्यसे ही इसघटनाका अन्तः-करणपूर्वक विचार करता होगा, क्योंकि अधिकतर जगत् गतानुगतिक-ताकी पगडंडी पर चलता रहता है। स्वतन्त्र अवलोकन बुद्धिके बिना यह विषय स्पष्टतया नहीं समझा जाता। यह हुई एक बात।

दूसरी बात यह है, कि:-जब अनुभवी पुरुष समीपमें न हों तब उनके वाक्योंको भी उसी तरह स्वीकृतकरके उसमें आनेवाले विकल्पोंका शमन या तर्कोंका समाधान निरंतर जिज्ञासुबुद्धि रखकर ढूंढ लेना चाहिए। बहुतसे आदमी पहले जिज्ञासु होते हैं, परन्तु धीरे धीरे उनका स्थान समाजमें बर्फकी तरह जमता जाता है त्यों त्यों वे बहिर्दृष्टि बनते जाते हैं। और ज्यों ज्यों बाह्य कार्योंकी ओर ढलते हैं, त्यों त्यों उनकी जिज्ञासुबुद्धि हवा हो जाती है। सूत्रकार कहते हैं कि मोक्षार्थी और वीरसाधक हो तो भी उसे अपने पुरुषार्थके योग्य मार्ग है या नहीं इसे विचारनेका अवकाश अपने बुद्धिक्षेत्रमें पहले ही रखलेना चाहिए। आगे सूत्रकार सतत सावधान रहनेके कारण बताते हैं।

(६) अखिल विश्वमें ऊंची, नीची और तिरछी, इन तीन दिशाओं में कर्मबंधके कारण(पापके प्रवाह)रहे हुए हैं। इसलिए जहाँ आसक्ति देखो, वहाँ कर्मबंध होता है, ऐसा जानलें।

विशेष—कोई भी दिशा ऐसी नहीं है, जहां पापका प्रवाह न बहता हो। यह कह कर सूत्रकार यों कहते हैं, कि अमुक स्थितिमें या क्षेत्रमें गये,पीछे कर्मबन्ध नहीं होता, ऐसा न मानना चाहिए, परन्तु यदि ऐसा ही हो, तो मोक्षार्थीकी मुक्ति होना ही असंभव है ? तब इसका उत्तर मिलता है, कि ये प्रवाह ठौर ठौर पर होनेपर भी जिनका चित्त उनको अवकाश नहीं देता यानी जो साधक उस प्रवाहके आनेके द्वारोंको खुले नहीं छोड़ते उनमें उनका प्रवेश नहीं हो सकता। वे तो जहां आसक्ति

है, वहां ही घुसते हैं। अर्थात् इसका सारांश यह है, कि किसी भी भूमिकामें पहुँचा हुआ साधक वृत्तिपर अपना चौकी पहरा रक्खे, असावधान न बन जाय।

(७) शास्त्रोंके जाननेवाला साधक संसारमें रहे हुए घुमावको देखकर दूरसे ही विराम ले।

विशेष—ज्ञानीसाधक विषयोंसे दूर रह कर मर्यादा पूर्वक जीवन विताता है। और अपना अहं अर्थात् आत्मा, यह वाहरसे दिखनेवाले शरीर, इंद्रियां, और मनसे पर है, ऐसा अनुभव करता है; तव कई वार यह स्वयं विषयोंके चक्रमें भी रहकर अनासक्त रह सकेगा, ऐसा मानकर अभिमानसे या भ्रमसे प्रयोग करनेकेलिए प्रेरित होता है। सूत्रकार कहते हैं, कि ऐसा प्रयोग कोई न करे। पूर्वअध्यास केवल कल्पना जालसे दूर नहीं हो जाते। आत्मा निर्लेप है, ऐसी कल्पना कर लेना कुछ कठिन नहीं है, परन्तु जव इन्द्रियोंको विषयोंकी अनुकूलता झांक कर देखती (मिलती) हैं, और पूर्व अध्यासोंका चित्तपर पूर्ण प्रभाव छा जाता है, तव आत्माको निर्मल रखना कितना कठिन हो जाता है यह तो अनुभवसे ही कहा जा सकता है। कल्पना और अनुभवके वीचमें महान भेद है, वह पूर्ण ध्यान देकर विचारने योग्य है। संसारके विषयोंको लहरोंकी मालाकी उपमा देकर कहा गया है, कि इनसे सदा दूर रहे।

प्रयोगोंका आग्रह ही होता है तव वहां वृत्तिमें अथाह अहंकारकारक वासनाका जोर होता है। साथ ही जिस साधकको आत्मभान नहीं है, उसीपर ऐसे वैभाविक तत्वोंका प्रभाव छाया रहता है। इसलिए ऐसा साधक प्रयोग दृष्टिसे उसमें लग जाय, तो पतित हो जाता है; और जिस साधकको आत्मभान हो गया है, उसे तो विषयोंकी ओर मोह ही नहीं, उसकेलिए निषेधकी आवश्यकता नहीं होती।

(८) क्योंकि इसप्रवाहको आते हुए रोका जाय, कर्मबंधसे मुक्त होनेकेलिए जो पुरुष अभिनिष्क्रमण (त्यागमार्ग) अंगीकार

करते हैं, वे महापुरुष अनासक्त बन जाते हैं, (बीचमें ही शिष्य पूछता है कि गुरुदेव ! अनासक्तिकी पराकाष्ठाका प्रमाण क्या है? गुरुदेव कहते हैं कि:—) अनासक्त साधककी प्रतीति यह है, कि वह अकर्मी होकर रहता है, दृष्टारूप बना रहता है, वह सब कुछ जानता है, और देखता है, परन्तु किसी भी फलकी वांछा नहीं करता। अनासक्त साधकका कोई भी कर्म वांछा-पूर्वक नहीं होता, क्योंकि वह संसारके गमनागमनके स्वरूपको भलीप्रकार जानता है। इसलिए जन्ममरणरूप संसारके चक्रवालमें न फंसकर वह अपने निजीस्वरूपमें मगन रहता है।

विशेष—इससूत्रमें त्यागका उद्देश और उसकी अनासक्ति बताई गई है, परन्तु अनासक्तिके बहाने आसक्तिको पोषण करनेकी संभावना नहीं रहती। ऐसा स्पष्टीकरण भी साथ ही कर दिया गया है। अनासक्त साधक सबकुछ देखता और जानता जरूर है, परन्तु मोहके आकर्षणके वश नहीं होता। क्योंकि मुग्ध आकर्षित करनेवाला तत्व जिसको वासनाका बीज कहा है, वह इसमें नहीं होता। इसकी सब क्रियाएं स्वाभाविक होनेके कारण वह अकर्मी समझा जाता है; क्योंकि कर्मबंधके कारणका नाश होनेसे कर्म करते हुए भी उसे बंध नहीं होता। कर्मबंधके मूलकारणका नाश होनेपर फिर केवल आत्मरमणताका स्वाभाविक प्रभाव रहता है। इसप्रकार जो शरीर इसके विकासकेलिए केवल साधनरूप था वह भी विकासकी पराकाष्ठाकी साथ पूरी होनेपर-फिर अपना आत्मिककार्य पूरा होनेपर वह आत्मासे अलग हो जाता है। यह भी स्वाभाविक है। इसतरह इस अकर्मी पुरुषका शरीर पूर्वकृत वेगके पूर्ण होनेपर अलग हो जाता है, फिर आत्मा सहज ही सिद्ध बुद्ध और मुक्त है।

(६) गुरुदेवसे शिष्य प्रश्न करता है:-गुरुदेव ! यह मोक्षको

भूमिकामें गई हुई आत्मा जिसस्थितिमें रहती है, उसके स्वरूप-को बतानेकी कृपा करें। गुरुदेवने कहा कि:-मोक्षार्थी जंबू ! इसस्वरूपका वर्णन करनेकेलिए कोई भी शब्द कहनेमें समर्थ नहीं होते। जहां मति पहुंच नहीं सकती, तर्क दौड़ नहीं सकते और कल्पना उड़ नहीं सकती, वहां का वर्णन कैसा ? प्रिय जंबू ! इतना याद रख, कि उस भूमिकामें सकल कर्मरहित अकेला चैतन्य संपूर्ण ज्ञानमय दशामें विराजमान है।

विशेष—यह स्थिति शब्दवेद्य न होकर अनुभववेद्य है। वाणीका तो यह विषय ही नहीं है। इस सूत्रका यह भाव है कि:—शुद्ध चैतन्य मुक्तदशाका जो आनन्द भोगता है वह आनन्द कल्पनासे परे है।

(१०)आसन्नमोक्ष शिष्य! यह मुक्त जीव लंबा,छोटा,गोल, त्रिकोण, चौरस, मंडलाकार, काला, नीला, लाल, पीला, सफेद, सुगंधित,दुर्गन्धित,तीक्ष्ण,काषाय,खट्टा,मीठा,कठोर,सुकुमार,भारी, हलका,ठंडा,गर्म,चिकना,रूखा,शरीरवाला,जन्मधारण करनेवाला, आसक्तिवाला,स्त्रीरूप,पुरुषरूप,नपुंसकरूप नहीं है। बल्कि ज्ञाता और परिज्ञातारूपसे अपनी स्थितिमें विराजमान है।

विशेष—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आकारादि उसमें कुछ नहीं है। अर्थात् जिह्वा द्वारा कहनेके जितने कुछ साधन हैं वे वहां नहीं हैं। वह शुद्ध चैतन्य ज्योतिरूप और मात्र ज्ञानमय बनकर निजानन्द में मस्त रहता है, तथा वह केवल अनुभव गम्य है।

(११) गुरुदेव ! तब इस स्वरूपको किसी उपमा द्वारा समझानेकी कृपा करें। प्रिय जंबू ! कर्ममुक्त चेतनका स्वरूप समझनेकेलिए इस सारे संसारमें कोई ऐसी उपमा ही नहीं

है, क्योंकि वह स्वयं अरूपी स्थितिमें है और उसकी कोई अवस्था भी नहीं है। इसलिए उसके स्वरूपका वर्णन करनेके-लिए किसी भी शब्दको शक्ति या गति है ही नहीं। जिसे मैंने पहले ही कह दिया है।

विशेष—सदा रूपको ही उपमा दी जा सकती है। फिर तद्रूप प्रत्यक्ष दीखनेवाला ऐसा कोई इससे भिन्न दूसरा पदार्थ ही नहीं है। वहां उपमा कैसे दी जा सके ? स्वजातिकी उपमा स्वजातिमें ही दी जाती है। सारांश यह है कि चैतन्यकी उपमा चैतन्यसे ही दी जाती है, क्योंकि वह अद्वितीय है।

(१२) मोक्षप्रिय जंबू! वे मुक्तजीव शब्दरूप नहीं हैं और आकार रूप नहीं हैं, गंधरूप नहीं हैं, या स्पर्शरूप नहीं हैं।

विशेष—जहां कर्मसंबंध नहीं है, इच्छा नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है, रागादि शत्रु नहीं हैं या संसार पुनरागमन नहीं है वह मुक्त दशा है। जहा कर्मसंबंध नहीं होता वहां इच्छा भी नहीं होती। जहां इच्छा नहीं वहां प्रवृत्ति भी नहीं।

सर्वथा इच्छाका न होना ही वीतरागता है। वीतराग पुरुषको संसार या उनके कार्यकारणके साथ कुछ भी संबंध न होनेसे वह संसारी जीवोंका न्यायाधीश नहीं बनता या फिरसे अवतार धारण नहीं करता।

जहां ज्ञान है, चैतन्य है, और तन्मय आनन्द है वहां ही वे ऐसी स्थितिमें रहते हैं।

उपसंहार—सत्पुरुषोंकी आज्ञाके आराधक परमपुरुषार्थी और सच्चे श्रद्धालु होते हैं।

जिसका मन अपने वशमें है वह स्वावलंबी है, वृत्तिपर विजय पाए बिना समता साध्य नहीं होती।

कल्पना और अनुभवके बीचमें बड़ा अन्तर है पदार्थमेंसे

मिलनेवाला आनन्द पदार्थोंके भोगका परिणाम नहीं है, बल्कि पदार्थप्राप्तिके पीछेकी उत्सुकता है और परिश्रमका परिणाम है।

भोग आनन्दको लूटता है, संयम आनन्दको अर्पण करता है।

अनासक्तपुरुष अकर्मी होता है, मुक्तदशा शब्दों द्वारा वर्णनका विषय नहीं है। जो संसारकी आसक्तिको जीत लेता है मानो वह सारको खेंच लेता है। और जो आसक्तिके आधीन हो जाता है, वह सार रहित बनकर संसारमें भटकता रहता है।

इस प्रकार कहता हूं

लोकसार नामक पाँचवां अध्याय समाप्त।

शुद्धिविवेक

अशुद्ध	शुद्ध		
ा	में	६	१८
ंधु	वंधु	१६	५६
ाग्य	भोग्य	१७	६५
ानों	दोनों	२५	६६
साका	उसीका	१७	७२
ग्रर्थ वतें	व्यर्थ वातें	२३	"
व	भाव	१६	८०
ोप्णीय	शीताष्णीय	१	८५
कककरणों	वाधककारणों	१७	६७
ावित	जीवित	२	१०८
ूकिकापर	भूमिकापर	२३	११०
ुच्छ	तुच्छ	२७	"
ूलनेका वात	भूलनेकी वात	२३	११६
ापनेका पुरुपार्थका ग्रौर	अपने पुरुपार्थकी ओर	१०	११७
वृत्त	प्रवृत्ति	११	"
ा	ही	३	१२३
कसा	किसी	१५	१३६
ातकी	प्राणीजातकी	२३	"
[illegible]	अपनी	२०	१४६
	स्त्रीकार	३	१५६
ारणीय	आदरणीय	१४	१५७
भूलोंका	भूलोंकी	४	१७४
त्याभासी	सत्याभास	२६	"
नेवृत्ति	निवृत्त	६	१८२
सद्गुरु	सद्गुरु	१३	१८६
सकटको	संकटको	५	१६०
ावनमें	जीवनमें	२५	१६६
ाणा	वाणी	७	२०६
ाज	वीज	४	२१५
मा	भी	२५	२२६
वहा	वही	२	२४८
जा	जो	१२	१४

समिति को साथ देने की रीति

"श्रीसूत्रागमप्रकाशकसमिति" ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके प्रतिपादित वत्ति आगमोंका सूत्रागम, अर्थागम और उभयागमकी पद्धतिसे प्रकाशित करनेवाल मात्र एक ही अपने समाज की उत्तम संस्था है, समिति का मुख्य उद्देश्य है कि ज्ञातपुत्र महावीर भगवानकी वाणीका १०० भाषाओंमें प्रचार हो। और स्याद्वा सिद्धांतसूर्यकी तेजस्वी किरणोंका प्रकाश अखिल विश्वमें फैले। गत पंचवर्षी योजना द्वारा 'सुत्तागमे' का कार्य विद्युद्वेगसे पूरा हो चुका है। अब "अर्थागम का आरम्भ हो रहा है। 'कल्पसूत्र हिन्दी कविता बद्ध' इसका पहला पुष्प प्रकाशित हो चुका है। 'आचारांग' का अनुवाद परिपूर्ण होकर आपके कर कमल में प्रस्तुत है इसलिए समस्त सहधर्मी महानुभावों से अनुरोध है, कि समिति कार्यको प्रगतिशील बनानेके लिए उदारभावोंसे साथ दें। इसकी सफल साधन स्तम्भ, संरक्षक, सहायक और सदस्य बनकर अनुक्रमसे २०००, १०००, ५० और २०० की आर्थिक सेवा देकर जिनशासनके उत्थानका बीजारोपण कर अनन्त कर्मवर्गणाओंकी निर्जराका लाभ लें। उपरोक्त रीतिसे साथ देनेवाले सहयोगी महानुभाव समितिके आजीवन साथी समझे जायंगे। उन्हें प्रत्येक प्रकाशनकी एक एक प्रति समितिकी ओर से भेंट प्रदान की जायगी।

(नोट) 'सुत्तागम' ३२ सूत्र मूलपाठके रूपमें दो भागोंमें विभक्त हैं यह महाकार्य ग्रन्थ अनुपम पद्धति एवं उच्चशैलीमें अत्यन्त शुद्धतम प्रकाशित हुआ है। श्लोक संख्या ७२,००० है। २६५० पृष्ठों से ग्रन्थमहोदधि श्रुतज्ञान का महाभंडार सा लगता है। १६ पेजी पुस्तक साइज मजबूत बाइंडिग, भीमकाय पुस्तकरत्न लगभग पांचवर्षके महापरिश्रमसे निर्णयसागर प्रेससे छपकर पूर्व सूर्य की तरह जगतीतलमें प्रकाशित हुआ है। पाश्चिमात्यविद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसाकी है। यह अपने ढंगका अनूठा एवं अपूर्व ग्रन्थराज कैंब्रिज, जर्मन, रूस चीन, पैरिस, सिंगापुर, रंगून, बर्मा, सीलोन, न्यूहेवन, बम्बई, कलकत्ता, आगरा मद्रास, पंजाब, नागपुर, बोलपुर-शांतिनिकेतन आदि बहुतसी यूनिवर्सिटियों तथा वहांकी सेंट्रल लाइब्रेरियों में भी शोभित होकर सन्मान पा चुका है। वहांसे प्रशंसापत्र एवं प्रमाणपत्रोंका आना जैन समाजकेलिए महा गौरवका विषय है विद्वान् मुनिराजोंने तो इसकी बेहद प्रशंसा की है। इसका अधिक बखान करना मानो सूर्यको सर्चलाइट दिखानेके समान है। अपने प्रत्येक स्थानमें और 'घरेलू पुस्तकालय' में इसका रखना आवश्यक है। इसे मंगवाकर नित्य स्वाध्याय करके अपने घरके सदस्योंमें सूत्र सिद्धांत एवं जैनदर्शनकी योग्यताका विस्तार एवं ज्ञानाचारकी वृद्धि करें। इसका मूल्य ५०) है। डाक खर्च ५) है। रुपया पहले भेजने वालोंको यह नवनिधि प्राप्त होती है। वी० पी द्वारा भेजनेका नियम नहीं है। [illegible] नहीं दिया जाता। सत्रस्वाध्यायके प्रेमी शीघ्रता करें।